नवरस

लेखक

श्रीयुत बाबू गुलाबराय, एम. ए., एल-एल. बी.
प्राइवेट सेक्रेटरी, छतरपुर-राज्य

प्रकाशक
मन्त्री, आरा नागरी-प्रचारिणी सभा
आरा (बिहार)

द्वितीय संस्करण]   १९३४   [मूल्य [illegible]

समर्पण

जिन

महामहिम महानुभाव के विदेहराजसभोपम राजदरबार में
देश-विदेश से आए हुए विद्वानों की वाक्सुधा-धारा-
निर्झरित शीतल शीकर कणों द्वारा

लेखक के साहित्य-सम्बन्धी ज्ञान का उद्बोधन हुआ

उन्हीं

पुण्यश्लोक विद्याव्यसनी प्रजापरायण परम वैष्णव
प्रमरवंशप्रवर हिज़हाइनेस महाराज राजर्षि

स्व० सर विश्वनाथसिंह जू देव, के. सी. आइ. ई.
छतरपुराधीश

की

गोलोकवासिनी परम अनुकम्पामयी आत्मा की

पुण्य स्मृति में

छतरपुर के ही साहित्योद्यान से संकलित सुरम्य
सौरभमय सुमनों की नवरसमयी श्रद्धाञ्जलि

सादर समर्पित

नागरी-प्रचारिणी सभा
आगरा
दीपावली, १९९०

गुलाबराय

प्रथम संस्करण की
भूमिका

ऐसे लोगों के लिए, जो आलस्य-समाधि-जनित आनन्द में मग्न रहने को ही अपना मुख्य जीवनोद्देश्य समझते हैं, जब तक निरङ्कुश आवश्यकता का तीव्र अंकुश उनकी मृत्यु-तुल्या मोहनिद्रा को भङ्ग न करे, पलक मारना भी महापाप है; फिर उनकी दृष्टि में तो किताब पढ़ना या लेखनी उठाना ऐसा घोरतर पाप है कि उसका तो कहीं प्रायश्चित्त ही नहीं हो सकता। मुझको भी ऐसे ही लोगों की श्रेणी में स्थानापन्न होने का महान् गौरव प्राप्त है। किन्तु नवरसों का विषय इतना चित्ताकर्षक, सुरुचिकर और महत्त्वपूर्ण है कि मुझ सरीखे आलस्य-भक्त को भी इसके जानने की अभिलाषा जागृत हुई। दो-चार काव्य-रस-रसिक अनुभवी पण्डितों से इस विषय के सम्बन्ध में वार्तालाप करने पर निश्चय हुआ कि रीति-ग्रन्थों में जो नवरसों का वर्णन है उसके आधार पर भावों का मनोविज्ञान भली भाँति लिखा जा सकता है। किन्तु लिखा कैसे जावे, जब आलस्य पीछा छोड़े तब तो? आलस्य से अपना पल्ला छुड़ाने के लिये नवम-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वास्ते इस विषय पर एक निबन्ध रचने का वचन दे दिया। सन्मित्र की मैत्री की भाँति "लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्" आलस्य भी बढ़ता ही गया। सम्मेलन के लिये, जैसे-तैसे, नवरसों के विषय पर एक लेख लिखना आरम्भ किया। किन्तु वह आलसियों के मनोरथ की

भाँति ठीक समय पर पूरा न हो सका। सम्मेलन की सेवा में अधूरा ही लेख भेज दिया। फिर कुछ दिन पश्चात् किञ्चित् कर्त्तव्य-बुद्धि जाग उठी। उसी की उत्तेजित प्रेरणा के वशीभूत होकर लेख पूरा कर दिया। पूरा भी अधूरा ही रहा। इसका मुख्य कारण तो आलस्य था ही, पर मुख्यतर कारण विषय-सम्बन्धी अनभिज्ञता थी। जो लोग सदा श्रमशील हैं, उनका अधिक परिश्रम यदि व्यर्थ भी चला जाय तो उनको विशेष दुःख नहीं होता। किन्तु आलसियों को तो अपना थोड़ा परिश्रम भी निष्फल होते नहीं देखा जाता—उन्हें यह विफलता विशेष रूप से अखरती है। अस्तु!

मैंने अपने इस अल्प, किन्तु प्रियतर परिश्रम को दशम दशा से बचाने के निमित्त अपने परम सुहृद्वर सुहृदय साहित्यानुरागी मित्र कुमार देवेन्द्र प्रसाद जैन को अपने लिखे हुए अस्त-व्यस्त पत्रों को, जिन्हें शायद कोई पुरातत्त्वशोधन-विभाग का कुशल कर्मचारी ही पढ़ सकता था, सौंप दिया। उन्होंने हिन्दी के सुलेखक बाबू शिवपूजन सहाय की अमूल्य सहायता से मेरे इस लेख को पुस्तक का सुन्दर रूप दे दिया है। बाबू शिवपूजन सहाय के परिश्रम से मेरे लेख की बहुत सी त्रुटियाँ दूर हो गई हैं और वह परिष्कृत पुस्तक के रूप में प्रस्तुत होकर प्रेमी पाठकों के हाथ में देने योग्य बन गया है। अतएव आशा है कि मेरा यह परिश्रम पाठकों को रुचिकर होगा।

मैनपुरी, (युक्तप्रांत)
माघ-संक्रांति, १९७७

गुलाबराय

द्वितीय संस्करण की

भूमिका

नवरस पहिले पहिल लेख के रूप में लिखा गया था। उसको पुस्तकाकार बनाने में कुछ थोड़े बहुत उदाहरण इधर-उधर से जोड़ दिये गये थे। मुझे यह आशा न थी कि यह मेरी कृति, प्रकाशक तथा लेखक के संतोष के अतिरिक्त हिन्दी-जनता का भी संतोष कर सकेगी; किन्तु इस विषय के उत्तम गद्य-ग्रन्थों के अभाव में "अकरणात् मन्दकरणं श्रेय:" न्याय से हिन्दी की उदार जनता ने इसको यथोचित आदर दिया। इस पुस्तक ने साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा, हिन्दू-विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा और पञ्जाब की रत्न-परीक्षाओं के पाठ्य ग्रन्थों में स्थान पाया। इस गुण-ग्राहकता के लिये लेखक उन संस्थाओं के सञ्चालकों एवं व्यवस्थापकों के प्रति हृदय से आभारी है।

प्रथमावृत्ति की सब प्रतियाँ चुक जाने पर प्रकाशकों ने इसकी द्वितीयावृत्ति के लिये अनुरोध किया। पुस्तक को उसी रूप में द्वितीय संस्करण के निमित्त दे देना कुछ दुष्कर कार्य्य न था; किन्तु इस पुस्तक के प्रति पाठ्य-क्रम में किये जाने की महत्त्वाकांक्षा रख फिर उसको अपरिवर्तित रूप में छोड़ देना परीक्षा-समितियों की उदारता का अनुचित लाभ उठाना होता; इसी भय एवं संकोच से मैंने द्वितीय संस्करण को संवर्द्धित रूप में

निकालने का संकल्प किया। उसी के साथ मुझे भी अपने नवरस-सम्बन्धी ज्ञान के संवर्द्धित संस्करण की आवश्यकता पड़ी। अपने नैसर्गिक आलस्य पर घोर निरंकुशता धारण कर नवरस-सम्बन्धी सामग्री एकत्र कर उसकी सुव्यवस्थित रूप से योजना करना आरम्भ कर दिया। इस योजना में जो सहायता स्थानीय "साहित्य-सेवा-सदन" के सुयोग्य संस्थापक श्रीयुत पण्डित राम-नारायण शर्मा व श्रीयुत पण्डित नारायण गंगाधर करकरे आदि महोदयों से मिली उसके लिये मैं उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन किए बिना नहीं रह सकता हूँ।

जिन पुस्तकों से इस ग्रन्थ में जो अवतरण दिए गए हैं वह कुछ तो मूल ग्रन्थों से हैं और कुछ संग्रह-ग्रन्थों से। अवतरणों के देने में लेखक का मुख्य उद्देश्य उन पर टीका-टिप्पणी करने का नहीं रहा है वरन् उनको अनुकूल स्थिति में रख देने का है, इस हेतु लेखक ने संग्रहकर्ताओं के परिश्रम से लाभ उठाने में संकोच नहीं किया है। इस महती सहायता के निमित्त मैं पुस्तकों के रचयिता तथा प्रकाशकों का विशेष रूप से अनु-गृहीत हूँ।

नवरस का विषय ऐसा है कि जिसके लिये हिन्दी-साहित्य में सामग्री का प्राचुर्य है। प्रत्येक कवि ने प्राचीन परिपाटी के परिपालनार्थ साहित्य के माने हुए अंगों पर थोड़ा-बहुत लिखना अपना धर्म समझा है। लेखक की मौलिकता इसी बात में रह जाती है कि वह उस सामग्री के समूह में से उत्तमोत्तम रत्नों को खोज निकाले एवं उचित व्याख्या तथा भूमिका के साथ उनको पाठकों के सामने ग्राह्य रूप में रख सके। प्राचीन ग्रन्थ प्रायः

पद्य में लिखे गये हैं। उदाहरणों का तो पद्य में देना स्वाभाविक ही था, किन्तु पद्य के अध्ययन में सिद्धान्तों की व्याख्या पूर्ण विकास को नहीं प्राप्त होती। सिद्धान्तों की गद्य में विवेचना करने से उनका पूर्ण महत्त्व प्रकट होता है। लेखक ने इस ग्रन्थ में इस बात का यथाशक्ति उद्योग किया है कि नवरसों के वर्णन में जो गूढ़ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अप्रस्तुत रूप से वर्त्तमान हैं उनका पूर्णतया उद्घाटन कर दिया जावे। भावों और मनोविकारों की शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी व्याख्या करने की थोड़ी-बहुत अनधिकार चेष्टा की है, उसमें मुझको सफलता तो कम हुई है; किन्तु भविष्य के लेखकों के लिये एक नया द्वार खुल गया है। इससे, सम्भव है, नवरस-सम्बन्धी अध्ययन केवल साहित्यिक परिपाटी की पूर्ति मात्र न रह कर हमारे मानसिक संस्थान-सम्बन्धी ज्ञान की खोज और विस्तार में सहायक हो।

यदि नवरस की कुञ्जी से मानव-हृदय में प्रवेश किया जावे तो बहुत से गूढ़ रहस्य हल हो जावेंगे। नवरस का ज्ञान केवल नाटकों तथा उपन्यासों के भीतर छिपे हुए रहस्यों को समझाने में ही सहायक नहीं होगा वरन् चलते-फिरते जीवित संसार की अनेकानेक गूढ़ और रहस्यमयी क्रियाओं की व्याख्या करने में भी समर्थ होगा। भावों के उत्तेजक और उनके सूचक आकार, इंगित तथा चेष्टादि के ज्ञान से मनुष्य बहुत सी दुर्भेद्य स्थितियों का परिज्ञान कर अपने जीवन को सफल बना सकता है।

लोग अभीतक काव्य का विषय बहुत अनुपयोगी समझते हैं और इसी कारण वर्तमान समाज में काव्य का यथोचित आदर नहीं। संसार में जितने झगड़े एवं आपत्तियाँ आती हैं वह केवल

इस कारण से कि एक मनुष्य अपने को दूसरे मनुष्य की स्थिति में नहीं रख सकता है और अपनी ही स्थिति को ठीक मान दूसरों से झगड़ा करने लग जाता है। काव्य तथा नाटकों का अनुशीलन मनुष्य को भिन्न-भिन्न स्थितियों का ज्ञान करा उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति और सहृदयता उत्पन्न कर देता है। सच्चा कवि वही है जो अपने को प्रत्येक परिस्थिति में रख सकता है और उसी दृष्टिकोण से वह संसार को देख सकता है। कालिदास एवं भवभूति आदि की जो प्रशंसा है वह इसी कारण है कि उन्होंने संसार को केवल अपनी दृष्टि से ही नहीं देखा है वरन् सर्व-साधारण की दृष्टि से देखकर उसके वर्णन में सफल हुए हैं। इसी कारण सब लोग उनकी कृतियों में रुचि ले सकते हैं। जो लोग काव्य-ग्रन्थ को पढ़ कर कवि की सी व्यापक दृष्टि बना लेते हैं वे अपने से इतर अंगों की स्थिति का सहज में अनुभव कर सकते हैं और उसी स्थिति से उस मनुष्य की बात का मूल्य निर्धारित कर सकते हैं। ऐसा करने में संघर्षण की मात्रा बहुत कम हो जाती है और जीवन सुखमय बन जाता है। नवरस का ज्ञान हमको कवि की कृतियों को समझाने एवं उसकी व्यापक दृष्टि प्राप्त कराने में सहायक होता है। यद्यपि नवरस-सम्बन्धी बहुत सा ज्ञान केवल रीति तथा आकार से सम्बन्ध रखता है तथापि वह रीति और आकार बहुत सूक्ष्म निरीक्षण का फल है। कवि लोग उसी रीति का पालन करते हैं; और जब तक हम उस रीति को भली भाँति नहीं जानते तब तक उनकी कृतियों में हमको सम्यक् आनन्द नहीं मिलता है। जब कोई कवि किसी विरहिणी स्त्री का मलिन वस्त्र एवं एक-वेणीयुक्त होने का वर्णन

करता है, हमको उसका पूरा आनन्द तब तक नहीं आता जब तक कि हमको यह विशेष रूप से नहीं मालूम हो जाता कि एक वेणी रखना वियोगिनी स्त्री का चिह्न है अथवा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में तभी पूरा आनन्द आता है जब कि हम उनका उद्दीपन रूप देखते हैं और उनके साथ किसी कवि की अनूठी उक्ति अथवा किसी चित्ताकर्षक दृश्य का भी स्मरण हो आता है। वह स्मृति हमारी दृष्टि को और भी तीव्र बना देती है। जब मानव भावों के साथ प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया जाता है तब उनमें एक अपूर्व आनन्द आने लगता है। कविता द्वारा जड़ और चेतन संसार का मानव-हृदय के भावमय सूत्र में एकत्रीकरण हो जाता है। कवि केवल आँख से ही नहीं देखता वरन् वह हृदय से भी देखता है। उसके दृश्य की अचल शान्ति में संघर्षणमय दृश्य भी अपना भीषण आकार छोड़ कर सौम्य रूप धारण कर लेते हैं। फिर उनको हम बिना किसी कष्ट के अध्ययन कर सकते हैं। केवल उनका अध्ययन ही नहीं करते वरन् उनका आन्तरिक भाव जानने में समर्थ हो जाते हैं। कवि की हृत्तंत्री विश्व के संगीत से झंकृत हो सृष्टि के अन्तर्साम्य का परिचय देने लगती है। कवि को अपने निर्मल हृदय में संसार प्रतिबिम्बित दिखाई देने लगता है। काव्य का ज्ञान कवि के हृदय का परिचय करा उसके द्वारा सारे संसार के अन्तर्भावों और उद्देश्यों का सम्यक् ज्ञान करा देता है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी दृष्टि से लिखी गई है कि नवरस का अध्ययन विद्यार्थियों को जीवित मानव-समाज और उसके काव्यमय चित्रों की रुचि के साथ समझने में सहायक हो। यदि इस ग्रन्थ

को पढ़ कर विद्यार्थियों की रुचि साहित्य के अनुशीलन में कुछ आकृष्ट हुई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा ।

साहित्य-सेवासदन
छतरपुर—मध्यभारत
शरत्-पूर्णिमा, सं० १९८६

गुलाबराय

विशेष निवेदन

पुस्तक का पहिला संस्करण श्रीनागरीप्रचारिणी सभा आरा से प्रकाशित हुआ था। मुझे विशेष सन्तोष है कि दूसरा संस्करण भी उक्त सभा से ही प्रकाशित हो रहा है। सभा ने दूसरा संस्करण अपने यहाँ से ही निकालने का संकल्प कर मेरी पुस्तक पर जो ममत्व प्रकट किया है उसके लिये सभा मेरे धन्यवाद की भाजन है। पं० रामप्रीति शर्मा 'प्रियतम' ने अपने ऊपर सम्पादन का भार लेकर इस पुस्तक को जो प्रेस के गर्भ से निकालने का परम श्लाघनीय कार्य किया है उसके लिये मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ। जल्दी और झंझटों के कारण इस पुस्तक में बहुत सी भूलें रह गई हैं। अङ्गभङ्ग (इसमें कुछ अत्युक्ति अवश्य है) ही प्रकट होना चिरविस्मृति के अनन्त गर्त्त में पड़े रहने से अच्छा है। सहृदय पाठक इसकी स्वयम् मरहमपट्टी कर लेंगे। इस कार्य में उनकी कल्पना को जो व्यायाम हो उसके लिये वे मुझे धन्यवाद दें। पाठकगण हंस की भाँति चीर को ग्रहण कर लें और नीर को त्याग दें।

आगरा
१०-१२-३३

गुलाबराय

अनुरोध की दो-दो बातें !

जो त्रिकाल में एकरूप है, ज्ञान-स्वरूपानन्द-निधान ।
जगदुत्पादक उस ईश्वर के परम तेज का करते ध्यान ॥
वही बुद्धियों का प्रेरक है, है न हमारा कुछ अधिकार ।
सत-पथ पर संचालित करते, लावे वह प्रभु बेड़ा पार ॥

अभिशापवश नारदीय भ्रमण में प्रवृत्त रह कर, रात-दिन चक्कर काटनेवाले व्यक्ति के ऊपर किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य का बोझ लादना भूल ही नहीं, भयंकर भूल है । सभा ने भी मेरे ऐसे भ्रमणाभिशप्त व्यक्ति के सिर पर 'नवरस' के संपादन एवं प्रकाशन का भार लादकर कुछ ऐसी ही भूल की ! मैंने स्वच्छन्द रहने के विचार से इस कार्य के लिए सुयोग्य यजमान फँसाने की चेष्टा की; परन्तु असफलता ही हाथ लगी । मेरी हार्दिक इच्छा थी कि इस द्वितीय संस्करण का संपादन भी मित्रवर बाबू शिवपूजन सहाय के कला-निपुण कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हो, परन्तु नाना प्रकार की मधुर उलझनों में बेढब फँसे रहने के कारण आपने असमर्थता प्रकट की । अंततोगत्वा, देखरेख तथा संपादन-प्रकाशन का कार्य-भार मेरे ही सिर पर रह गया । जिस रसामृत ने श्रद्धेय बाबू गुलाबरायजी की कठिन आलस्य-व्याधि दूर की उस अमृतपान से भी मैं शाप-मुक्त न हो सका । अवकाश का अभाव ज्यों का त्यों बना रह गया । विद्यार्थियों और साहित्यानुरागियों की जोरदार माँग पर माँग और स्मृति-पत्रों के आते रहने पर भी पुस्तक दो वर्ष प्रेस-गर्भ में ही रह गई !

नवरस के ऊपर दृष्टिपात करते ही संस्कृत-कविता-कामिनी-कान्त कविराज जगन्नाथ की यह उक्ति स्मरण हो आती है—

निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती ।
कृती मालाकारो, बकुलमपि कुत्रापि निदधे ॥
इदं को जानीते, यदयमिह कोणान्तरगतो ।
जगज्जालं कर्त्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥

वृक्ष लगाने में परम कुशल पुण्यवान् माली ने सहज स्वभाव से ही वाटिका के किसी कोने में एक बकुल लगाया; परन्तु यह किसको विदित था कि वह कोने में स्थापित बकुल निज पुष्प-सौरभ से संसार को पूरित करेगा ।

यह कौन जानता था कि इस परम कुशल मालाकार का नवम-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में पढ़ने की अभिलाषा से लिखित साठ-पैंसठ पृष्ठ का निबन्ध लगभग साढ़े छ सौ पृष्ठों का बृहत् ग्रंथ बनकर रसिकों में रस-सौरभ वितरित कर सकेगा। 'दैवेच्छा बलीयसी'। लब्धप्रतिष्ठ वयोवृद्ध बाबू गुलाबरायजी हिन्दी-साहित्य-वाटिका के सर्वतोमुखी प्रतिभायुक्त परम निपुण मालाकार हैं। आप साहित्य के सभी अंगों पर सफल रचना करने की एक अपूर्व क्षमता रखते हैं। आपने दर्शन और मनोविज्ञान ऐसे गहन विषयों के ऊपर भी मौलिक, सरस, सुन्दर और लोक-प्रिय पुस्तकों का प्रणयन किया है। आपने नवरस का 'कौपी राइट' सदैव के लिए सभा को देकर अपने हार्दिक अनुराग का पूर्ण परिचय दिया है। इसके लिए सभा की ओर से मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

सभा के साथ बाबू गुलाबराय जी से संबन्ध स्थापित कराने का पूर्ण श्रेय प्रेममन्दिर के प्रेमपुजारी स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन, हास्यरसावतार स्वर्गीय पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा तथा बाबू शिवपूजनसहायजी को है। अतएव मैं स्वर्गीय आत्माओं के लिए श्रद्धाञ्जलि तथा बाबू शिवपूजन सहाय को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस पुस्तक की उपयोगिता और गुण-दोष के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना प्रकाशक होने के कारण सर्वथा अनुचित है; क्योंकि अपने दही को कौन खट्टा कहता है। गुण-दोषों का निर्णय तो पाठक कर सकते हैं। मुझे यही कहना है कि—

"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् निर्दोषं न च निर्गुणम्"

इस ग्रंथ को 'सभा' इस बार सचित्र प्रकाशित करना चाहती थी; परन्तु भवन-निर्माण में संलग्न रहने के कारण सभा अपने विचार को कार्यरूप में परिणत करने में असमर्थ रही। इसके अतिरिक्त प्रूफ़ भी बाहर ही देखा गया, इसलिए यत्र-तत्र छापे की अशुद्धियाँ रह गई हैं। उनके शुद्ध रूप को पाठक देखते ही समझ सकते हैं; इसलिए संशोधन-पत्र लगाना व्यर्थ समझा। आशा है, पाठक मेरी इस शापजनित क्षिप्रकारिता को क्षमा की दृष्टि से देखेंगे। अलम्

शिवमन्दिर आरा 'देवोत्थान' कार्तिक शुक्ला एकादशी सं० १९९०	अभिन्न **रामप्रीति शर्म्मा 'प्रियतम'** लाइब्रेरी सुपरिंटेंडेंट आरा नागरीप्रचारिणी सभा आरा

रसो वै सः

बिधि सों कबि सब बिधि बड़े, या मैं संसय नाहि।
षटरस बिधि की सृष्टि में, नवरस कबिता माहिं॥

तंत्री-नाद कबित्त-रस, सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग॥

—बिहारी।

काव्यालापांश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥

—विष्णुपुराण।

साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

—श्री भर्तृहरि।

विषय-सूची

—※—

नवरस

पहला अध्याय

रस-निर्णय

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर-रूप माने गये हैं। काव्य-शरीर को सजीव रखने के लिये आत्मा की आवश्यकता है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य की आत्मा क्या है? काव्य के शरीर को शव बनने से कौन-सा पदार्थ रोके रहता है? इसके उत्तर में आचार्यों के पाँच मत हैं। पहला मत उन लोगों का है जो रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। दूसरे मत के अनुकूल अलङ्कार ही काव्य की आत्मा है। अलङ्कारशून्य काव्य निर्जीव है। तीसरे सम्प्रदाय के लोग रीति को काव्य की आत्मा बतलाते हैं। चौथे मत के आचार्यों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। इस मत के अनुसार काव्य वही है जिसमें वाच्यार्थ से व्यङ्गार्थ अधिक हो। पाँचवाँ भेद उन आचार्यों का है जो वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन समझते हैं। अब इन पाँचों मतों का संक्षेप में वर्णन दिया जाता है—

(१) रस-मत—रस को काव्य की आत्मा मानने वालों में नाट्य-शास्त्र के कर्त्ता भरत-मुनि प्रधान हैं। साहित्यदर्पणकार

आचार्य्य विश्वनाथ का भी यही मत है। भोज, जयदेव, वाग्भट्टादि ने रस को प्रधान माना है; किन्तु विश्वनाथ की भाँति रस को काव्य का एकमात्र लक्षण नहीं कहा है। उन्होंने सब मतों को मिलाना चाहा है। उदाहरणतः वाग्भट्टकृत निम्नलिखित श्लोक देखिये—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये॥

अर्थात् शब्द और अर्थ की साधुता के सौन्दर्य्य से भरा गुण और अलङ्कारों से विभूषित रीति तथा रस के सहित काव्य को यश के लिये लिखना चाहिये।

इन सब बातों का लिखना वैसा ही है जैसे आफत का मारा मनुष्य सब देवताओं की पूजा करता है। महात्मा तुलसीदास के शब्दों में वह "बरी बरी में नोन" देता है। ऐसी परिभाषा में किसीकी प्रधानता नहीं रहती। 'एकहि साधै सब सधै' की-सी व्यापकता नहीं है। ऐसी व्यापकता है किसमें? इसका निर्णय सब मतों की विवेचना करने के पश्चात् अन्त में किया जायगा।

यहाँ पर इतना बतला देना आवश्यक है कि रस क्या है? व्युत्पत्ति से रस का अर्थ इस प्रकार है—"रस्यते आस्वादते इति रसः" अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाय वह रस है। इस आस्वादन में आनन्द लक्षित रहता है। यहाँ पर रस के विषय में इतना ही कहा जाता है।

(२) अलङ्कार-मत—अलङ्कार को प्रधानता देनेवाले अचार्य्यों में उद्भट, दण्डी और रुद्रट प्रधान हैं। उद्भटादि ने गुण और

अलङ्कारों को मिला दिया है। अलङ्कारों को प्रधानता देनेवाले आचार्य्यों ने रस को माना है; किन्तु उसे अलङ्कारों ही के अन्तर्गत किया है। "रसवत्" अलङ्कार मान कर रस का वर्णन किया है। अलङ्कारों में ही ध्वनि और वक्रोक्ति को भी स्थान दिया जाता है। अलङ्कार के पक्षवालों का कहना है कि अलंकारों की प्रधानता के कारण रसादि के वर्णन होते हुए काव्य-मीमांसा के ग्रन्थ अलङ्कार-शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(३) रीति-मत—रीति को प्रधानता देनेवाले आचार्य्यों में वामन मुख्य हैं। दंडी ने भी रीति के ऊपर विशेष ध्यान दिया है। वामन का कथन है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति क्या है? 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'।

विशिष्ट पद-रचना को रीति कहते हैं। रीति का विशेष सम्बन्ध पद-रचना और संघटन से है। वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली तीन मुख्य रीतियाँ मानी गई हैं। इन रीतियों को क्रमानुकूल उपनागरिका, परुषा और कोमला भी कहते हैं। रीतियों के साथ गुणों का भी प्रश्न आ जाता है। काव्य के दस गुण माने गये हैं। वे इस प्रकार हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य्य, सौकुमार्य्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति। वैदर्भी में दसों गुण पाये जाते हैं। गौड़ी में ओज और कान्ति की प्रधानता रहती है; और पाञ्चाली में माधुर्य्य तथा सुकुमारता गुण विशेष रूप से रहते हैं। एक मत से सब गुण वैदर्भी में ही रहते हैं और गौड़ी में इसकी विपरीतता रहती है। अर्थ-व्यक्ति उदारता और समाधि-गुण दोनों में ही पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक लाटीया वृत्ति और मानी गई है। भोज ने आवन्ती,

मागधी और लाटी तीन और वृत्तियाँ मानी हैं। यहाँ पर रीतियों की विवेचना न कर इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि रीति के माननेवाले गुणों को प्रधानता देते हैं।

(४) **ध्वनि-मत**—ध्वनि को प्रधानता देनेवाले आचार्य्यों में अभिनवगुप्त मुख्य हैं। उनके 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि का सिद्धान्त दिया गया है। उनका कथन है कि "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" ध्वनि क्या है? प्रतीयमान अर्थ वा व्यङ्गार्थ को ध्वनि कहते हैं। जहाँ पर वाच्यार्थ से व्यङ्गार्थ की प्रधानता हो वही उत्तम काव्य माना जाता है। 'काव्य-प्रकाश' के कर्त्ता मम्मट ने ध्वनि को मानते हुए उत्तम काव्य का इस प्रकार लक्षण दिया है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिबुधैः कथितः"

अर्थात् उत्तम काव्य वही है जिसमें व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ से प्रधान हो; इसको बुद्धिमान् पुरुष ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि का सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोट की समता पर रखा गया है। जिस प्रकार स्फोट अक्षरों से पृथक् होता है और अक्षर उसको (स्फोट को) व्यञ्जित करते हैं, उसी प्रकार व्यङ्गार्थ भी वाच्य से व्यञ्जित होता है, किन्तु उसे गौण कर देता है। ध्वनि के आधार पर ही काव्य के दो भेद किये गये हैं, ध्वनि-काव्य और गुणीभूत व्यङ्ग। उत्तम काव्य वह है जिसमें व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ से प्रधान हो। जहाँ व्यंगार्थ वाच्यार्थ के समान अथवा न्यून हो उसे मध्यम काव्य कहेंगे। ध्वनि सब काव्य में होती है। जिसमें ध्वनि अधिक है वह उत्तम है, और जिसमें कम है वह मध्यम है। ध्वनि क्या है, इसके विषय में बहुत-से लोगों का मत है कि ध्वनि की व्याख्या ही करना कठिन है। जिस प्रकार

सौन्दर्य का ज्ञान केवल अनुभव से ही हो सकता है, परिभाषा नहीं हो सकती, वही अवस्था ध्वनि की है। केवल अदोषता सौन्दर्य्य नहीं बनाती। सौन्दर्य्य उससे कुछ ऊपर है। इसका रसिक ही अनुभव कर सकते हैं। उदाहरण दे कर ही ध्वनि का अभिप्राय भी स्पष्ट किया जा सकता है—

"दूसरे की बात सुनि परत न ऐसी जहाँ,
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है।
छाई रहै जहाँ द्रुम बेलिन सो मिलि,
'मतिराम' अलिकुल में अँधियारी अधिकाति है॥
नखत से फूलि रहै फूलन के पुञ्ज घन,
कुञ्जन में होत जहाँ दिन ही में राति है।
ता बन की बाट कोऊ संग ना सहेली साथ,
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है॥"

उपर्युक्त पद्य का वाच्यार्थ एक सरल स्वाभाविक प्रश्न के रूप में है; किन्तु इसमें जो व्यङ्गार्थ है वह वाच्यार्थ को दबा लेता है, और नायक तथा नायिका की अभीष्ट-सिद्धि का साधन बन जाता है। वह अपना सहेट स्थान, उसमें अलक्षित रहने की सम्भावनाएँ, और उसमें मिलने की कामना प्रकट कर देता है। 'अकेले', 'अकेली' शब्द में ही गूढ़ व्यञ्जना भरी हुई है। यही ध्वनि है, और यही रस काव्य के माधुर्य्य का रहस्य है। ध्वनि के माननेवाले रस को भूल नहीं जाते; किन्तु वे ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

(५) <u>वक्रोक्ति-मत</u>—वक्रोक्ति के आचार्य्य 'कुन्तक' माने गये हैं। 'वक्रोक्ति-जीवित' इनका मुख्य ग्रन्थ है। इनके मत से

'वक्रोक्ति' ही काव्य की आत्मा है। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को "वैदग्ध्यभंगी भणितिः"—अर्थात् "विदग्ध पुरुषों की वाणी" कहा है। 'वक्रोक्ति' साधारण जनों की सरलोक्ति से भिन्न होती है। इसमें श्लेषादि अलङ्कारों की प्रधानता रहती है। यह मत अलङ्कार-मत से मिलता-जुलता है। 'वक्रोक्ति' का एक उदाहरण देकर इसका भाव स्पष्ट किया जाता है—

> को तुम, हैं घनश्याम हम, तो बरसो किन जाय।
> नहिं, मनमोहन हैं प्रिये, फिर क्यों पकरो पाँय॥

मानवती राधा से कृष्ण भगवान मान-मोचन करा रहे हैं। वह पूछती हैं कि तुम कौन हो ? वह कहते हैं कि हम घनश्याम हैं। उत्तर में वह कहती हैं कि यदि घनश्याम हो, तो कहीं जाकर बरसो। जब श्रीकृष्ण ने कहा कि नहीं, हम मन-मोहन हैं; तो वह कहती हैं कि मन को जब मोह सकते हो तो फिर पैर क्यों पकड़ते हो ?

यहाँ पर भगवान के वाचक दोनों शब्दों का भिन्न अर्थ लगाकर उसपर वक्रोक्ति की गई है। 'वक्रोक्ति' में शब्दों के 'श्लेष' द्वारा नये-नये अर्थ निकाले जाते हैं। इस मत में इतना सार अवश्य है कि काव्य की भाषा साधारण भाषा से कुछ उच्च कोटि की होती है। उसमें कुछ गौरव रहता है। यह भाषा चातुर्य्यपूर्ण होती है। यही चातुर्य्य उसे गौरवान्वित बनाता है। एक संस्कृत का और उदाहरण लीजिये जिसमें वाक्चातुर्य्य का पूर्ण चमत्कार दिखाई पड़ता है—

> अङ्गुल्या कः कपाटे प्रहरति कुटलो माधवः किं वसंतो—
> नो चक्री किं कुलालो नहि धरणिधरः किं फणीन्द्रो द्विजिह्वः।

मुग्धे घोराहिमर्दी किमुत खगपतिर्नो हरिः किं कपीन्द्र ।
इत्थं लक्ष्म्या कृतोऽसौ प्रतिहति वचनः पातु लक्ष्मीधवो वः ॥

अर्थात् श्रीराधिकाजी द्वार पर खड़े हुए श्रीकृष्णजी से पूछती हैं कि कौन कुटिल पुरुष अपनी अँगुलियों से किवाड़ों को खटखटाता है? उत्तर मिलता है 'माधव'। माधव शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण न लगाकर मधु से सम्बन्ध रखनेवाला वसंत समझ कर राधिकाजी पूछती हैं कि 'वसंत'? इस द्व्यर्थकता से बचने के लिये श्रीकृष्णजी अपना नाम चक्री (चक्र धारण करनेवाला) बतलाते हैं। राधिकाजी इसका भी दूसरा अर्थ लगाकर पूछती हैं कि क्या चक्र चलानेवाले कुम्हार हो? तब श्रीकृष्णजी कहते हैं कि नहीं, धरणीधर हूँ। राधिकाजी धरणीधर का अर्थ (शेषनाग) सर्प लगाती हैं; इसपर श्रीकृष्णजी कहते हैं कि मैं सर्प नहीं हूँ वरन् भयंकर (कालिय) सर्प का मर्दन करनेवाला हूँ; तब राधिकाजी पूछती हैं कि क्या गरुड़ हो? इन सब प्रश्नोत्तरों से बचने के लिये श्रीकृष्णजी अपना नाम हरि बतलाते हैं; किन्तु श्रीराधिकाजी के वाग्जाल में फँस जाते हैं। हरि नाम सुनकर वह फिर पूछती हैं कि क्या कपीश हो? इसपर श्रीकृष्णजी निरुत्तर हो जाते हैं! ऐसे निरुत्तर हुए भगवान् श्रीकृष्ण आप लोगों की रक्षा करें।

उपर्युक्त मतों पर विचार—

अलङ्कारों को काव्य की आत्मा कहनेवाले लोगों का कहना है कि जिसमें अलङ्कार नहीं वह काव्य नहीं। वैसे तो प्रत्येक काव्य में कुछ न कुछ अलङ्कार रहते हैं, और अलङ्कार से काव्य का उत्कर्ष बढ़ जाता है, किन्तु उसे काव्य की आत्मा नहीं कह सकते। अलङ्कार अलंकृत वस्तु की अपेक्षा करता है। यदि

सुन्दर शरीर न हो तो अलङ्कार भी शोभारहित हो जाते हैं। सुन्दर शरीर ही अलङ्कारों को शोभा देता है। अलङ्कार को सुन्दर शरीर की आवश्यकता है, किन्तु सुन्दर शरीर को अलंकार की नहीं। देखिये—

अंग अंग प्रतिबिम्ब परि, दरपन से सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात॥

देखिये किसी उर्दू कवि ने कहा है—

नहीं मुहताज ज़ेवर का, जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी।
कि देखो बदनुमा लगता है, पूरे चाँद को गहना॥

बिहारी ने कहा है—

तन भूषन अञ्जन द्दगन, पगन महावर रंग।
नहिं सोभा को साजिये, कहिबे ही को अंग॥

बिहारी के अनुसार भूषण केवल अनावश्यक ही नहीं वरन् अवगुण है। यथा—

भूषन पहिर न कनक के, कहि आवत इह हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत॥

अलङ्कार को प्रधानता देनेवाले आचार्य्यों ने भी इसका तिरस्कार नहीं किया है। रुद्रट आचार्य्य कहते हैं—

"तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्"

रीति के माननेवाले अलंकारवालों से यथार्थता के पथ में एक पग बढ़े हुए हैं। वे काव्य के गुणों को प्रधानता देते हैं। वहाँ पर भी इस बात की कमी रहती है कि वे गुण किसके? अलङ्कारों की अपेक्षा गुण का आत्मा से निकटतम सम्बन्ध है। अलङ्कारों में कृत्रिमता रहती है और गुण प्रायः स्वाभाविक होते

हैं। गुणों का विशेषकर रसों से भी सम्बन्ध है। जैसे—माधुर्य्य का शृंगार से, ओज का रौद्र, वीर तथा अद्भुत से। प्रसाद-गुण प्रायः सभी रसों में पाया जाता है। काव्य में रीति शरीर के संगठन का-सा काम देती है। शरीर के संगठन से सौन्दर्य बढ़ जाता है, किन्तु वह आत्मा का स्थान नहीं पा सकता। इसके अतिरिक्त ध्वनि में वस्तु, अलंकार तथा रस तीनों की ध्वनि पाई गई है। ध्वनि को मानकर यह स्पष्ट करने की आवश्यकता रहती है कि किस प्रकार की ध्वनि काव्य की आत्मा है। 'आचार्य-लोचन' में रस की ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। देखिये—

"तेन रस एव वस्तुत आत्मा।
वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यव्यसेतेति।"

स्वयं ध्वन्यालोककार भी कहते हैं कि सत्कवि को ऐसी कविता न करनी चाहिये जिससे रस का सम्बन्ध न हो। देखिये—

"यतः परिपाकतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापारेव न शोभते"

वक्रोक्ति को प्रधानता देनेवाले अलंकारवालों ही के अन्तर्गत हैं। ध्वनि, अलङ्कार, रीति, गुण आदि का पारस्परिक सम्बन्ध साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार दिखलाया है—

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा,
गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयो अवयव-
संस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत् इति।

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा रसादिक आत्मा हैं, माधुर्यादि शौर्यशीलादि की भाँति गुण हैं। श्रुति-कट्वादिक दोष काणापन की भाँति हैं। वैदर्भी, पाञ्चाली आदि रीतियाँ अवयवों के संगठन के सदृश हैं। अलंकार, कुंडल और

कङ्कण की भाँति हैं। काव्य की कला से समता कर रीति, गुण आदि का यथार्थ स्थान बता दिया गया है।

रस को क्यों आत्मा कहा गया है? काव्य का मुख्य उद्देश आनन्द है। वह आनन्द रसस्वरूप है, इसीलिये इसको काव्य की आत्मा कहा है। मम्मटाचार्य्य कवि की भारती की वन्दना करते हुए उसे "आह्लादैकमयी" करके सम्बोधित करते हैं। यह आह्लाद मानसिक होता है। यह रस से ही उत्पन्न हो सकता है, अतः यह कहना ठीक होगा कि यह रस-रूप ही है। ध्वनि को प्रधानता देनेवाले मम्मटाचार्य्य जी ने "नवरसरुचिराम्" पद से कवि की भारती को विभूषित किया है। अग्निपुराण में भी कहा है "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसेवात्वजीवितम्"। इन सब युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध होता है कि रस ही काव्य की आत्मा है, अतः काव्य की अनेक परिभाषाएँ होते हुए भी हम साहित्यदर्पणकार की परिभाषा को प्रधानता देते हैं। वह इस प्रकार से है— "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। काव्य का सार रस है। "रस एव आत्मासाररूपतया जीवनाधायको यस्य" जिस प्रकार नीरस काष्ठ को वृक्ष नहीं कह सकते उसी प्रकार नीरस वाक्य को काव्य नहीं कह सकते। वह कविता को वास्तविक जीवन देनेवाला 'रस' क्या पदार्थ है? "रस्यते इति रसः" 'रस' धातु का अर्थ "आस्वादन करना" है। जो आस्वादन किया जाय वही रस है। आस्वादन का अर्थ केवल चखना नहीं है वरन् चखकर आनन्द लेना है। भावों के आस्वादन को ही रस कहते हैं। जिस प्रकार भोजन के रसों का विषय खाद्य-पदार्थ है, उसी प्रकार काव्य के रसों का विषय मनोविकार,

उनके कारण और फल हैं। काव्य-ग्रन्थों के मत से तो भावों की परिपक्वता ही रस है। साहित्य-दर्पण में रस की परिभाषा इस प्रकार से है—

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावाः सचेतसाम्॥"

अर्थात् रति आदि स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी द्वारा व्यक्त होकर रसज्ञ के मन में रस की अवस्था को प्राप्त होते हैं। विभाव, (रस के बाह्य कारण—जैसे शृंगार के सम्बन्ध में नायक और नायिका, पुष्प, चन्द्र, ज्योत्स्ना, वसन्त-ऋतु आदि; भयानक के सम्बन्ध में सिंहादि, भयोत्पादक जीव, निर्जन वन, रात्रि, पर्वतादि) अनुभाव,(भावों के कार्य्य-रूप स्वेद, रोमाञ्च, कम्पादि बाह्यव्यञ्जक) और मुख्य भाव के साथ रहनेवाले सञ्चारी भावों से व्यक्त किया हुआ रति, भय, क्रोधादि स्थायी भाव, जो बीज-रूप सहृदय पुरुषों के मन में रहते हैं; रस बन जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य में भावों से प्रभावित होने की योग्यता रहती है। यह पूर्वजन्म एवं वर्तमान जन्म के संस्कारों से प्राप्त होती है। यह योग्यता सब मनुष्यों में एक-सी नहीं होती, परन्तु थोड़ी-बहुत होती अवश्य है। मनुष्य के हृदय में जो सहृदयता का सामाजिक भाव है वह रस में आनन्द का कारण बनता है। वेदान्ती लोगों के मत से आत्मा आनन्दस्वरूप है। उत्तम काव्य के पढ़ने से चित्त की एकाग्रता हो जाती है और मन निश्चलता को प्राप्त होता है। उस अवस्था में आत्मा अपने स्वाभाविक आनन्द को प्राप्त हो जाती है। चित्त का लग जाना ही आनन्द का कारण होता है। मनुष्य स्वभाव से शोक-प्रिय नहीं होता। जब उसका मन दुःख

देनेवाले पदार्थों की ओर आकर्षित हो जाता है, तब ही उसे दुःख होता है। दुःखी मनुष्य का दुःख हटाने के लिये सबसे उत्तम साधन उसके चित्त को दूसरी ओर लगाना है। जब सब रसों का एक मुख्य लक्ष्य आनन्द ही है, तब नव भिन्न रस क्यों माने गये? इस समस्या के कारण बहुत-से आचार्य्यों ने एक ही रस माना है। (इस विषय पर आगे विवेचना की जायगी) नव रस मन के प्रभावित होने के नौ प्रकार हैं; अर्थात् नौ ऐसे मुख्य भाव हैं जिनके उत्तेजित होने से चित्त एकाग्र होकर आनन्द मग्न हो जाता है।

रस आनन्दस्वरूप है, और आनन्द की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, इसकी विवेचना हो गई। अब ऊपर जो कहा गया है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से व्यक्त किया हुआ स्थायी भाव रस बन जाता है, इसकी व्याख्या करना आवश्यक है। व्यक्त का अर्थ दूध का दही के रूप में परिणत हो जाने का है। रति, शोक, क्रोध आदि स्थायी भाव दूध है और विभाव, अनुभाव, सञ्चारी आदि मठा या दही की भाँति जामन का काम देते हैं। दोनों से मिल कर रस उत्पन्न होता है। केवल शोक, क्रोध वा भय मात्र का वर्णन कर देना वैसा ही है जैसे बिना अँगूठी का नगीना। जहाँ सामग्री की पूर्ति नहीं होती वहाँ रसाभास होता है, पूर्ण रस नहीं होता। केवल यह कह देना पर्य्याप्त नहीं कि दशरथ जी बड़े शोक में हैं। यदि आपका दशरथ जी से हिन्दू-धर्म और भारतवासी होने का सम्बन्ध न होता तो इससे आप पर क्या प्रभाव होता? जब हम शेक्सपियर का ओथेलो (Othelo) पढ़ते हैं तो हमको पूर्ण स्थिति का ज्ञान होने से डेस्डीमोना

(Desdimona, जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है) की मृत्यु पर शोक होने लगता है। 'दशरथ को शोक हुआ' इतना कहने से हमपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु जब हम देखते हैं कि एक ओर कोसल-राज्य के मनोनीत युवराज पिता की आज्ञा का पालन करने एवं उनके सत्य-व्रत-पालन में सहायक होने के अर्थ वन को जाने के लिये तैयार हैं, और अपनी माता से आज्ञा माँग रहे हैं; तथा दूसरी ओर सीताजी वन जाने का आग्रह कर रही हैं, पुर-जन द्वार पर खड़े हैं, राज-समाज राजाज्ञा को सुनकर चकित हो रहा है, राम-माता प्रेम तथा संकोच की खींच-तान में पड़ कर भी वन-गमन की आज्ञा दे रही हैं; लक्ष्मणजी भ्रातृ-प्रेम से विवश हो अपने ऊपर सहर्ष वनगमन का भार ले रहे हैं, कैकेयी कोप-भरे व्यङ्ग-वचन कह रही है और दशरथजी की साँप-छछूँदर की-सी गति हो रही है, वह भूमि पर पड़े हा राम ! हा राम !! पुकार रहे हैं और कहते हैं कि राम वन को जाते हैं, प्राण किस आशा से रुके हुए हैं; तब शोक का चित्र पूरा हो जाता है। हमारे मन में जो शोक से प्रभावित होने की योग्यता है वह जाग्रत हो जाती है। चित्त एकाग्र हो जाता है। हम तन्मय हो जाते हैं, बस यही रस है। और एक उदाहरण लीजिये। यदि कोई कहे कि लव बड़े वीर थे, तो इससे क्या प्रभाव पड़ा ? किन्तु जब हम यह पढ़ते हैं कि रामचन्द्रजी की चतुरंग चमू, जिसके घोड़ों की टापों से उठी हुई धूलि जल-थल में छा रही थी, सामने खड़ी हुई है; रणाङ्गण को मृत योद्धाओं के शव भयङ्कर बना रहे हैं; राम-रावण-युद्ध के अङ्गदादि प्रसिद्ध योद्धागण उपस्थित हैं; एक ओर वीरता

की ललकार देनेवाला श्रीरामचन्द्रजी का मख-तुरङ्ग बँधा हुआ है, (यह सब आलम्बन-उद्दीपन विभाव-अनुभाव है)। उधर लव-कुश का लोकोत्तर उत्साह (स्थायी भाव) जो उनकी 'लव सों न जुरो लवणासुर के भोरे' ऐसी (गर्व-सञ्चारीसूचक) गर्वोक्ति द्वारा पुष्ट होकर "मों असु दे वरु अश्व न दीजै" ऐसे दृढ़ निश्चयात्मक वाक्यों में प्रगट होता है और पाठकों के हृदय में वीरता के भावों की जागृति कर देता है। कुश की निर्भयता और युद्ध से न हटने का दृढ़ सङ्कल्प जिसके वश वह श्रीरामचन्द्र से कहते हैं "राम राज तुम्हैं कहा मम वंश सों अब काम" उनके नेत्रों का तेज और मुखड़े की उत्साहसूचक प्रसन्नता (यह अनुभाव, अर्थात् आन्तरिक भावों के बाह्य व्यञ्जक जिनके द्वारा हमको आन्तरिक भावों की तीव्रता का पता चलता है और जिनका वर्णन हमारे मन में समान भावों को उत्तेजित करता है) और उनके वचनों को पुष्ट करनेवाली वीर कृतियों को जिनके कारण रावण का मद चूर करने वाला वीर अङ्गद त्रास से पुकारता है "हा रघुनायक हौं जन तेरो, रक्षहु गर्व गयो सब मेरो" का हाल पढ़ते हैं; तब हमारे मन में उत्साह के संस्कार पुष्ट होकर हमारे मन को लोकोत्तर चमत्कार से प्रभावित कर आनन्दमय बना देते हैं। यही है वीर रस। जब इस व्याख्या के आलोक में नीचे के लक्षणों पर विवेचना की जाय तो उनके मनोगत होने में कठि-नाई न होगी—

> जो विभाव अनुभाव अरु, बिभिचारिन करि होय।
> थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोय॥

यह मत की व्युत्पत्ति द्वारा लगाये हुए अर्थ से भिन्न नहीं है,

क्योंकि सच्चे आस्वादन में आनन्द की उत्पत्ति अवश्य हो जाती है, और रस तथा भाव सब एक हो जाते हैं। भावों से रस की उत्पत्ति और रसों से भाव की उत्पत्ति होती है।

रस बिनु भाव न भाव बिनु, रस यह लखौ बिसेखि।
स्वाद विसेषहिं ते सबै, भाव प्रकृति रस लेखि॥

ऐसे तो भाव सब ही के होते हैं; किन्तु भावों के रसास्वादन करनेवाले रसिक जनों को अपने या पराये मनोगत भावों के आस्वादन से जो विशेष आनन्द उपलब्ध होता है वह अरसिक अनुभवकर्त्ता को नहीं होता है। रस के उदय से एक प्रकार की अपूर्व मानसिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस सरल मानसिक स्थिति में इसके स्थायी भाव के साथ रसास्वादन-जन्य आनन्द भी विद्यमान रहता है।

विभाव और अनुभावों से पुष्ट किये हुए स्थायी भाव की परिपक्वावस्था को ही रस कहते हैं। जगद्विनोद में इस बात को और भी स्पष्ट किया है—

मिलि विभाव अनुभाव पुनि, सञ्चारिन के बृन्द।
परिपूरन थिर भाव यों, सुर स्वरूप आनन्द॥
जों पय पाय बिकार कछु, ह्वै दधि होत अनूप।
तैसेई थिर भाव को, बरनित कबि रस रूप॥

अभिनवगुप्ताचार्य्य के आधार पर कुलपति मिश्र ने रस का लक्षण इस प्रकार दिया है।

नृत कवित्त देखत सुनत, भये आवरन भङ्ग।
आनँद रूप प्रकाश है, चेतन, हीं रस अंग॥
जैसो सुख है ब्रह्म को, मिले जगत सुधि जाति।
सोई गति रस में मगन, भये सुरस नौ भाँति॥

इस मत में रस के आनन्द-स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है। रस का आनन्द-स्वरूप, उसके आस्वादन का प्रकार और उसके अधिकारी इस प्रकार बतालाये गये हैं—

सत्वोद्रेकादिखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवद् भिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥
रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।

सतोगुण के उद्रेक से अर्थात् जब चित्त शुद्ध और निर्मल होता है तब रस का आविर्भाव होता है। वह अखण्ड (अर्थात् जब इसका उदय होता है तब इसकी सब सामग्री मिलकर एक हो जाती है) स्वप्रकाश है (अर्थात् किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता), उसमें आस्वाद्य और आस्वादक का भेद नहीं रहता। दीपक की भाँति वही प्रकाश्य और प्रकाशक भी है। वह आनन्दमय और चिन्मय है (अर्थात् उसमें आनन्द और बुद्धिसम्बन्धी चमत्कार दोनों रहते हैं)। रस के साथ साक्षात्कार होते समय अन्य किसी वेद्य पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता, अर्थात जब रस का उदय होता है तब वह मन को व्याप्त कर लेता है, इसीलिये इसका आनन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर माना गया है। लोकोत्तर चमत्कार जिसका जीवन है उसको वे ही लोग अनुभव करते हैं जिनके पूर्व-जन्म के तथा इस जन्म के संस्कार उनको आस्वादन करने के लिये तैयार कर देते हैं। प्रत्येक मनुष्य रस का अनुभव नहीं कर सकता। इसीसे रसिक और अरसिक का भेद किया जाता है। रस का अनुभोक्ता उसको

आत्मा से अभिन्न रूप अनुभव करता है अर्थात् रस की स्थिति में आत्मा रसमय हो जाती है। आत्मा और अनात्मा का अनुभव भिन्न नहीं प्रतीत होता। ऐसी अवस्था में रस का आस्वादन होता है। उस समय मन रजोगुण और तमोगुण से विमुक्त हो शुद्ध सतोगुणमय हो जाता है। इसीलिये उसमें ब्रह्मानन्द का-सा आनन्द रखनेवाले आनन्द की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक रस के साथ आनन्द लगा हुआ है। शोक के भाव में आनन्द नहीं, किन्तु करुण रस में आनन्द अवश्य है। रस आनन्द-रूप ही है। देखिये, मम्मट क्या कहते हैं—"सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेधानन्तरं आनन्दम्"। बहुत-से स्थायी भाव ऐसे हैं कि लोग जिनके वास्तविक अनुभव की पुनरावृत्ति न चाहें; किन्तु काव्य द्वारा उन्हीं भावों का आस्वादन उन्हें बड़ा रुचिकर होता है और उसकी पुनरावृत्ति से लोग नहीं थकते। इस विषय पर साहित्य-दर्पण में इस प्रकार विवेचना की गई है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥
हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥

रस के आनन्दमय होने में यह आपत्ति उठाई गई है कि यदि रस आनन्दमय है, तो करुण को रस में क्यों स्थान

मिलता है। इसके सम्बन्ध में उपर्युक्त श्लोक दिये गये हैं। साहित्यदर्पणकार का कथन है कि करुणादिक रसों में भी परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसका प्रमाण सहृदय जनों का अनुभव ही है। यदि उनको दुःख होता तो उनकी उस ओर प्रवृत्ति न होती, और रामायणादि जो कि करुण-रसपूर्ण ग्रन्थ हैं, दुःख के हेतु समझे जाते । यदि पूछा जाय कि दुःख से सुख किस प्रकार होता है (क्योंकि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य भी), तो इसके उत्तर में आचार्य्य का कथन है कि लोक अथवा संसार के सम्बन्ध से वनवासादि-गमन शोक-हर्षादि के कारण होते हैं। अर्थात् जब तक हम उनको लौकिक दृष्टि से देखते हैं, तब तक वे अवश्य दुःख के कारण होते हैं। संसार में शोकहर्षादि अवश्य होते हैं; किन्तु जब वे काव्य के संसर्ग से अर्थात् काव्य के विषय बन जाते हैं और अलौकिक विभाव कहलाने लगते हैं, तब उनसे सबको सुख होता है।

अयोध्याकांड (रामायण) में रामवनगमन का दृश्य करुण-रस का अच्छा उदाहरण है। किन्तु ऐसे विरले ही होंगे जो यह चाहते हों कि उन्हें इस असह्य शोक का अनुभव करना पड़े। भयानक स्थानों का वर्णन पढ़ना सब कोई चाहता है, किन्तु उन भयानक स्थानों में जाकर भयानक-रसास्वादन बहुत कम लोग चाहते हैं! ऐसे बहुत-से लोग हैं जो दुःख उठाने को ही सुख समझते हैं और भयजनक अपरिचित स्थानों में जाने के लिये सदा तत्पर रहते हैं; किन्तु उन लोगों की मानसिक स्थिति काव्य-रसामृत पीनेवाले रसिकों से कुछ भिन्न है। इससे यह न समझा जाय कि कविता का आनन्द कृत्रिम है। भाव के वास्तविक अनुभव,

तथा उस अनुभव की स्मृति और कल्पना द्वारा काव्य में रसास्वादन का अनुभव, दोनों एक-से हैं, किन्तु एक नहीं। रस में एक रुचि-विशेष वर्तमान रहती है, जो वास्तविक अनुभव में नहीं। हमारे भावों के वास्तविक अनुभव भी काव्यानुभव से स्पष्टता प्राप्त करते हैं और काव्यानुभव वास्तविक अनुभव से पुष्ट होता है। वसन्त-ऋतु जैसा शृंगार-रसज्ञ को आनन्द देती है, वैसा साधारण मनुष्य को नहीं। जिसको वसंत-ऋतु की शोभा और सुख-सृष्टि का यथार्थ अनुभव नहीं, उसके लिये वसंत-वैभव-वर्णन विशेष रुचिकर न होगा। ठीक है—'रस बिनु भाव, न भाव बिनु रस'। रस में वास्तविक अनुभव की अपेक्षा एक प्रकार की चित्त की ग्राहकता और रुचि की अधिकता रहती है।

रस को स्थायी भाव की परिपक्वावस्था कहा है। यह ठीक है; किन्तु इसके साथ वास्तविक अनुभव के भाव और रस के भाव में जो अन्तर है सो ध्यान में रखना आवश्यक है। वास्तविक अनुभव को लौकिक कहा है और रस को अलौकिक कहा है। वास्तविक अनुभव व्यक्तियों में संकुचित होता है। किन्तु लौकिक अर्थात् व्यक्तिगत रति वा उत्साह का भाव जब काव्य का विषय बनकर रस की उत्पत्ति करता है, तब वह व्यक्तिता को छोड़ साधारणता धारण कर लेता है, अर्थात् उसका साधारणीकरण हो जाता है। इसको विभावन-व्यापार भी कहते हैं। काव्य में जिस रति का वर्णन होता है वह न तो द्रष्टा वा श्रोताओं के लौकिक-सम्बन्धजन्य रति होती है और न लौकिक नायक-नायिकाओं की रति ही। वह तो एक साधारणी-कृत रति होती है, जो मनुष्य-सम्बन्ध से हमारे आनन्द का विषय बनती है।

काव्य का पढ़ना हममें सहृदय भाव की जागृति कर देता है और जब दूसरों की रति, उत्साह वा शोक काव्य में रस के उत्पादक होते हैं, तब वे न अपने समझे जाते हैं, न पराये, केवल भाव-रूप होते हैं। देखिये, साहित्य-दर्पणकार क्या कहते हैं—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥

रसास्वादन के समय में विभावादिकों में यह नहीं भेद किया जाता कि ये पराये हैं वा पराये नहीं हैं, अथवा मेरे हैं वा मेरे नहीं। वे साधारण रूप से ही प्राप्त होते हैं। साहित्य और काव्य मनुष्य को व्यक्तिता से बाहर ले जाकर व्यापक भावों के सुखसागर में मग्न कर देते हैं। जब तक भाव व्यक्तिगत रहते हैं तब तक सामाजिक आनन्द के विषय नहीं हो सकते। रस की उत्पत्ति में विभावन, अनुभावन और सञ्चारण तीन व्यापार माने गये हैं।

विभावन की इस प्रकार परिभाषा की गई है—

"तत्र विभावनं रत्यादिर्विशेषेणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम्"

रत्यादिकों को विशेष रूप से आस्वादनयोग्य बनाने को विभावन अनुभावन, और—

"अनुभावनमेवंभूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनं"

आस्वादन के योग्य बने हुए रत्यादिकों को रसादि रूप दे देना अनुभावन कहलाता है।

"सञ्चारणं तथा भूतस्यैव तस्य सम्यक्चारणम्"

उस प्रकार रस-रूप प्राप्त होने पर उसका पूर्ण रूप से सञ्चार करना सञ्चारण कहलाता है।

ये तीनों व्यापार सब रस-सामग्री के होते हैं। अभिप्राय यह है कि विभावन केवल विभावों का ही नहीं होता वरन् अनुभाव और सञ्चारी का भी ! और इसी प्रकार अनुभावन केवल अनुभाव का ही नहीं होता वरन् विभाव तथा सञ्चारी दोनों का। जो लोक में कार्य्य होते हैं वे काव्य में कारण बन जाते हैं। लौकिक अनुभाव-विभावों और स्थायी भाव के कार्य होते हैं, किन्तु काव्य में विभावन-संस्कार द्वारा वे कारण होते हैं। साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—

कार्यकारणसञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः॥

अर्थात् लोक में कार्य्य-कारण तथा सञ्चारी-रूप रस के उद्बोधन में कारण-रूप होते हैं। ये विभावादि तभी तक पृथक् समझे जाते हैं, जब तक रस की उत्पत्ति नहीं होती। रस की उत्पत्ति में ये सब मिलकर एक अलौकिक आनन्द उत्पन्न कर देते हैं। शरबत या ठंडाई जो बनाई जाती है उसमें शर्करा, काली मिर्च आदि ठंडाई बनने से पूर्व ही अलग-अलग रह सकती हैं, किन्तु जब शरबत या ठंडाई बन जाती है तब उसको न शक्कर कह सकते हैं, न काली मिर्च, न सौंफ। वह सब एक वस्तु ठंडाई होती है। इसी प्रकार जब रस की उत्पत्ति हो जाती है तब विभाव-अनुभावादि पृथक् कारण नहीं रहते। उनको पीछे से विचार में अलग कर सकते हैं; किन्तु रसास्वादन में वे अलग नहीं किये जा सकते। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्॥

प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्।

अर्थात् पहले विभावादि पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इसके पश्चात् विभावादि सब मिलकर सहृदय जनों के हृदय में आस्वादित हो शरबत की भाँति एक अखंड रस में परिणत हो जाते हैं। और भी कहा है—

विभावानुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः।
प्रतीयमानः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम्॥

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव पहले अलग खण्ड-रूप दिखाई पड़ते हैं; किन्तु रस के परिपाक होने पर वे अखंड हो जाते हैं, अलग-अलग नहीं दिखाई पड़ते। अब प्रश्न यह है कि मन में जो रस उत्पन्न होता है वह शब्दों की किस शक्ति से होता है। इसके लिये यह माना गया है कि रस की उत्पत्ति व्यञ्जना द्वारा होती है; क्योंकि रस में जो आनन्द होता है वह अभिधा और लक्षणा द्वारा नहीं प्राप्त होता। यह व्यञ्जना भी साधारण व्यञ्जना नहीं। इसलिये इसकी विलक्षणता के कारण रस के व्यक्त होने में रसना ही एक विशेष वृत्ति मानी गई है।

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसानाख्यां परे विदुः॥

अर्थात् उसको बुध-जन व्यञ्जना नामक वृत्ति कहते हैं; किन्तु रस के स्पष्ट होने में जो वृत्ति काम आती है उसे दूसरे लोग रसना कहते हैं।

सारी विवेचना का तात्पर्य यह है कि रस की अभिव्यक्ति एक अलौकिक व्यापार है। वह एक अखंड रस है, जो अपने अङ्गों से भिन्न एवं विलक्षण है। शब्दों की साधारण शक्ति के

अतिरिक्त एक विशेष शक्ति मन में रस-सम्बन्धी आनन्द को उत्पन्न करती है।

यद्यपि रस में विभावादि अलग नहीं हो सकते तथापि विचार में उनकी पृथक् विवेचना की जा सकती है और उनका ज्ञान रस के आस्वादन में सहायक होता है। उनकी उत्तमता तथा संगति के ऊपर ही रस का आनन्द निर्भर है। अतः इनपर विवेचना करना अनुपयुक्त न होगा। काव्य में वर्णित विभावादि के लौकिक पर्य्याय मनोविज्ञान के विषय हैं और उनकी विवेचना में बहुत-सी मनोविज्ञानसम्बन्धी सामग्री मिलती है।

रस का आधार भाव है। रसों की व्याख्या भावों का मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान का विषय मनुष्य का मन है। मनुष्य के मानसिक संस्थान के समझाने के कई उपाय हैं, आन्तरिक निरीक्षण (Introspection) एवं बाह्य-निरीक्षण (Observation) यह बाह्य-निरीक्षण दो प्रकार का होता है—एक तो मनुष्य के व्यवहार को प्रत्यक्ष में देखने से और दूसरा मनुष्य के भावों को साहित्य तथा इतिहास में पढ़ने से। हमारे यहाँ के साहित्यिक ग्रन्थों ने भावों के सम्बन्ध में बड़ा काम किया है। इन ग्रन्थों में भावों पर विवेचना करने की सामग्री ही मात्र नहीं है, वरन् भावों का वर्गीकरण तथा उनके कारण एवं कार्य्य भी बतलाये गये हैं।

मनोविज्ञान में भावों का स्थान—काव्य की आत्मा रस है और रस आस्वादनजन्य आनन्द को कहते हैं। यद्यपि सब भाव काव्य में आकर—एक प्रकार की साधारणीकरण-क्रिया द्वारा, जिसको पारिभाषिक भाषा में विभावन कहते हैं—एक आनन्द-स्वरूप बन जाते हैं, तथापि वे अपना-अपना व्यक्तित्व उस साधा-

रणीकरण में भी स्थापित रखते हैं। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि काव्य का विषय भावमय संसार है तो कुछ अनुचित न होगा; क्योंकि जो कुछ कवि कहता है—चाहे वह अपनी बात हो या दूसरे की—वह अपना ही भाव वर्णन करता है। जहाँ दूसरे का भाव भी वर्णन करता है, वहाँ उसका इस प्रकार वर्णन करता है मानों उस भाव ने कवि को प्रभावित किया है। यहाँ पर मनोवैज्ञानिक रीति से भावों की कुछ व्याख्या देना आवश्यक है।

साधारण रूप से हमारे मानसिक संस्थान में तीन प्रकार के अनुभव माने जाते हैं—

(१) समवेदनात्मक—जिनको अंगरेज़ी में Sensation कहते हैं, (२) भावात्मक—जिनको अंगरेज़ी में Feelings कहते हैं, और (३) संकल्पात्मक—जो अंगरेजी में Conation कहे जाते हैं। मेरे सामने एक पुस्तक रक्खी है। पुस्तक की स्थिति मात्र का अनुभव समवेदन (Sensation) है। यदि वह पुस्तक मेरी ही लिखी है और समाचारपत्रों में उसकी बढ़िया समालोचना निकल रही है तो उसके देखने से जो गौरव तथा हर्ष का अनुभव होगा वह Feelngs कहलावेगा। यदि वह पुस्तक ऐसे मनुष्य की है जिसके प्रति मुझे घृणा हो और जिसने अनुचित ख्याति पाई हो, तो उसको देखकर जो घृणा का अनुभव होगा वह भी एक प्रकार का भाव है। यदि घृणा का भाव इतना बढ़ जाय कि उस पुस्तक को उठाकर फेंक देना चाहूँ अथवा उसकी खंडनात्मक समालोचना द्वारा धोखे की टट्टी को उठाकर ढोल की पोल खोल देने की प्रबल इच्छा करूँ, तो यह अनुभव

संकल्प (Conation) गिना जायगा। यद्यपि हमारे साधारण अनुभव में तीनों प्रकार के अनुभव मिले रहते हैं तथापि समय-समय पर एक किसी प्रकार के अनुभव की प्रधानता हो जाती है और वह उसी नाम से पुकारा जाने लगता है। कई मनोवैज्ञानिकों ने भाव को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया है। भावों के सम्बन्ध में तीन मनोवैज्ञानिक मत हैं—

(१) भाव एक न एक प्रकार का समवेदन ही है—जिस प्रकार दर्द के साथ दुःख का भाव होता है; किन्तु वह एक प्रकार का भौतिक समवेदन ही है। उसका सम्बन्ध विशेष स्नायुओं से है। उन लोगों के मत से सभी भाव या तो हर्षात्मक हैं या विषादात्मक। और, जितने विषादात्मक भाव हैं उनका किसी न किसी प्रकार की शारीरिक वेदना से व्यवहित वा अव्यवहित (Direct or Indirect) सम्बन्ध है। जिस प्रकार हमको भौतिक कारणों से गर्मी, सर्दी, चिकने, खुरखुरे की समवेदना होती है उसी प्रकार दुःख-सुख भी एक प्रकार की समवेदना हैं। पीडासम्बन्धी स्नायु कुछ शरीर-विज्ञानवेत्ताओं ने खोज भी लिये हैं; किन्तु हर्षसम्बन्धी स्नायु नहीं मिले हैं। वे भावों की स्वतन्त्रता स्थापित करते हैं। इस मत के पक्षवाले कहते हैं कि हर्ष का भौतिक आधार गुलगुलाने में एवं साधारण स्वास्थ्य में है। James-Lange की कल्पना में हम रोते पहले हैं और दुःख पीछे होता है, यह बात इसी मत के अनुकूल है। यह मत विलियम जेम्स (William James) महाशय ने अपनाया है। इस मत से अनुभाव साधारण क्रिया द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं। अनुभावों का अनुभव ही भाव है। साधारण मत यह है कि

पहले बाह्य कारणों द्वारा मन में भाव की उत्पत्ति होती है और पीछे से भाव के व्यञ्जक वा परिचायक का अनुभाव होता है। James-lange की कल्पना के अनुकूल हर्ष, विषाद, भय, घृणा आदि के अनुभाव स्वाभाविक प्रवृत्ति-रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। भयानक वस्तु देखकर पैर अपने-आप भागने के लिये उठने लगते हैं और उस स्थिति का अनुभव भय कहलाता है। यद्यपि इस कल्पना में थोड़ा सत्य का अंश है तथापि हमारा अनुभव हमको यह बतलाता है कि हमारे भाव ही हमारे शारीरिक व्यञ्जनों के—जिनको साहित्यिक भाषा में अनुभाव कहते हैं—उत्पादक होते हैं। एक ही वस्तु हमको एक ही समय में सताती है और दूसरे समय में हँसाती है। यदि सब बातें स्वाभाविक होतीं तो ऐसा न होता। यदि हम अपने मित्र का नाम मृत्यु-सम्बन्ध में पढ़ते हैं तो वही लौहाक्षर हमें रुलाते हैं। यदि वही अक्षर किसी गौरव-पूर्ण घटना के सम्बन्ध में हों—जैसे, परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होना या कोई उच्च पद प्राप्त करना—तो हमको प्रसन्न-वदन बना देते हैं। अक्षर हमको सताते या हँसाते नहीं। अक्षरों से जो मानसिक भाव होते हैं वही हँसी की खिलखिलाहट या विषाद की रुलाहट में प्रकट होते हैं।

(२) भावों के सम्बन्ध में दूसरा मत यह है कि समवेदनाएँ तो नहीं हैं, परन्तु समवेदनाओं के गुण हैं। जिस प्रकार प्रत्येक समवेदना में मंदता तथा तीव्रता का गुण रहता है उसी प्रकार प्रत्येक समवेदना में सुखमय वा दुःखमय होने का गुण रहता है। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि हमारे

बहुत-से सुख-दुःख समवेदनाओं से सम्बन्ध न रखकर केवल मानसिक ही होते हैं। कवि का मनोराज्य कल्पना के ही संसार से सम्बन्ध रखता है। इस मत के पक्षपाती यह कहेंगे कि कल्पनाओं का मूलाधार समवेदनाओं में ही है।

(३) तीसरे मत के अनुसार, भाव—समवेदना और संकल्पों की भाँति—स्वतन्त्र स्थान रखते हैं। इस मत के अनुयायी अपने मत की पुष्टि में निम्नोल्लिखित युक्तियाँ देते हैं—

(क) समवेदनाओं की भाँति भावों का कोई स्थान नहीं होता। प्रत्येक समवेदन किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध रखता है और यदि वह समवेदन पीड़ात्मक हो तो उसका कोई स्थान-विशेष होता है। पीड़ा कहीं न कहीं होती है, चाहे सिर में हो या पाँव में। भाव के लिये इस प्रकार स्थान निर्दिष्ट नहीं किया जाता, न उसके लिये कोई इन्द्रिय-विशेष है।

(ख) भाव विषयी से सम्बन्ध रखते हैं और समवेदन विषय से। इसका अभिप्राय यह है कि भावों का उदय वा अस्त किसी बाह्य पदार्थ की उपस्थिति वा अनुपस्थिति पर निर्भर नहीं रहता। समवेदन सदा किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा रखता है।

(ग) भाव प्रत्येक मनुष्य के भिन्न-भिन्न होते हैं। एक ही वस्तु से दो मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों की उत्तेजना हो सकती है; किन्तु दोनों मनुष्यों का वस्तुसम्बन्धी समवेदनात्मक ज्ञान प्रायः एक-सा ही होगा।

(घ) भाव में प्रायः श्रेणियाँ रहती हैं; समवेदन में नहीं। मेरी पुस्तक सम्मुख है तो वह पुस्तक ही रूप से दृष्टिगोचर होगी, न्यूनाधिक नहीं। भाव भी प्रायः न्यूनाधिक रहता है और

वह विचार करने से तथा ध्यान देने से पुनः न्यूनाधिक्य को प्राप्त हो सकता है।

अंगरेजी में भाव (Feeling) और आवेग (Emotions) वा मनःक्षोभ, भाव के अन्तर्गत केवल सुख-दुःखसम्बन्धी भाव ही माने गये हैं तथा क्रोधादि मनःक्षोभों को Emotions कहा है। इस पुस्तक में भाव के व्यापक अर्थ में दोनों ही आ गये हैं। अंगरेजी में भी Emotions, Feelings के ही अन्तर्गत माने जाते हैं। साहित्य का विशेष सम्बन्ध मानसिक संस्थान से नहीं है तथापि भाव आदिकों का वर्णन साहित्य में आने से मनुष्य का मानसिक संस्थान का ज्ञान साहित्य के लिये आवश्यक हो जाता है। मनुष्य का मानसिक संस्थान मनोविज्ञान का विषय है। साहित्य में बने-बनाये भावों से काम पड़ता है। मनोविज्ञान उनकी बनावट, उत्पत्ति आदि पर भी विवेचना करता है। मनोविज्ञान के लिये साहित्य से सामग्री मिलती है और मनोविज्ञान से साहित्य में वर्णित पात्रों के उद्देशों के समझने में सहायता मिलती है।

दूसरा अध्याय

रस-सामग्री

स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव—ये चारों भाव रस के अङ्ग माने गये हैं। इन्हीं के मिलने से रस की उत्पत्ति होती है। इसी कारण इनको रस-सामग्री कहते हैं। देखिये—

> चारि भाव ते यह सुरस, होहि लेहु तेहि जान।
> रस-सामग्री भाव तेहि, कहहिं सकल विद्वान॥

स्थायी भाव, जिसको हिन्दी-ग्रन्थों में स्थायी भाव—थिति—कहा है, रस का मूल आधार है। साहित्य-ग्रन्थों में रस को स्थायी भाव की परिपक्वावस्था माना है। कहा है—

> स्थाई रस को मूल है, अटल रूप तेहि जान।
> प्रति रस इक इक होत हैं, कहहिं सुकवि गुनवान॥

स्थायी भाव उस स्थिर अवस्था को कहते हैं जो और सब परिवर्तन होनेवाली अवस्थाओं में एक-सी रहती हुई उन अवस्थाओं में दब नहीं जाती वरन् उनसे पुष्ट होती रहती है। मोटे शब्दों में मुख्य भाव को स्थायी भाव कहते हैं। अन्य भाव इन भावों के सहायक एवं वर्द्धक होते हैं।

> विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
> आत्मभावे नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥

जो भाव अपने में और भावों को मिला लेता है और उनसे पराजित नहीं होता, वही स्थायी भाव है । साहित्य-दर्पणकार ने इस प्रकार व्याख्या की है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
अस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ।।

अर्थात् अविरुद्ध अथवा विरुद्ध जिस भाव को न छिपा सकें और जो आस्वादन-अंकुर का (अर्थात् आस्वादन-रूप रस तथा आनन्द का) मूल हो अर्थात् जड़ हो वही स्थायी भाव कहलाता है ।

माला मधि ज्यों सूत्र त्यों, विभावादि में आनि ।
आदि अन्त रस माँहिं थिर, थाई भाव बखानि ।।

—(रसिक-रसाल)

शृंगार का स्थायी भाव रति है (प्रिया की, प्रियतम के मिलन की इच्छा से उत्पन्न हुई, अपूर्व प्रीति को रति कहते हैं) । देवजी ने रति का इस प्रकार लक्षण दिया है—

नेक जो प्रिय जन देख के आन भाव चित होय ।
सो तासों रति भाव है कहत सुकवि सब कोय ।।

यह शृंगार की स्थिरावस्था है । किन्तु शृंगार-रस के अनुकूल बहुत-से भाव हैं । शंका, असूया, चिन्ता, स्वप्न, गर्व, स्मृति, श्रम, ग्लानि, आलस्य, हर्ष, उत्कण्ठा, विषाद, उन्माद, लज्जा आदि ये सब शृंगार-रस में वर्त्तमान हैं । किन्तु शृंगार का स्थायी भाव रति है, अतएव इन सब सञ्चारी—(जो भाव रस के उपयोगी होकर जल की तरङ्गों की भाँति उसमें सञ्चरण करते हैं, उनको सञ्चारी भाव कहते हैं)—भावों के ३३ भेद हैं । स्थायी भाव के साथ ही सञ्चारी भाव लगे हुए हैं । सञ्चारी भावों का मानना

मनोविज्ञान के लिये बड़ी मुख्यता रखता है। वास्तव में हमारे मन के भाव टकसाली रुपये वा बालू के कणों की भाँति पृथक्-पृथक् नहीं रहते। हमारा मानसिक जीवन बड़ा संकुल है। एक भाव के साथ अनेक भाव लगे रहते हैं। करुणा के साथ दीनता, दया, ग्लानि, असंतोषादि बहुत-से भाव मिश्रित रहते हैं। उत्साह के साथ आत्माभिमान, धीरता आदि कई भाव लगे हुए हैं। कोई भाव एकाकी वर्त्तमान नहीं रहता। एक भाव के साथ बहुत-से छोटे भावों की शृंखला लगी रहती है। साहित्य-ग्रंथों में हमारे मानसिक संस्थान की संकुलता पर पूरा ध्यान दिया गया है। स्थायी भावों का सञ्चारी भावों के ही साथ मिश्रण नहीं होता वरन् अन्य स्थायी भावों के साथ भी वहाँ पर एक प्रधान और शेष गौण हो जाता है। इसीलिये रसों में शत्रुता और मित्रता कही गई है। हमारे यहाँ के लोगों ने इसपर भी खूब विचार कर लिया है कि कौन-कौन-से भावों की अनुकूलता और कौन-कौन-से भावों की प्रतिकूलता है। हास्य और करुण, शृंगार और बीभत्स का योग कठिन होता है। एक शृंगार में करुण, हास्य, वीर, अद्भुत सब मिल जाते हैं।

विभाव और अनुभाव

ऊपर भावों की व्याख्या करते हुए बतलाया जा चुका है कि 'भाव' ज्ञान और क्रिया के बीच की स्थिति को बताते हैं। 'भाव' एक प्रकार का विकार है। कोई विकार स्वयं उत्पन्न नहीं होता और न सहज में उसका नाश हो जाता है। एक विकार दूसरे विकारों को उत्पन्न करता है। जो व्यक्ति, पदार्थ वा बाह्य-परिवर्तन

वा विकार, मानसिक भावों को उत्पन्न करते हैं उनको 'विभाव' कहते हैं; और जो शारीरिक विकार, क्रिया के प्रारम्भिक रूप होते हैं, उन्हें 'अनुभाव'। भयानक वस्तु, निर्जन स्थानादि का वर्णन भयानक रस के विभाव हैं; और खेद, कम्प, पलायन आदि अनुभाव। विभाव कारण-रूप माने जाते हैं। अनुभाव कार्य्य-रूप और सञ्चारी-सहकारी कहे जाते हैं। स्थायी भाव और अनुभाव दोनों ही विकार हैं। दोनों ही को भाव माना है। एक मानसिक भाव है और दूसरा शारीरिक। हमारे यहाँ 'भाव' शब्द अँगरेजी के 'Feeling' और 'Emotion' से अधिक विस्तृत अर्थ रखता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि जो भावों की विवेचना की गई है वह लौकिक है। साहित्य के विभाव-अनुभाव व्यक्ति के विभाव-अनुभाव नहीं हैं; परन्तु साधारणीकृत विभाव-अनुभाव हैं। भाव, स्थायी भाव, सञ्चारी भाव, अनुभाव की परिभाषा विविध साहित्य-ग्रन्थों में बड़ी अच्छी दी हुई है—

रस अनुकूल विकार सों, भाव कहत कवि धीर।
चित्त जनित अन्तर कहत, दूजो है सारीर॥
द्वै विधि अन्तर भाव है, थाई अरु सञ्चारि।
स्तम्भादिक जे आठ विधि, ते सारीर विचारि॥

यद्यपि सात्विक भी अन्तर-भाव है, परन्तु शरीर से प्रकट होने के कारण शारीर है।

विभाव, अनुभाव आदि के विषय में आजकल अमेरिका के मनोविज्ञानवेत्ता स्वर्गीय विलियम जेम्स (William James) की निकाली हुई कल्पना बड़ी विवादास्पद बन रही है। उस कल्पना के अनुसार अनुभाव का ज्ञान ही भाव है। अर्थात्

शोक के कारण अश्रुपात नहीं होता वरन् अश्रुपात का ज्ञान शोक का स्थायी भाव उत्पन्न करता है। उनके मत से करुणा का विभाव, प्रिय वस्तु का नाश, अग्निदाहादि होते ही शरीर की स्वाभाविक क्रिया से अश्रुपात होने लगता है और उस अश्रुपात तथा दीर्घ-निःश्वास का ज्ञान ही शोक है। शोक तो अश्रुपात का कारण नहीं, वरन् कार्य्य है।

किन्तु, हमारे यहाँ जो भावों का वर्णन है वह इस कल्पना के विरुद्ध पड़ता है। इस कल्पना का आजकल बहुत खंडन हो चुका है। हमारे यहाँ के रीति-ग्रन्थों के पढ़नेवालों को इस कल्पना का पूरा-पूरा खंडन मिल जाता है। कई भावों के अनुभाव एक ही मानें गये हैं। कम्प, रति और भय दोनों ही में होता है। यही हाल स्वेद का है। यदि कम्प से भय होता तो दूसरे स्थानों में रति क्यों होती? अनुभाव शब्द भी यही बतलाता है कि शारीरिक भाव तो आन्तरिक भाव के पीछे (अनुपश्चात्) आनेवाले माने गये हैं। भावों के अनुभव को अनुभाव कहा है न कि अनुभावों के अनुभव को। 'रस, अनुभव, अनुभाव, सात्विक सुरस झलकावन।' "अनुभावः विकारस्तु भावससूचनात्मकः" भावों के सूचक को अनुभाव कहा है। जेम्स साहब की कल्पना में जितना सत्य का अंश है वह शारीरिक और आन्तरिक भावों को भाव ही के नाम से निर्दिष्ट करने में आ गया है। शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को केवल 'भाव' शब्द मात्र से पुकारने के कारण मन एवं शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना व्यञ्जित होता है। विभाव, रस के उपजानेवाले को कहते हैं। देवजी ने विभाव का इस प्रकार लक्षण दिया है—

जे बिसेष कर रसन को, उपजावत है भाव।
भरतादिक सतकवि सबै, तिनसों कहत बिभाव॥

विभाव दो प्रकार के माने गये हैं। एक आलम्बन, दूसरा उद्दीपन। आलम्बन ही भाव के उदय का मूल कारण है। (जिस के आश्रय से रस की स्थिति होती है उसको आलम्बन-विभाव कहते हैं, और जो रस को उत्तेजित करते हैं उन्हें उद्दीपन विभाव) उद्दीपन तो भाव का पोपक, सहायक तथा वर्धक है।

रस उपजै आलम्ब जेहि, सो आलम्बन होय।
रसै जगावे दीप ज्यों, उद्दीपन कहि सोय॥

रति के उत्पन्न करनेवाले नायिका-नायक हैं। चन्द्रोदय, चन्दन, चञ्चला, त्रिविध समीरादि (सखा, सखी, दूती, ऋतु, पवन, वन, उपवन, पुष्प, परागादि) रति के परिपोषक हैं। विभावों का आलम्बन, उद्दीपन रूप से विभाग कर देना भी मनोविज्ञान के लिये मुख्यता रखता है।

प्रत्येक वस्तु की शक्ति हर समय एक-सी नहीं रहती। जो बात दिन में साधारणतया सुहावनी दृष्टिगोचर होती है, रात्रि में वही भयङ्कर प्रतीत होती है। जैसे नदी-पर्वतादिक प्रत्येक वस्तु के लिये उचित देश, काल चाहिये। समय की गाली भी रुचती है। जिस प्रकार नग के लिये अँगूठी की आवश्यकता है, उसी प्रकार आलम्बन-विभाव के लिये उद्दीपन की आवश्यकता है। उद्दीपन करनेवाले पदार्थों का कार्य एक और भी है। वे पूर्वानुभूत सुखों वा दुःखों की स्मृति को जाग्रत कर भावों को तीव्र कर देते हैं। यथा—

एते त एव गिरयो विरवन् मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि।
आमञ्जुवञ्जुललतानि चतान्यमूनि,
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि॥

ये गिरि सोई जहाँ मधुरो, मदमत्त मयूरिनि की धुनि छाई।
या वन में कमनीय मृगानि की, लोल कलोलनि डोलनि भाई॥
सोहे सरित्तट धारि घनी, जल बृच्छन की नवनील निकाई।
बञ्जुल मञ्जु लतानि की चारु, चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥

स्वर्गीय पं० सत्यनारायणकृत पद्यानुवाद

गिरि, वृत्त, मयूर, हरिण, वनस्थली, लता-जाल एवं सुरम्य नदी-तट का सहज सुहावना दर्शन, पूर्वानुभूत सुख की स्मृति को जाग्रत कर रहा है। शम्बूक-वध के लिये आये हुए श्रीरामचन्द्र जी के मन में सती सीता के वनवास-जन्य विषम विरह-वेदना को यह सुख-स्मृति की जागृति और भी असह्य कर देती है। सीता-सह-वनवास के स्मारक दृश्यों के देखने से भी रामचन्द्रजी के मन में जो विरह-संताप की तीव्रता हुई है, सो उत्तर-रामचरित के निम्नोद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है। देखिये, रस को परिपक्वावस्था तक पहुँचाने में उद्दीपन कहाँ तक सहायक होते हैं—

"हा! यह वही पंचवटी है! यहीं अनेक दिन निवास करने के कारण ये प्रदेश हमारे विविध-स्वच्छ-विहारों के साक्षी हैं। यहीं प्रिया की प्यारी सखी वनदेवी वासन्ती रहती है! हाय! मुझपर न जाने यह क्या अनर्थ टूट पड़ा! कुछ समझ में नहीं आता।"

कैधौं चिर सन्तापज अति तीव्र विष-रस,
फैलि सब तन माहिं रोम-रोम छायो है।
कैधौं धाय कितहू ते शल्य को शकल यह,
वेग सों हृदय मधि सुदृढ़ समायो है।
कैधौं कोऊ पूरित मरम धाय खाय चोट,
तिरकि भयंकर विमल हरि आयो है।
होइ न विरह-शोक घनीभूत कोऊ दुःख,
करि जाने विकल मो चेतहू भुलायो है॥

भीमान्धकार की विद्यमानता बाल्यकाल में सुनी हुई लोम-हर्षण दन्तकथाओं की स्मृति को जाग्रत कर भय को बेतरह बढ़ा देती है।

आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही भावों के उपजानेवाले हैं। किन्तु उनमें से आलम्बन ही मुख्य है। उद्दीपक पदार्थ का मूल्य आलम्बनभूत पदार्थ के सम्बन्ध में ही है। यदि नायक और नायिका न हों तो पीयूष-प्रवाहिनी शरच्चन्द्रिका, कमनीय केलि-कुञ्ज, विकच-कमल-मण्डित पुष्करिणी, सुखद मलयज, मन्द मारुत, मनोन्मादक कल-कण्ठ-कूजन एवं मधुर-मुखरित मुरली से कोई प्रयोजन नहीं।

स्थायी भाव, अनुभाव, विभाव आदि सञ्चारी भावों का रस के सम्बन्ध में जो कार्य है वह देव कवि के 'काव्य-रसायन' से दिया जाता है—

रस अङ्कुर थाई भाव रस के उपजावन,
रस अनुभव अनुभाव सु सात्विक रस झलकावन।
छिन छिन नाना रूप रसन सञ्चारी उझके,
पूरन रस संजोग विरह रस रंग समुझि के।

ये होत नायिकादिकन में इत्यादिक रस भाव षट्,
उपजावत श्रृंगारादि रस गावत नाचत सुकवि नट ॥

स्थायी भाव, सञ्चारी भाव, विभाव तथा अनुभाव, इन रसाङ्गों का एक दूसरे से सम्बन्ध तो सूक्ष्म रीति से बतलाया जा चुका है; अब इनके भेद बतलाये जाने शेष हैं।

स्थायी भाव—जितने रस उतने ही स्थायी भाव होते हैं। स्थायी भाव ही से रस की पहचान होती है। साहित्य-दर्पणकार ने स्थायी भाव इस प्रकार गिनाये हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥

देवजी के 'शब्द-रसायन' में इनकी गणना नीचे के दोहे में दी गई है—

रति हाँसी अरु सोक रिस, अरु उछाह भय जानु।
निन्दा बिसमय शान्त ये, नव थिति भाव बखानु ॥

रति (श्रृंगार), हास (हास्य), शोक (करुण), क्रोध (रौद्र), उत्साह (वीर), भय (भयानक), जुगुप्सा (वीभत्स), आश्चर्य (अद्भुत) और निर्वेद (शान्त)।

अब प्रत्येक स्थायी भाव की, साहित्यदर्पण के अनुकूल, व्याख्या की जाती है। देखिये—

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥
इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥
कार्य्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।

रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम् ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥

मन के अनुकूल वस्तु अर्थात् प्रीति के विषय नायक अथवा नायिकाओं में मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रति कहते हैं। वाणी, वेश, भूषणादि की विपरीतता से जो चित्त का विकास होता है वह हास कहलाता है । इष्ट-नाशादि के कारण चित्त का वैक्लव्य अर्थात् व्याकुलता को शोक कहते हैं । विरोधी शत्रु आदिकों के विषय में तीक्ष्णता के ज्ञान को क्रोध कहते हैं। (हम इसको किसी प्रकार नष्ट कर सकें, ऐसी दुर्भावना को तीक्ष्णता कहते हैं ।) युद्ध एवं अन्य सत्कार्यादि के आरम्भ में दृढ़ता तथा उत्कट आवेश को उत्साह कहते हैं, अर्थात् किसी भी दुर्घट कार्य के समारम्भ में ऐसा विचार करना कि हम इसको अवश्य करेंगे, चाहे जीवित रहें या मर जायँ; ऐसा दृढ़ निश्चय उत्साह कहलाता है। किसी रौद्र भयंकर वस्तु की शक्ति से उत्पन्न, चित्त को व्याकुलता देने वाला भाव-भय कहलाता है। किसी वस्तु में दोष देखने पर जो घृणा उत्पन्न होती है उसे जुगुप्सा कहते हैं। लोक की सीमा को उल्लंघन करनेवाले अलौकिक शक्ति से युक्त किसी वस्तु के दर्शनादि से उत्पन्न चित्त के विस्तार को विस्मय कहते हैं। किसी वस्तु के लिये इच्छा न होने को निस्पृहा कहते हैं। ऐसी निस्पृहता की अवस्था में अपनी आत्मा का आश्रय लेने का जो सुख होता है उसको शम कहते हैं ।

विभाव की व्याख्या प्रत्येक रस के साथ पृथक्-पृथक् की जायगी; क्योंकि प्रत्येक रस के विभाव पृथक् होते हैं।

सञ्चारी

साहित्यदर्पणकार ने सञ्चारी भावों की इस प्रकार व्याख्या की है। देखिये—

> विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
> स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्विदाः॥

जो विशेषतया अनियमित रूप से चलते हैं वे व्यभिचारी कहलाते हैं। ये स्थायी भाव में समुद्र की लहरों की भाँति आविर्भूत तथा तिरोभूत होकर अनुकूलता से व्याप्त रहते हैं, अर्थात् ये ऐसे होते हैं कि स्थायी भाव के अनुकूल रहते हुए भी कभी प्रकट और कभी विलीन हो जाते हैं। ये स्थायी भाव के सहायक और पोषक होते हैं, अतः इनकी अनुकूलता आवश्यक है। सञ्चारी भावों को अन्तर-सञ्चारी वा मनःसञ्चारी भी कहा है। इन्हीं को व्यभिचारी भाव भी कहा है; क्योंकि एक ही भाव भिन्न-भिन्न रसों के साथ पाया जाता है। व्यभिचारी भाव तेत्तीस हैं जो नीचे के छन्दों में गिनाये जाते हैं—

> निरवेद, ग्लानि, संका, आलस, असूया, मद,
> स्रम, दैन्य, चिन्ता, मोह, सुमृति बखानिये।
> धृति, व्रीड़ा, हरष, चपलताई, जड़ता है,
> गरब, विषादहि, अवेग, पहचानिये॥
> उतकण्ठा निद्रा है स्वपन औ अपसमार,
> अवहित्था आमरष उग्र ताहिं मानिये।

व्याधि, मति, उनमाद, मरन, विबोध, त्रास,
बहुरि वितर्क व्यभिचारी नाम जानिये ॥

अर्थात् निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विषाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, आमर्ष, गर्व, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, हर्ष, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता तथा वितर्क—इस प्रकार तेंतीस सञ्चारी भाव हैं। अब इनका एक-एक करके वर्णन किया जाता है—

[१—निर्वेद]

इष्ट वस्तु की अप्राप्ति, प्रारब्ध कार्य की हानि, विपत्ति और अपराध तथा वैराग्य से जो अनुताप उत्पन्न होता है उसको निर्वेद कहते हैं। साहित्य-दर्पण में इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्यचिन्ताश्रुनिश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥

अर्थात् तत्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्यादिक के कारण स्वतः को धिक्कारने को निर्वेद कहते हैं। इसमें दीनता, चिन्ता—सञ्चारी हैं। दीर्घश्वास, विवर्णता एवं उछ्वास—अनुभाव हैं। निर्वेद शान्त-रस का स्थायीभाव है। और रसों में यह सञ्चारी रूप से रहता है। निर्वेद प्रायः करुण, शृंगार और वीभत्स में होता है। निर्वेद को विषाद भी कहते हैं। निर्वेद का उदाहरण 'बेनीप्रबीन' से दिया जाता है। इसका लक्षण इस प्रकार से दिया गया है—

निज तन को निदरै जहाँ, मन में सोच बिचार ।
ग्यान मूल निर्वेद है, कहत सुधी निरधार ॥

इसका उदाहरण देखिये—

बालपनो गयो खेलन में कछु द्योस गये फिर ज्वान कहाये ।
रीझि रहे रस के चसके कसके तरुनीन के भाव सुहाये ॥
पैरिबो सिन्धु पर्यो श्रम को स्रम को करि भोजन खोजन धाये ।
'बेनि प्रबीन' बिसै चहिरे कबहूँ नहिरे गुन गोबिन्द गाये ॥

यह निर्वेद साधारण ग्लानि और घृणा से भिन्न है। देवजी से इसका लक्षण और उदाहरण भी दिया जाता है—

चिन्ता अश्रु प्रकास कर, अति अनंग उर आनि ।
उपजै सात्विक भाव जहँ, अपनौ ही अपमानि ॥

उदाहरण

मोह मढ्यो चतुराइ चढ्यो चित गर्व बढ्यो करि मानत नातो,
भूल पर्यो तब तो मद मन्दिर सुन्दरता गुन जौवन मातो ।
सूझि परी कवि 'देव' सबै अब जानि पर्यो सगरो जग जातो,
नैसिक मो मे जो होतो सयान तो होतो कहा हरि सों हित हातो ॥

[२—ग्लानि]

ग्लानि का लक्षण इस प्रकार से दिया गया है—

भूख, प्यास अरु सुरत स्रम, निर्बल होइ सरीर ।
सिथिल होइ अवयव सु तब, ग्लानिहि कहैं सुधीर ॥

जब शरीर के अवयव भूख, प्यास, चिन्ता आदि के कारण शिथिल हो जाते हैं और मनुष्य उस शैथिल्य के साथ दुःख का अनुभव करता है, तब उसका वह भाव ग्लानि कहलाता है। इसमें कमज़ोरी, कम्प, काम करने में अनुत्साहादि होते हैं। यह

ग्लानि भी वैराग्य द्वारा 'शान्त' की साधक होती है। 'करुण' और 'वियोग' में यह पाई जाती है। इसका उदाहरण देवजी ने इस प्रकार से दिया है—

'रंग भरे रति मानत दम्पति बीत गई रतियाँ छिन ही छिन,
प्रीतम प्रात उठे अँगरात चितै चित चाहत धाइ गह्यो घन।
गोरी के गात सबै अलसात सुबात कही न परी सु रही मन,
भौंह नचाय चलाय के लोचन चाहि रही ललचाय लला तन॥

ग्लानि का साहित्य-दर्पण में इस प्रकार उदाहरण दिया है—

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं,
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घ शोकः।
ग्लपयति परिपाण्डुक्षाममस्याः शरीरं,
शरदिज इव धर्मः केतकी गर्भ पत्रम्॥

अर्थात् निर्वासित सीताजी के विषय में कहा गया है। यह शरीर वृन्त से अलग हुई कोमल कलिका की भाँति दुर्बल एवं पाण्डु वर्ण है। इसके शरीर को, हृदय-कुसुम का सुखानेवाला दीर्घ शोक सुखाता है जैसे कार की कड़ी धूप केतकी के भीतर के पत्ते को।

[३—शंका]

शङ्का का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

कहा कहै हमको कोऊ, यह भय मन में होइ।
संका तासों कहत हैं, पंडित ग्रन्थ बिलोइ॥

साहित्य-दर्पणकार के मत से अन्य की क्रूरता तथा अपने दोष आदि से अपने अनिष्ट की आशा करना शङ्का कहलाती है। इसमें विवर्णता, कम्प, इधर-उधर ताकना, मुँह सूखना आदि

होते हैं। भय में और शोक में नाना प्रकार की अनिष्ट शंका मन में उत्पन्न होती है। ये शङ्काएँ प्रायः अति प्रेम के कारण होती हैं। लोग कहा भी करते हैं कि अपने प्रिय जन के ही लिये मनुष्य बुरी शङ्काएँ किया करते हैं। यदि कोई प्रिय जन विदेश में हो अथवा बीमार हो तो लोग अपने मन में नाना प्रकार की अनिष्ट कल्पनाएँ करते हैं। यह सब प्रेमाधिक्य का ही कारण है। जिसके लिये प्रेम नहीं उसकी चिन्ता ही क्या ?

यद्यपि नन्द-यशोदा भगवान् कृष्ण के पराक्रम से भली भाँति परिचित थे तथापि जब कालीदह के फूलों की माँग आई तो वे मन में अत्यन्त शङ्कित हो दुःख करने लगे।

> नन्द सुनत मुरझाय गये।
> पाती बाँची सुनी दूत मुख यह बानी सुन चकृत भये ॥
> बल मोहन खटकत वाके मन आजु कही यह बात।
> कालीदह के फूल कहा धों को आने पछितात ॥
> और गोप सब नन्द बुलाये कहत सुनो यह बात।
> सुनहु 'सूर' नृप रँग यह आयो बल-मोहन पर घात ॥

श्रीकृष्णजी के मथुरा-गमन-समय राधिकाजी की शंका को देखिये। यद्यपि वह समझती हैं कि राजा ने श्रीकृष्णजी का निमन्त्रण प्रेम से ही किया है तथापि उन्हें शङ्का होती है कि उनके जाने में भला नहीं है।

> "यदपि नृपति ने है प्यार ही से बुलाया,
> पर कुशल हमैं तो है न होती दिखाती"
>
> —"प्रियप्रवास"

[४—असूया]

दूसरे की बड़ाई न सहकर उसका महत्त्व घटाने के अर्थ उसकी निन्दा करना असूया कहलाती है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

> क्रोध कुबोध, विरोध ते, सहै न पर अधिकार।
> उपजत है जिमि दुष्टता, आसूया निरधार॥

असूया के 'देवजी' ने तीन कारण बतलाये हैं—(१) क्रोध, (२) कुबोध, (३) विरोध।

जिसके लिये क्रोध होता है उसके साथ प्रतिकार करने का सङ्कल्प रहता है और सबसे बड़ा प्रतिकार यह होता है कि उसकी महत्ता घटा दी जाय। ऐसे विरले ही उच्चाशय पुरुष होते हैं जो अपने विरोधी की महत्ता को यथार्थ रूप में देख सकें और जब क्रोध का आवेग होता है तब मनुष्य किसी प्रकार से अपने विरोधी में गुण नहीं देख सकता। उसके गुण अवगुण-रूप ही दिखाई पड़ने लगते हैं। ऐसे क्रोध में विरोध और कुबोध द नों ही लगे रहते हैं। कुबोध का तो कहना ही क्या? महान पुरुषों की यह सहज प्रकृति है कि वे दूसरे अन्य महान पुरुषों का बड़प्पन नहीं सह सकते। उत्तर-रामचरित में इस बात को बड़े अच्छे रूप से बतलाया है—

> न तेजस्तेजस्वी प्रकृतिमपरेषां प्रसहते,
> स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।
> मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः,
> किमाग्नेयो ग्रावा निकृतइव तेजांसि वमति॥

इसका कविवर सत्यनारायण-कृत पद्यानुवाद इस प्रकार से है—

> नहिं तेजधारी सहत कबहूँ बढ़त अन्य प्रताप,
> यह प्रकृतिजन्य सुभाव उनको अटल अपने आप।
> यदि तपत नभ करि सूर्य्य अविरत किरन कुल विस्तार,
> किमि सूर्य्य मनि अपमान निज गिनि वमत अग्नि अपार॥

तुलसीदासजी ने भी इस डाह के भाव को बहुत ही अच्छी तरह बतलाया है—

> ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकहिं पराइ बिभूती।
> जो काहू की सुनहिं बड़ाई, स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥

असूया में दोष-कथन, भृकुटि-भङ्ग तथा तिरस्कारादि होते हैं।

शिशुपाल युधिष्ठिर द्वारा किये हुए श्रीकृष्णजी के सम्मान को न सह सका और उनकी अनेक प्रकार से निन्दा की। यह असूया का ही उदाहरण है।

जहाँ पर दूसरों के प्रकर्ष से अपनी महिमा घटती हो अथवा किसी प्रकार की हानि पहुँचती हो वहाँ असूया का भाव स्वाभाविक ही है। किन्तु लोग साधारणतया भी अपना बहुत-सा समय इस बात में बिताते हैं कि दूसरे को क्या हानि वा लाभ हुई; और जहाँ तक होता है उसके लाभ को छोटा करके दिखाना चाहते हैं। यह भाव शृंगार, रौद्र और कभी-कभी वीर में आ जाता है। यद्यपि सच्ची वीरता में असूया निन्दनीय मानी गई है, तथापि यह कहना पड़ेगा कि असूया का वीर में थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

देवजी ने असूया का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

गाँव की गोप बधू निकसीं बनिकै दुरि कै सब देहै बुलायो,
सोरहौ साजि सिंगार सबै बन देवन कौ बहु भेष बनायो।
राधिका के हिय हेरि हरा हरि के हिय को पिय को पहिरायो,
केती कहा तिय तीतिन मोतिन मोतिन सों तिनको तन तायो॥

[५—मद]

मद का लक्षण बेनीप्रबीन ने इस प्रकार बतलाया है—

नामहि लच्छन जानिये, बरनत है सब कोइ।
धन जोबन ते रूप ते, आसव से मद होइ॥

मद 'नशे' को कहते हैं और साधारणतया यह शराब के पीने से, धन, रूप वा यौवन के आधिक्य से होता है। धन भले आदमियों में मद के लिये नहीं होता वरन् दूसरों की सहायता के अर्थ; किन्तु साधारणतया लोग इतने भले नहीं होते।

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय॥

मद का उदाहरण बेनीप्रबीन ने इस प्रकार बतलाया है—

तैसो लसे रँग इंगुर सों अँग, तैसी दोऊ अँखियाँ रतनारी,
तैसे पकै कुँदरू सम ओंठ, उरोज दोऊ उमगै छवि न्यारी।
तैस ही चञ्चल 'बेनी प्रबीन' तू, अञ्चल दे वृषभानु-दुलारी,
जोबन रूप की माती सदा, मधुपान किये ते भई अति प्यारी।

खलित बचन अध खुलित दृग, लखित स्वेद कन जोति।
अरुन बदन छबि मद छकी, खरी छबीली होति॥

महात्मा तुलसीदासजी ने कहा है—

सुनु खगेस अस को जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥

प्रभुता के मद का मिश्रबन्धुओं द्वारा रचित 'पूर्व-भारत' में बहुत अच्छा उदाहरण मिलता है। द्रोण ने द्रुपद को सखा करके सम्बोधन किया था। उसके उत्तर में द्रुपदराज कहते हैं—

दुष्ट दुर्मति विप्र, कैसी बुद्धि है तव छुद्र;
बाहुबल सों जान चाहत पैरि पार समुद्र।
कहाँ हौं पाञ्चालनाथ, भुवाल, जगविख्यात,
कहाँ तू अति कृपण ब्राह्मण फिरत माँगत खात॥
भानु अरु खद्योत सों हम दुहुन में है बीच,
तौन क्यों नहिं परै तो कहँ दीख मूरख नीच ?
'सखा' दियो किमि कहि मोहि शठ सम आय ?
मेरु अणु को परै नहि क्यों भेद तोहि लखाय ?
एक दिन को देत भोजन करौ इत सो गौन,
बात ऐसी कहे ते है भलो रहिबो मौन।
मोह-बस केहुँ भूप को जनि फेरि हरियो मान,
मूढ़ जन हित मौन है इक अलंकार महान॥

—पूर्वभारत

साहित्य-दर्पण में मद का इस प्रकार वर्णन दिया गया है—

संमोहानन्द संभेदो मद्योपयोगजः
अमुना चोत्तम शेते, मध्यो हसति गायति।
अधम प्रकृतिश्चापि परुपवक्ति रोदति

अर्थात् सम्मोहन (बेहोशी) और आनन्द के बीच की अवस्था को मद कहते हैं। यह मद्य पीने से होता है। इसके वश उत्तम लोग सोते हैं, मध्यम लोग हँसते और गाते हैं तथा अधम लोग गाली-गलौज बकते और रोते हैं।

[६—श्रम]

श्रम का इस प्रकार लक्षण है—

कल कलादिक से जहाँ, स्वेद होत तन मांह ।
ताही सों श्रम कहत हों, सकल कबिन के नाह ॥

साँस चलना, अंगों का शैथिल्य और निद्रा—ये इसके अनुभाव हैं ।

बेनीप्रबीनजी ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

आई रतिमंदिर ते रति ते रसीली अति,
रति ते रसीली अति उपमा अपंग है ।
मंद मंद गति में मरू के मग पग परे,
उमगी 'प्रबीन बेनी' उर में उमंग है ॥
कम्पत रदन छबि बदन कढ़े न बैन,
मदन छकाई छाई छबि की तरंग है ।
सारी जरतारी मृगमदज अतर बड़ी,
पीक बूड़ी पलकें प्रसेद बूड़े अंग हैं ॥

आज-कल के युग में रति-श्रम के वर्णन की आवश्यकता नहीं है । किन्तु श्रमी के श्रमजन्य स्वेद का, जो श्रम के नाम को सार्थक करता है, वर्णन करने की आवश्यकता है । डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी गीताञ्जलि के एक पद्य में ईश्वर का स्थान सड़क खोदनेवाले श्रमीजनों में बतलाया है । परिश्रम-जन्य स्वेद को ही सुखमूल स्वेद कहा है । देखिये—

पूजापाठ भजन आराधन साधन सारे दूर हटा,
द्वार बंद कर देवालय के कोने में क्या है बैठा !
अन्धकार में छुप मन ही मन किसे पूजता है चुपचाप,
आँख खोल घर देख यहाँ पर कहाँ देव बैठा है आप ?

वह तो जा पहुँचा उस थल पर भूमि सुधारे जहाँ किसान,
मार्ग ठीक करने त्योंही ज्यों पत्थर फोड़ें श्रमी महान।
गरमी सरदी से उनके सँग मिट्टी में करता है काम,
तू भी बसन छोड़ सुचि सारे आ जा तजकर निज आराम॥
मुक्ति ? मुक्ति तू कहाँ पायगा ? मुक्ति बता दो है किस ठौर,
स्वयं सृष्टि-बन्धन में आया सबके सँग जब प्रभु सिरमौर।
ध्यान छोड़ दे तज कुसुमों को त्याग बसन लगने दे धूल,
उससे एक कर्मयोगी बन हो जा वही स्वेद सुखमूल॥
(गिरिधर शर्मा-कृत पद्यानुवाद)

[७—आलस्य]

आलस का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

होत जागरन रैन को, कारन ताको आनि।
अँगरैबो जृम्भादि जहँ, आलस ताहि बखानि॥

आलस्य का वर्णन प्रायः शृंगार और करुण में होता है। आलस्य यद्यपि अवगुण है तथापि शृंगार में शोभा का अंग माना जाता है। गर्भवती के आलस्य का वर्णन बिहारी ने इस प्रकार किया है—

दृग थिरकोहें अधखुले, देह थकोंहे गात।
सुरति सुखित सी देखियतु, दुखित गरभ के भार॥

वियोग-जनित आलस्य का उदाहरण देवजी के 'भाव-विलास' से दिया जाता है—

ऊधो आये, ऊधो आये, श्याम को सँदेसो लाये,
सुन गोपी गोप धाय धीर न धरत हैं।
पोरी लग दौरी उठ भौंरी लों भ्रमति मति,
गवति न जाउ गुरु लोगन डरति है॥

ह्वै गई विकल बालि बालम वियोग भरि,
जोग की सुनत बात, गात यों गरति है।
भारी भये भूषन समारे न परत अंग,
आगे को धरत पग पाछे को परति है॥

आलस्य सुहाग का भी सूचक होता है; और जहाँ नायिकाओं में प्रतिद्वन्द्विता होती है, वहाँ पर अपना सोहाग जताने के हेतु कृत्रिम उपाय किया जाता है। देखिये—

पार्‌यो सोर सुहाग को, इन बिन ही पिय नेह।
उनदोहीं अँखियाँ ककै, कै अलसोंही देह॥—बिहारी

[८—दीनता]

दुरगति बहु बिरहाग ते, होत जो दुःख अनन्त।
दीन वचन मुख ते कढ़ैं, कहैं दीनता सन्त॥

दीनता का विशेष सम्बन्ध वियोग-श्रृंगार से है। दीनता द्वारा मान में विनय-अनुनय की जाती है और अन्य प्रकार के वियोगों में दीनता द्वारा विरही और विरहिणी अपने मन का संतोष कर लेते हैं। अन्य स्थानों में लोग दीनता से बचते हैं। दैन्य का उदाहरण बनीप्रवीण ने इस प्रकार दिया है—

ना जटाजूट है बेनी प्रबीन जू, कंठ में है न हलाहल रोंको,
या मृगनाभि कि रेख न इन्दु है, कुन्द को फूल बतावत तोको।
भूति न भूलि गये परि अंगहि, कन्त वियोग ते सूलनि चौंको,
मैं अबला क्यों महेस के धोके, मनोज महाबल मारत मोको॥

वीर में दीनता के लिये स्थान नहीं; किन्तु शत्रुओं की दीनता कवि लोग खूब वर्णन करते हैं। गिरे हुए शत्रु की दीनता में आनन्द लेना उदारता नहीं कही जा सकती, तथापि कभी-कभी

उत्साह बढ़ाने के लिये ऐसे वर्णन क्षम्य समझे जाते हैं। देखिये, भूषण शिवाजी की शत्रु-रमणियों के विषय में कहते हैं—

ऊँचे घोर मंदर[1] के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर[2] के अन्दर रहाती हैं।
कंद[3] मूल भोग करैं कंदमूल[4] भोग करैं,
तीन बेर[5] खातीं सो तो तीन बेर[6] खाती हैं॥
भूषन[7] सिथिल अंग भूषन[8] सिथिल अंग,
बिजन[9] डुलाती ते वे बिजन[10] डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,
नगन[11] जड़ाती ते वे नगन[12] जड़ाती हैं॥

[९—चिन्ता]

चिन्ता का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

इष्ट वस्तु पाये बिना, बहु व्याकुल चित होय।
श्याम ताप ह्वै रैन दिन, चिन्ता कहिये सोय॥

चिन्ता का भी विशेष सम्बन्ध वियोग-शृंगार से है। साहित्य-दर्पणकार ने चिन्ता की इस प्रकार व्याख्या की है—

"ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यता श्वासतापकृत्"

अर्थात् हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न ध्यान को चिन्ता कहते हैं। इसमें शून्यता, श्वास और ताप होते हैं।

---

(१) मंदिर महल इत्यादि, (२) पर्वत, (३) कंद मिश्री का एक प्रकार, कंदमूल अर्थात् 'कंदमूलक' जिसमें मिश्री मिली हो, (४) कंदमूल—वन में जो जड़ें मिलती हैं जो वन्य लोग खाते हैं, (५) तीन बार, (६) गिनती के तीन बेर के फल, (७) आभूषण, (८) भूख से शिथिल अंग, (९) पंखा, (१०) अकेली, (११) नग जड़ाती है (जेवरों में), (१२) नंगी जाड़ों मरती है।

वेनीप्रवीण ने चिन्ता का इस प्रकार उदाहरण दिया है—

जबते ह्वै आई ही अकेली चलि नन्दगाँउ,
तबते बलि बावरी रही न कछू ज्ञान मैं।
सूखी-सी सकानी-सी सकोचन कहै न मोसो,
आपनी बिथा जो रहै आपने सयान मैं॥
नजरि लगी है कहूँ काहू की 'प्रबीन बेनी',
काहि पूछि देखौ लखि परी हौ अयान मैं।
मूँदि मूँदि लोचन जगी-सी जगमगी प्रेम,
निसु दिन पगी लगी कौन के तू ध्यान मैं॥

यह चिन्ता की दशा का वर्णन है।

साहित्यदर्पणकार ने जो उदाहरण दिया है वह बहुत ही उत्तम है। देखिये—

कमलेण विअसि एण, सुसंजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्बम्।
करअलपल्लत्थमुही किं सुचिरं सुमुहि! अन्तराहि अहिअआ॥

अर्थात् हे सुन्दरि, तुम अपने चन्द्रमुख को करकमल पर रख कर मानों खिले हुए कमल का चन्द्र से चिरकालीन विरोध को मिटाती हुई अपने हृदय के भीतर क्या सोच रही हो?

मुँह को हाथ पर रख लेना चिन्ता का एक अनुभाव है।

[१०—मोह]

मोह का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

अद्भुत रस आवेग भय, चिन्ता सुमिरन कोह।
जहँ मूर्छन बिस्मरनता, स्तंभ ताहि कहि मोह॥

मोह उस अवस्था को कहते हैं जिसमें विस्मय, भय, चिन्ता, स्मृति आदि के कारण मनुष्य की मूर्च्छा और स्तम्भ की-सी गति

हो जाय और किसी बात का उसे ज्ञान न रहे। इसका अद्भुत तथा शृंगार-रस से विशेष सम्बन्ध है।

उदाहरण

और कहा कोऊ बाल बधू है नयो तन यौवन तोहि जनायो,
तेरेइ नैन बड़े ब्रज में जिनसों वश कीन्हों जसोमति-जायो।
डोलत है जनु मोल लयो कवि 'देव' न बोलत बोल बोलायो,
मोहन को मन मानिक सों गुन सों गुहितो उर में उर भायो॥

इसमें श्रीकृष्णजी की मोह-दशा का वर्णन किया गया है। साहित्यदर्पण में मोह की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

मोहो विचित्तता भीतिः दुःखावेगानुचिन्तनैः।
मूर्च्छनाज्ञान-पतन-भ्रमणादर्शनादिकृत्॥

भय, दुःख, घबराहट, अत्यन्त चिन्तादि से उत्पन्न हुई चित्त की उद्विग्नता को मोह कहते हैं। इसमें मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना और अदर्शन आदि होते हैं।

[११—स्मृति]

स्मृति का लक्षण इस प्रकार है—

संसै करि सम्पति विपति, अधिक प्रीति अति त्रास।
प्राप्ति समै सो देव कवि, कहि ता में न उलास॥

साहित्य-दर्पण में स्मृति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रमसमुन्नयनादिकृत्।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थ विषयज्ञानमुच्यते॥

अर्थात् सदृश वस्तु के अवलोकन, चिन्तन आदि से पूर्वानुभूत स्मरण को स्मृति कहते हैं। इसमें भौंह चढ़ाना आदि अनुभाव होते हैं।

स्मृति की जागृति दुःख और सुख दोनों में होती है। जब

किसी प्रकार की आपत्ति आती है अथवा किसीसे वियोग होता है तो पूर्वानुभूत दुःखों या सुखों की स्मृति होने लगती है। स्मृति का या तो सादृश्य से या विपरीतता से उदय होता है। यदि हम दुःख में होते हैं तो उसकी विपरीतता के कारण सुखों की याद आती है और सादृश्य के कारण पिछले दुःखों का स्मरण हो आता है। इन दोनों ही बातों से हमारे दुःख की वृद्धि होने लगती है। भय में भी स्मृति भय की पोषक होती है। प्रायः भय की स्थिति में पहले का अनुभव अथवा दूसरों की कही हुई भयावनी बातों का स्मरण हो आता है। भय में अधिकांश स्मृति का ही भाग रहता है। सुख की उपस्थिति में सादृश्य के कारण पूर्वानुभूत सुखों का स्मरण हो आता है। जिस प्रकार स्मृति भयानक वस्तु को अधिक भयभीत बना देती है उसी प्रकार प्रेय वस्तु में वह हमारी अनुराग की मात्रा को बढ़ा देती है। सौन्दर्य के लिये कहा जाता है कि वह एक अंश में भीतरी अर्थात् मनोगत और एक अंश में बाहरी अथवा वस्तुगत है। बाहरी सौन्दर्य्य के कम हो जाने पर भी दर्शकों के मनोगत भाव, जिनकी स्मृति से पुष्टि होती रहती है, उस कमी को पूरा कर प्रेय वस्तु की प्रेयता बढ़ाते रहते हैं। स्मृति बिना हमारा जीवन नीरस हो जाता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि स्मृति से मनुष्य को दुःख भी बहुत होता है, तथापि यह दुःख हमारे जीवन में बड़ा मूल्य रखता है। स्मृति चाहे मधुर हो या अमधुर, वह हमारे भावी जीवन की पथ-दर्शिका होती है। स्मृति का काव्यमय वर्णन जो श्रीयुत सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने किया है, उसमें कविता के साथ मनोविज्ञान-पाठ करने का आनन्द आता है।

जटिल–जीवन–नद में तिर-तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप,
सतत द्रुत-गति-मयि अयि फिर-फिर
उमड़ करती हो प्रेमालाप;
सुप्त मेरे अतीत के गान
सुना, प्रिय, हर लेती हो ध्यान !
सफल जीवन के सब असफल,
कहीं की जीत, कहीं की हार,
जगा देता मधु-गीत सकल
तुम्हारा ही निर्मम झङ्कार;
शत दल सर हाय,
विकल रह जाता हूँ निरुपाय !
मुक्त शैशव मृदु-मधुर मलय,
स्नेह-कम्पित किसलय नव गात,
कुसुम अस्फुट नव नव सञ्चय,
मृदुल वह जीवन कनक-प्रभात;
आज निद्रित अतीत में बन्द
ताल वह, गति वह, लय वह छन्द !
आँसुओं से कोमल, झर-झर
स्वच्छ–निर्झर–जल–कण–से प्राण
सिमिट सट–सट अन्तर भर–भर
जिसे देते थे जीवन–दान
वही चुम्बन की प्रथम हिलोर
स्वप्न–स्मृति, दूर, अतीत, अछोर !
पली सुख-वृंतों की कलियाँ—
विटप उर की अवलम्बित हार—

विजन-मन-मुदित सहेलरियाँ—
स्नेह उपवन की सुख, शृंगार,
आज खुल-खुल गिरतीं असहाय,
विटप वक्षस्थल से निरुपाय!
मूर्ति वह यौवन की बढ़-बढ़—
एक अश्रुत भाषा की तान,
उमड़ चलती फिर-फिर अड़-अड़
स्वप्न-सी जड़ नयनों में मान;
मुक्त-कुन्तल, मुख व्याकुल लोल,
प्रणय-पीड़ित वे अस्फुट बोल!
तृप्ति वह तृष्णा की अविकृत,
स्वर्ग आशाओं की अभिराम,
क्रान्ति की सरल मूर्ति निद्रित
गरल की अमृत, अमृत की प्राण,
रेणु वह किस दिगन्त में लीन
वेणु-ध्वनि-सी न शरीराधीन!

श्रीरामचन्द्रजी जब जनस्थान में दुबारा गये तो वहाँ के वन एवं लताओं को देखकर उनकी पूर्वानुभूत-स्मृति की जागृति हुई थी। उसका 'उत्तर-रामचरित' में बहुत अच्छा उदाहरण आया है—

ये बन सोइ लख्यो पुनि आज, जहाँ सुख सों बहु द्योस बिताये।
भ्रात औ सीय के संग करे, मुनिराजनि के सतसंग सुहाये॥
नित्त फलाहार खात रहे, निज धर्म के पालन में चित लाये।
तेउ सबै जग भोग विलासन के रस सों हम वञ्चित नाये॥

× × ×

बितये बहु दिन यहँ सिया संग, जनु अपने ही घर सह उमंग।
नित नव यहँ की चरचा चलाइ, पायो हम दोउन सुख सिहाइ॥
अब हाय अकेलो प्रिया-हीन, अति दुसह विरह-दुख सों मलीन।
वह राम पातकी करि प्रवेश, देखहिं कस पंचवटी-प्रदेश॥

× × ×

जो लखत हाय तो सिय वियोग, उद्दीपत जिय में शोक-योग।
यदि नाहिं लखत तउ असंतोष, सिर कृतघ्नता को चढ़त दोष॥
कारन, जो प्रिय को प्रिय महान, ताको नित चहियतु करन मान।
अब कैसेहु ना कोऊ बचाउ, हा हा नहिं कछु सूझत उपाउ॥

× × ×

स्मृति की जागृति यद्यपि सुखद होती है तथापि विरह के आधिक्य में कभी-कभी स्मृति का जागरण अच्छा नहीं लगता। प्रीतम का नाम सुनना तक बुरा लगता है, क्योंकि उसका नाम सुनने से शोक का सिन्धु उमड़ आता है। देखिये, विरहिणी गोपिका चातक से क्या कहती है—

हौं तो मोहन के विरह अरी रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिउ पिउ पिउ अध राति पुकारत॥
सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तऊ न तनु की बिथहि बिचारत।
कहा कठिन करतूति न समझत कहा मृतक अबलनि शर मारत॥
तू शठ बकत सतावत काहू होत लहै अपने उर आरत।
'सूर' श्याम बिनु ब्रज पर बोलत हठि अगिलेऊ जनम बिगारत॥

पपीहा कहीं पर जलाता-रुलाता है और कहीं पर नाम का स्मरण कराकर जिलाता है। देखिये, ऊपर के पद के विपरीत एक सखी क्या कहती है—

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसे हि रैनि रटति हौं पिय पिय तैसे ही वह पुनि पुनि गावत॥

अति हि सुकंठ दाहु प्रीतम को तारु जीभ मन लावत।
आप न पिवत सुधा-रस सजनी बिरहिनि बोलि पियावत॥
जो ए पंछि सहाय न होते प्राण बहुत दुख पावत।
जीवन सफल 'सूर' ताही को काज पराए आवत॥

स्मृति के उदाहरण 'विरहिणी-व्रजांगना' से दिये जाते हैं—

कुञ्ज! तुम्हारे कुसुमालय में प्राणनाथ आकर बहुधा—
पान कराते थे सब व्रज को वेणु बजाकर मधुर सुधा।
तुम्हें विदित है; सुनकर वह रव ज्यों शिखिनी घन-रव सुनकर-
कौन उपस्थित हो जाती थी उनके चरणों में सत्वर!

× × ×

पूर्व स्मृति से मन जलता है, सब सङ्गिनी घनी छाया—
उन्हें बिठाती थीं दासी-युत दे पुष्पासन मन भाया।
खिल उठती थीं विटप-वल्लियाँ, गाते थे भौंरों के गोल—
करती थी निज सौरभ-वितरण कुसुम-कामिनी घूँघट खोल॥

× × +

करते थे स्मर-कीर्तन पिकवर पञ्चम के स्वर में गाकर,
मेरे प्रिय को मेघ मानकर थे नाचते शिखी आकर।
कैसे भूला जा सकता है जो कुछ देखा-सुना कभी?
अङ्कित है राधा के मन में, वह अतीत का दृश्य सभी॥

× × ×

साहित्य में स्मृति के और भी अच्छे-अच्छे उदाहरण आये हैं। आलमजी एक विरह-विधुरा-व्रजांगना के मुख से क्या कहलाते हैं—

जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना ते करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
'आलम' जौन से कुञ्जन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैननि में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

सूरदासजी ने भी स्मृति के अच्छे उदाहरण दिये हैं। देखिये—

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं,
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूले, अलि गुंजैं,
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि, दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं॥
ये ऊधू कहियो माधव सों बिरह करद कर मारत लुंजैं।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं॥

× ÷ ×

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसहि धर्‌यो रहै।
को उठि प्रात होत ले माखन को कर नैनु गहै॥
सूने भवन जसोदा-सुत के गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घेरत ही घर ग्वारिन उरहन कोउ न कहै॥
जो ब्रज में आनन्द हों तो मुनि मनसाहू न गहै।
'सूरदास' स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै॥

× × ×

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
बृन्दाबन गोकुल तब आवत सघन तृणन की छाँही॥
प्रात समय माता जसुमति अरु नन्द देख सुख पावत।
माखन रोटी धर्‌यो सजायो अति हित साथ खवावत॥
गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत सब दिन हँसत सिरात।
'सूरदास' धनि धनि बृजवासी जिनसों हँसत बृजनाथ॥

वास्तव में ब्रजवासी धन्य हैं जिनकी मधुस्मृति भगवान श्रीकृष्ण को द्वारिका के ऐश्वर्य में भी नहीं भूलती।

कविवर बिहारीलालजी का एक अच्छा उदाहरण देखिये—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

[१२—धृति]

धृति का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

ज्ञान शक्ति उपजै जहाँ, मिटै अधीरज दोष।
ता ही सों धृति कहत हैं, यथा-लाभ-संतोष॥

धृति धैर्य को कहते हैं। इसका प्रायः वीर और शान्त-रस से सम्बन्ध रहता है। हास्य-प्रिय लोग भी धैर्य के साथ दुःखों को सहने में समर्थ रहते हैं। धृति का भाव बहुत ही महत्ता-सूचक है। धीर पुरुष ही अपने जीवन में सफल होते हैं। धैर्य दीर्घसूत्रता नहीं है। क्रोध में धैर्य नहीं रहता। उत्साह के साथ धैर्य का होना सम्भव है। धैर्यवान पुरुष प्रत्येक स्थिति में मग्न रहता है।

आहुतस्याभिषेकाय वनाय निर्गमनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

अर्थात् जब भगवान श्रीरामचन्द्रजी राज्याभिषेक के लिये बुलवाये गये और एकदम ही उनको वनवास की सूचना दी गई तो वे वन जाने लगे। दोनों स्थितियों में जब आकृति देखी गई तो उनमें कोई भेद न पाया गया। न अभिषेक की सूचना पर प्रफुल्लित ही हुए और न वनवास की बात पर दुःखित ही। महात्मा तुलसीदास ने भी भगवान रामचन्द्रजी की वन्दना करते हुए इसी भाव को बतलाया है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वन-वासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी की वह मनोहर मुखकमल की श्री, जो अभिषेक से प्रसन्नता को नहीं प्राप्त हुई और न वनवास से मलिन हुई, हमारे लिये मंगलप्रद हो।

[१३—व्रीड़ा]

व्रीड़ा लज्जा को कहते हैं। लज्जा का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

> दुराचार अरु प्रेम रत, उपजै जिय संकोच।
> लाज कहै तासों सुकवि, मुख गोपन गुरु सोच॥

लज्जा प्रायः अपराध के कारण अथवा शील-संकोच के कारण होती है; किन्तु ये दोनों ही बातें सच्चरित्र पुरुष और स्त्री में ही पाई जाती हैं। कुछ असच्चरित्र स्त्रियाँ भी लज्जा को सदाचारवती स्त्रियों का गुण समझ कृत्रिम रूप से धारण कर लेती हैं। लज्जा कुलवती स्त्रियों का परम भूषण है। दुर्गा-सप्तशती में लज्जा को स्वयं सती भगवती का स्वरूप माना है—"या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता"। और भी कहा है कि "कुलजनप्रभवस्य लज्जा"। लज्जा का सम्बन्ध विशेषकर शृंगार और भय से है। लज्जा के ही न्यूनाधिक्य के कारण नायिकाओं के मुग्धा, मध्या आदि तीन भेद माने गये हैं। लज्जा के मुख्य बाह्य-व्यञ्जक—मुँह पर सुर्खी आना, नीचे को देखना, मुँह फेर लेना आदि माने गये हैं। मतिरामजी ने, नवोढ़ा का वर्णन करते हुए, मुँह पर सुर्खी आने की उपमा इन्द्र-बधूटी से दी है। उनका दोहा इस प्रकार है—

> ज्यों ज्यों परसे लाल तन, त्यों त्यों राखे गोइ।
> नवल बधू ही लाज ते, इन्द्रबधूटी होइ॥

मुँह पर सुर्खी आने का कारण आवेगवश चेहरे पर रुधिर का आधिक्य हो जाना बतलाया है। यह लज्जा का भाव एक विशेष

अवस्था तक रहता है, उसके अनन्तर वह धीरे-धीरे कम होता जाता है। अपराध या दुष्कर्म से जो लज्जा होती है उसके लिये कोई वय की सीमा नहीं। वास्तव में आदमी की जितनी अवस्था बढ़ती जाती है, दुष्कर्म से लज्जा आती है। कुलवती स्त्रियों में यद्यपि वय के कारण लज्जा का अभाव हो जाता है, तथापि उसका भाव नितान्त निर्मूल नहीं होता। लज्जा उसका कभी साथ नहीं छोड़ती। कहा भी है—

"सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जा च कुलांगना"

स्त्रियों में लज्जा का प्रतिद्वंद्वी काम रहता है और वह दोनों ही अपना-अपना आधिपत्य जमाने के लिये परस्पर स्पर्धा किया करते हैं। कहीं पर लज्जा की विजय होती है और कहीं पर काम की। लज्जा की पराजय का उदाहरण लीजिये—

लाज लगाम न मानहीं, नैना मों बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरङ्ग लौं; ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥ (बिहारी)

लज्जा केवल शील-सम्बन्धी भूषण नहीं है वरन् मुख को एक अपूर्व दैवी आभा दे देती है। ऐसे सौन्दर्य के आगे मस्तक नत हो सकता है। लज्जा को सम्बोधित कर एक नायिका कहती है—

प्रान-से प्रानपती सों निरन्तर अन्तर-अन्तर पारत है री;
लाज न लागति लाज अहे! तुहि जानि मैं आजु अकाजिनि मेरी;
देखन दे हरि को भरि डीठि घरी किन एक सरीकिन मेरी!

यहाँ पर लज्जा का आधिपत्य तो स्वीकार किया गया है; किन्तु वह आधिपत्य ऐसा ही है जैसा किसी क्रूर शासक का हो।

श्रीदुलारेलालजी की दोहावली में लज्जा का एक अच्छा उदाहरण मिलता है—

सहज, सकुच–सुखमा–सहित, सोहत रूप अनूप।
लाजवती ललना-लता लाजवती–अनुरूप॥

[१४—चपलता]

चपलता का लक्षण देवजी ने इस प्रकार दिया है—

रोग, क्रोध सु विरोध तें, चपल सुचेष्टा होय।
कारज की जु उतालता, कहत चपलता सोय॥

चपलता अर्थात् चाञ्चल्य—क्रोध, विरोध और अनुराग के कारण होता है। क्रोध और विरोध में मन की अस्थिरता के कारण जो चपलता होती है वह अभीष्ट की हानि करती है; किन्तु सौन्दर्य में जो राग के कारण चपलता होती है वह अभीष्ट की सिद्धि करती है। किन्तु इसका भी आधिक्य ग्रामीणता का द्योतक होता है। बेनीप्रबीन ने चपलता का इस प्रकार उदाहरण दिया है—

कहूँ दौरि पौरि कहूँ खोरि मैं अटा मैं कहूँ,
बीजुरी छटा की अद्‌भुत गति काढ़ी है।
कहूँ लीन्हें दधि मधि गोकुल बिलोकियत,
कहूँ मधुवन में फिरत मानो डाढ़ी है॥
स्याम के बिलोकिबे को व्याकुल 'प्रबीन बेनी',
थिर न रहति गेह यों सनेह बाढ़ी है।
जमुना के तट बंशीबट के निकट कहूँ,
झटपट लीन्हे घट पनिघट ठाढ़ी है॥

उतते इत इतते उतहि, छिनक न कहुँ ठहराति।
जकन परति चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥ (बिहारी)

पूर्वानुरागजन्य चपलता का उदाहरण—

> छटक चढ़ति उतरति अटा, नेक न थाकति देह।
> भई रहति नट को बटा, अटकी नागर नेह ॥ (बिहारी)

साहित्यदर्पण में चपलता की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

> मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः।
> तत्र भर्त्सनपारुष्यं स्वच्छन्दाचरणादयः ॥

अर्थात् मत्सर, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्था का नाम चापल्य है। इसमें दूसरों को धमकाना, कठोर बोलना और उच्छृंखल आचरणादि होते हैं।

[१५—हर्ष]

हर्ष का देवजी ने इस प्रकार लक्षण दिया है—

> पिय दरसन स्रवन आदि ते, होय जो हिये प्रसाद।
> बेग, स्वास, आँसू, प्रलय, हर्ष लखै निर्वाद ॥

हर्ष—प्रसन्नता को कहते हैं; यह अभीष्ट-प्राप्ति का सूचक होता है। आशा और उत्साह से इसकी वृद्धि एवं पुष्टि होती है। इसमे श्वास और हृदय की गति तीव्र हो जाती है तथा कभो-कभी आँसू भी झलक आते हैं। आँसुओं के सम्बन्ध में बतलाया जा चुका है कि हर्ष के कारण वही भौतिक परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं जो शोक में अश्रु-पात के कारण होती हैं। हर्ष के और भी कई द्योतक माने गये हैं। उदाहरणार्थ—ताली बजाना, कूदना, चिल्लाना, नाचना इत्यादि।

जानवर भी अपने मनोगत हर्ष की कई प्रकार से सूचना देते हैं। जैसे कुत्तों में पूँछ का हिलाना, बिल्ली में पूँछ का उठाना, गाय का गरदन उठाना, मोर का नाचना इत्यादि।

हर्ष मानसिक प्रसन्नता के अतिरिक्त भौतिक स्वास्थ्य-जन्य स्नायु-शक्ति के प्रसार से भी होता है। हर्ष के लिये शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य दोनों ही आवश्यक हैं। हर्ष के मानसिक कारणों में अभीष्ट-प्राप्ति की आशा मुख्य कारण है। अभीष्ट-प्राप्ति में भी हर्ष होता है; किन्तु वह चिरस्थायी नहीं; क्योंकि फिर उद्योग और उत्साह के लिये स्थान नहीं रहता। शृंगार के अतिरिक्त वीर का भी हर्ष से विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि वीरता में उत्साह का प्राधान्य रहता है। जब नैराश्य के पश्चात् अभीष्ट की सिद्धि होती है तब हर्ष का आधिक्य हो जाता है। देखिये, गोस्वामीजी रामजन्म के सम्बन्ध में चक्रवर्ती महाराज दशरथजी के हर्ष का किस प्रकार वर्णन करते हैं—

दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहु ब्रम्हानन्द समाना॥
परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठत करत मति धीरा॥
जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥
परमानन्द पूरि मन राजा। कहा बुलाय बजावहु बाजा॥

वह व्यक्तिगत आनन्द का उदाहरण था। अब अयोध्याजी के जन-समाज के आनन्द का उदाहरण देखिये—

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाय जेहि भाँति बनावा॥
सुमन-वृष्टि आकास ते होई। ब्रह्मानन्द-मगन सब कोई॥
वृन्द-वृन्द मिलि चली लुगाई। सहज सिंगार किये उठि धाई॥
कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप दुआरा॥
करि आरति निछावरि करहीं। बार बार सिसु चरनन्हि परहीं॥
मागध सूत बन्दि गुनगायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक॥
सरबस दान दीन्ह सब काहूँ। जेहि पावा राखा नहिं ताहू॥
मृग - मद चन्दन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥

गृह-गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुखमाकन्द ।
हरषवन्त सब जहँ-तहँ, नगर नारि-नरवृन्द ॥

अब जरा आगतपतिका के हर्ष को देखिये—

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की,
सुनि, कोरि-कोरि रस भामिनी भरति है ।
मोरि-मोरि बदन निहारति बिहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनँद घरी-सी उधरति है ॥
"देव" कर जोरि-जोरि बदत सुरन, गुरु,
लोगनि के लोटि-लोटि पायन परति है ।
तोरि–तोरि माल पूरे मोतिन की चौक,
निछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है ॥

शान्ति के सम्बन्ध में जो हर्ष होता है उसे आनन्द कहते हैं । हर्ष और आनन्द में यह अन्तर है कि आनन्द हर्ष की अपेक्षा चिरस्थायी होता है । अभीष्ट-प्राप्ति के पश्चात् हर्ष का प्रवाह घटने लगता है और आनन्द का प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है । हर्ष के साथ और भावों का सम्मिलन होता है और आनन्द मन को व्याप्त कर वहाँ पर और किसी बात के लिये स्थान नहीं छोड़ता ।

हरिनाम को सर्वस्व माननेवाली मीराबाई का आनन्द-गीत सुन लीजिए—

पायो जी, मैंने नाम-रतन-धन पायो ।
वस्तु अमोलक दी मेरे सत गुरु, किरपा कर अपनायो ॥
जनम-जनम की पूँजी पाई, जग में सभी खोवायो ।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवे, दिन-दिन बढ़त सवायो ॥

सत की नाव खेवरिया सत गुरु, भवसागर तर आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो॥

साहित्य-दर्पणकार ने रघुवंश से हर्ष का इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्पिता मुखं निधानकुम्भस्य यथैव दुर्गतः।
तदा शरीरे प्रबभूव नात्मनः पयोधिरिन्दूदयमूर्छितो यथा॥

अर्थात् महाराजा दिलीप ने जब बहुत दिनों की आशा के बाद पुत्र का मुख देखा तो उनकी स्थिति ऐसी हो गई जैसी कि निर्धन मनुष्य की धन का घड़ा पाने से हो जाती है। जिस प्रकार चन्द्र के उदय से समुद्र मर्यादा से परे हो जाता है, उसी प्रकार वे भी अपने शरीर से बाहर हो गए।

[१६—जड़ता]

जड़ता का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

हित अनहित देखे नहीं, अचल जु चेष्टा होय।
जान बूझ कारज थके, जड़ता बरनत सोय॥

हित और अनहित के देखने से जो चेष्टा और विचार स्थगित हो जाता है उसे जड़ता कहते हैं।

साहित्यदर्पण में जड़ता की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिष नयन निरीक्षण तूष्णीं भावादयस्तत्र॥

अर्थात् इष्ट तथा अनिष्ट के दर्शन वा श्रवण से जो किंकर्तव्य-विमूढ़ता उत्पन्न होती है उसे जड़ता कहते हैं। इसमें टकटकी लगाकर देखते रहना, चुप हो जाना आदि कार्य्य होते हैं।

एक टक नैन कछू काहू सों कहैं न बैन,
जानिये न चैन की अचैन कछू भारी मैं ।
डोलत न तनु घनस्याम को 'प्रवीन बेनी',
ऐसो मन लागो वृषभानु की दुलारी मैं ॥
वाही मग वाही कुञ्ज भीतर अभीत ठाड़े,
एक कर कंज धरे कदम की डारी मैं ।
सखा परिखे हैं ये कै विकल झिखे हैं कछू,
जोग को सिखे हैं को लिखे हैं चित्रसारी में ॥

देवजी का दिया हुआ उदाहरण भी यहीं उद्धृत किया जाता है—

कालिन्दी के तट कालिह भटू कहूँ ह्वै गई दौहुन भेंट भली सी ।
ठौरहि ठाड़े चितौत इतै तन नेकहि एक टकी टहली सी ॥
देवकी देखति देवता सी वृषभानु-लली न हली नवली सी ।
नन्द के छोहरा की छवि सों छिन एक रही छवि छैल छली-सी ॥

तोषनिधि का उदाहरण इस प्रकार से है—

नहिं बोलति है नहिं डोलति है करहू ते कछू नहिं छीनति है ।
फरमाइसऊ न करै सखि सो नहिं खाय कछू नहिं पीवति है ॥
नहिं 'तोष' सो बाल चलै न हिलै न परै पलको जनु दीवति है ।
जब ते बिछुरे तुम पी तब ते सुन बाल दसा यह जीवति है ॥

[१७—विषाद]

विषाद का बेनीप्रबीन इस प्रकार लक्षण कहते हैं—

चित चाह्यौ लाह्यो जहाँ, ह्वै न सकैं अविवाद ।
कवि कोविद सब कहत हैं, उपजत तहाँ बिषाद ॥

विषाद शोक वा दुःख को कहते हैं । यद्यपि यह एक स्वतन्त्र रस है, तथापि यहाँ पर जो वर्णन किया गया है वह सञ्चारी के

तौर पर है। एक रस जब दूसरे रस में आता है तब वह उसका सञ्चारी हो जाता है। जहाँ पर जो भाव मुख्य होता है वह रस कहा जाता है और जब दूसरे किसी रस के पोषक-रूप हो रहता है तब सञ्चारी हो जाता है।

बहु द्योस विदेस बिताइ पिया घर आवन की घरी आली भई।
वह देस, कलेस, वियोग–कथा सब भाखी यथा वन-माली भई॥
हँस कै निसि 'बेनि-प्रबीन' कहै, जब केलि–कला की उताली भई।
तब या दिसि पूरब-पूरब की लखि बैरिनि सौत–सी लाली भई॥

साहित्य-दर्पण में विषाद की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

उपायाभावजन्या तु विषादः सत्वसंक्षयः।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत्॥

अर्थात् उपायाभाव के कारण शक्ति के ह्रास को विषाद कहते हैं। इसमें निःश्वास, उच्छ्वास, मनस्ताप और सहायान्वेषण इत्यादि होते हैं।

[१८—आवेग]

आवेग का देवजी ने इस प्रकार लक्षण दिया है—

पिय अपराध देखे सुनै, तैं न तपै संवेग।
होइ अचानक भूरि भ्रम, सो बरनहु आवेग॥

प्रिय-जन के अपराध को देखकर जो चित्त में तेजी आ जाती है उसे आवेग कहते हैं। जितना ही प्रेम का आधिक्य होता है उतना ही आवेग में तीव्रता होती है। यह आवेग प्रायः प्रेम-सम्बन्धी अपराधों से ही उत्पन्न होता है। इसमें प्रायः ईर्ष्या का भाव मिला रहता है। इसमें डाँटना-फिड़कना होता है और शरीर में भी कम्प तथा क्रोध के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं।

साहित्य-दर्पण में आवेग कई प्रकार का माना गया है—

आवेगः संभ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता ।
उत्पातजे स्त्रस्तताङ्गे धूमाद्याकुलताग्निजे ॥
राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् ।
गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांश्वाद्याकुलतानिलात्॥
इष्टाद्धर्षाः शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ॥

अर्थात् सम्भ्रम, जिसको अक्की-बक्की छूट जाना कहते हैं, आवेग कहलाता है। हर्ष से उत्पन्न होनेवाले आवेग में शरीर का संकुचन होता है। उत्पात से उत्पन्न हुए आवेग में शरीर ढीला पड़ जाता है। अग्नि के कारण जो आवेग होता है उसमें धुएँ आदि का कष्ट होता है। राजविप्लवादि आवेग में शस्त्र, हाथी आदि की तैयारी होती है। हाथी आदि के कारण जो आवेग होता है उसमें स्तम्भ, कम्पादि होते हैं। वायुजन्य (बवण्डर आदि) में धूलि आदि से व्याकुलता होती है। इष्ट-जन्य आवेग में हर्ष और अनिष्ट जन्य में शोक होता है।

[१६—गर्व]

गर्व का लक्षण इस प्रकार दिया है—

बहुबल धन कुल रूप ते सिर उन्नत अभिमान ।
गनै न काहू आप सम, ता कहि गर्व बखान ॥

गर्व अभिमान को कहते हैं। अभिमानी पुरुष अपने को बड़ा और दूसरे को नीचा समझा करता है। साहित्य-दर्पण में गर्व की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

गर्वो मदः प्रभावश्री विद्या सत्कुलतादिजः ।
अवज्ञा सविलासाङ्ग दर्शनाविनयादिकृत् ॥

अर्थात् अपने प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या तथा कुलीनता आदि के कारण उत्पन्न अभिमान का नाम गर्व है। उससे मनुष्य अन्यों की अवज्ञा करने लगता है, विभ्रम-सहित अंग (ओठ-अँगूठा आदि) दिखाता है और अविनय करता है। जहाँ पर यह गर्व उचित मात्रा में रहता है और अपने अभिमान की रक्षा के साथ दूसरे के अभिमान की रक्षा का ध्यान रखता है वहाँ यह अवगुण नहीं होता; अन्यथा यह अवगुण है। आत्माभिमान, आत्मविश्वास और उत्साह कार्य्य-सिद्धि के लिये आवश्यक है। रावण की गर्वोक्ति ज़रा सुनिये—

सुन कपे ! यम, इन्द्र, कुबेर की, हिलती रसना मम सामने।
तदपि आज मुझे करना पड़ा, मनुज-सेवक से बकवाद भी॥
यदि कपे ! मम राक्षस-राज का, स्तवन है तुझसे न किया गया।
कुछ नहीं डर है, पर क्यों वृथा, निलज ! मानव मान बढ़ा रहा॥
तनय होकर भी मम मित्र का, शठ ! न आकर क्यों मुझसे मिला ?
उदर के वश हो किस भाँति तू, नर-सहायक हाय कपे ! हुआ।

× × × ×

लड़ नहीं सकता मुझसे कभी, तनिक भी नृप-बालक स्वप्न में॥
कब, कहाँ, कह तो किसने लखा, कवि ! लवा-रण वारण से भला।
यह असम्भव है यदि राम भी, समर सन्मुख रावण से करे॥
कह कपे ! उठ है सकती कभी, यह रसा बक-शावक-चोंच से।

× × × ×

मर मिटें रण में, पर राम को, हम न दे सकते जनकात्मजा॥
सुन कपे ! जग में बस वीर के, सुयश का रण कारण मुख्य है।
चतुरता दिखला मत व्यर्थ तू, रसिक हैं रण के हम जन्म से॥
रुक नहीं सकते सुन के कभी, वचन-वत्सल वत्स लड़े बिना !

—रामचरित उपाध्याय

गर्व का सम्बन्ध विशेषकर रौद्र और वीर से है। कभी-कभी शृंगार में भी गर्वोक्तियाँ आ जाती हैं। देखिए—

खीन मलिन विष भैया औगुन तीन
मोहि कहत बिधुबदनी, पिय मतिहीन (रहीम)

देवजी ने गर्व का इस प्रकार उदाहरण दिया है—

मानमई अबही ते भई जब पूरन जोबन-जोति भरैगी।
'देव' तो तीनहु लोक के रूप की रासि के ऊपर पाँय धरैगी॥
रंचक सी परपंच भरी अब ही ते करी विधि कैसी ढरैगी।
देखहुगी ब्रज में बसिके कोउ दूसरी ग्वालि गुमान करैगी॥

[२०—उत्कण्ठा]

उत्कण्ठा का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

होनहार अभिलाष है, घरी पलक छिन माँहिं।
सो विलम्ब सहि जात नहिं, उतकण्ठा मन माँहिं॥

अभिलाषा के आधिक्य को उत्कण्ठा कहते हैं। उत्कण्ठा के साथ प्रायः आशा लगी रहती है। उत्कण्ठा के भाव के प्राधान्य के कारण उत्कंठिता नाम की एक नायिका भी मानी गई है। देवजी ने उत्कण्ठिता का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

कैधों हमारिये बेर बड़ो भयो कै रबि को रथ ठोर ठयो है।
भोर ते भानु की ओर चितौति घरी पलहू गत जौन गयो है॥
आवत छोर नहीं छिन कौ दिन को नहिं तीसरो जाम छयो है।
पाइये कौसिक साँझ तुरंतहि देखुरी द्योस तुरन्त भयो है॥

—देव।

उत्कण्ठा में चित्त का संताप, शीघ्रता, स्वेद, दीर्घ-निःश्वास

आदि होते हैं। उत्कण्ठा एक प्रकार से मानस-मिलन कराकर वास्तविक मिलन के लिए स्त्री या पुरुष को अधीर कर देती है।

[२१—निद्रा]

निद्रा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

निद्रा जारस खेद ते, बसै चाह चित चाय।
स्वपन दरस अद वचन ये, कहिये नींद सुभाय॥

यद्यपि निद्रा एक भौतिक अवस्था है तथापि यहाँ पर वह एक प्रकार का भाव ही है। इसमें आलस्य की प्रधानता रहती है। यह मानसिक अवस्था प्रायः वियोग, शृंगार और करुण में उपस्थित होती है। वास्तव में जिसको कि भौतिक निद्रा कहते हैं वह इसी मानसिक अवस्था का फल होती है। उद्वेग के अनन्तर जो शैथिल्य होता है वही इसका कारण है। भौतिक निद्रा तथा मानसिक अवस्था में अधिक भेद नहीं माना गया है। जिस प्रकार निद्रा में वास्तविक संसार से सम्बन्ध छूट जाता है वही दशा उस मानसिक अवस्था की होती है। निद्रा की साहित्य-दर्पण में इस प्रकार व्याख्या की गई है। निम्नलिखित व्याख्या से यह स्पष्ट हो जायगा कि निद्रा मानसिक विकार ही है। इन्होंने इसे चित्त का सम्मिलन कहा है। इसमें चित्त की क्रिया एक प्रकार से बन्द हो जाती है।

चेतः संमीलनम् निद्रा श्रमक्लममदादिजा।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम्॥

अर्थात् परिश्रम, ग्लानि, मद (नशा) आदि से उत्पन्न चित्त के संमीलन (बाह्य विषयों से निवृत्ति) को निद्रा कहते हैं। इसमें जम्हाई, आँख मीचना, उच्छ्वास, अँगड़ाई आदि आते हैं।

इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

बीत गई रजनी अति है तब, खेल सबै सजनीनहुँ नींदे ।
आरस सों जमुहाति तिया मुख, कोटि प्रफुल्लित कञ्ज जु नींदे ॥
रीझि रही हरि 'बेनि प्रबीन जू' है रसिया रस रंग चुनी दे ।
बोलत बैन कछू के कछूक, दुहूँ कर मींडत नैन उनीदे ॥

[२२—स्वप्न]

स्वप्न का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

नींद बढ़ै तब तचित तनु, सुख में चित जो जाहि ।
अति उसास मुद्रित नयन, स्वपन कहैं कवि ताहि ॥

स्वप्न निद्रा की ही बढ़ी हुई अवस्था है। यह भी प्रायः शैथिल्य के कारण होती है, किन्तु इसमें कुछ सुख की मात्रा रहती है। समाधि से स्वप्न की तुलना की जाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साँवरो सो तु सुनियो सुख सों कहुँ कालिन्दी कूल कदम्ब की कोरै ।
गोपवधू जुरि आई सबै ब्रजभूषन के सब भूषन चोरै ॥
काहु लई करि की बसुरी, कवि 'देव' कोऊ कर कँकन मोरै ।
कोऊ हस्यो हिय को हरवा हरषाय कोऊ कटि को पट छोरै ॥

स्वप्न में या तो पूरी बेहोशी होती है जैसी कि ऊपर के पद्य में वर्णन की गई है, अथवा पूर्वानुभूत सुख के चित्र स्वप्न-रूप से प्रकट होते रहते हैं। निद्रित अवस्था में जो स्वप्न दिखाई देते हैं उनको लक्षित करता हुआ उदाहरण साहित्य-दर्पण से दिया जाता है। यह मेघदूत से उद्धृत किया गया है—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेष हेतो—
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेन ॥

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थली देवतानां ।
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलये स्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

इसका पद्यानुवाद यहाँ पर दिया जाता है—

प्राणप्रिये स्वप्न-दर्शन ये मुझको पाकर किसी प्रकार ।
तुझसे गाढ़ालिंगन करना चाहूँ जब मैं भुजा पसार ॥
मुझे देख तब स्थली देवियाँ दया-द्रवित हो जाती हैं ।
तरु-पत्तों पर वे मोती-से आँसू बहुत गिराती हैं ॥

'सोवत आज सखी सपने द्विजदेव जु आनि मिले बनमाली ।
जौ लों उठी मिलिबे कहँ धाइ सो हाय ! भुजान भुजान पै घाली ॥
बोलि उठे ये पपीगन तौ लगि 'पीउ कहाँ' कहि कूर कुचाली ।
सम्पति सी सपने की भई मिलिबो ब्रजराज को आज को आली ॥

अहा ! "पी कहाँ ?" में कितना माधुर्य्य है ! पपीहा ने जगा ही नहीं दिया, बल्कि सपने की सम्पत्ति के नाश का चित्र और भी गहरे रङ्ग में रँग दिया । इसी कवि ने एक ठौर और भी स्वप्न का अतीव नेत्ररञ्जक चित्र अङ्कित किया है । देखिये—

"काहू काहू भाँति राति लागी ती पलक तहाँ
सापने में आनि केलिरीति उन ठानी री ।
आपु दुरे जाइ मेरे नैननि मुंदाइ कछु
हौं हूँ बजमारी ढूँढिबे को अकुलानी री ॥
एरी मेरी आली या निराली करता की गति
द्विजदेव नेकऊ न परत पिछानी री ।
जौ लौं उठि आपनो पथिक पिय ढूँढौं तौ लौं
हाय ! इन आँखिन ते नींदई हेरानी री ॥"

देखिये स्वप्न का क्या ही बढ़िया उदाहरण है—

पौढ़ी हुती पलंग पर मैं निसि ज्ञानरु ध्यान पिया मन लाये ।
लागि गईं पलकैं पल सों पल लागत ही पल में पिय आये ॥

ज्यों ही उठी उनके मिलिबे कहँ जागि परी पिय पास न पाये ।
"मीरन" और तो सोय के खोवत मैं सखि प्रीतम जागि गँवाये ॥

वियोग में स्वप्न-मिलन का एक अनुपम साधन है और बहुत-से कविगण स्वप्न की इसी लिये प्रशंसा करते हैं कि उस अवस्था में मनुष्य बिना परिश्रम के एक अलौकिक निधि को प्राप्त कर लेता है। स्वप्नावस्था से जागृति को प्राप्त होना एक प्रकार की हानि बतलाई गई है। यद्यपि 'सोवे सो खोवे' के विपरीत "जागे सो खोवे" का भाव बहुत ही अनूठा है, तथापि इसमें एक स्वार्थ की झलक है। पं० रामनारायण शर्म्मारचित 'रत्न-राशि' में से एक स्वप्न-सम्बन्धिनी कविता उल्लिखित की जाती है जिसमें कि हमारे कवि महोदय ने अपने प्रेम की निःस्वार्थता को इस सीमा तक पहुँचा दिया है कि वह स्वप्न में भी अपनी प्रियतमा को आने का कष्ट नहीं देना चाहते हैं। देखिये, सुकुमारता को परा-काष्ठा तक पहुँचा दिया है। केवल कवि-कल्पना की उड़ान ही नहीं, वरन् उस वर्णन में बहुत-कुछ वैज्ञानिक तथ्य भी है। हमारे स्वप्न हमारी स्मृतियों की पुनरावृत्ति हैं और उनका उदय कभी-कभी ऐसी उच्छृङ्खलता के साथ होता है कि अचानक बहती हुई धारा में एक नूतन विचार कूद-सा पड़ता है। स्वप्न जिस प्रकार किसी स्वप्न-शृंखला में उदय होकर विलीन हो जाते हैं तथा पुनरुत्थान को प्राप्त होते हैं, उसका बहुत ही विशद वर्णन किया गया है। स्वप्न हमारी स्मृतियों के ही फल नहीं वरन् उनके लिये यह भी कहा जाता है कि वे अदृश्य-पथानुगामी हमारे मानसिक विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप हैं। हम स्वप्न में प्रायः वही देखते हैं जो कि हम देखना चाहते हैं। हमारी प्रेय वस्तु "स्नेह

के अदृश्य सूत्र में बिंधी" चली जाती है। इसके लिये कवि स्वयं अपने को अपराधी मान अपनी प्रियतमा को स्वप्न में आने से रोकता है। देखिये—

स्वप्न में क्यों आती हो प्रिये ?

(१)

निकटतम नहिं मम वासस्थान
थकोगी प्रिय आते – आते !
निरन्तर चल अनन्त पथ में
परिश्रमित होंगे मंजुल गात
सुख स्मृति के चढ़ स्यन्दन
स्वप्न में क्यों आती हो प्रिये ?

(२)

विचारों की धारा में मम
कूद पड़ती हो क्यों मृदुले ?
अकुंठित आलोड़ित वेगित
तरंगित लहरों में प्रति क्षण
चुभकियाँ खाने पर भी सपदि
स्वप्न में क्यों आती हो प्रिये ?

(३)

रज-कणों में बिखरा मम प्रेम
पूर्व का संचित मम अनुराग,
छानकर विश्व कणों को खूब
ढूँढ़ती फिरती क्यों सुभगे ?
अवनि अम्बर को करती एक
स्वप्न में क्यों आती हो प्रिये ?

(४)

हीन संज्ञा–सी पगली–सी
मूँदकर पल्लव–से युग नैन,
डरी–सी, सिहरी–सी, चुपचाप
हृदय–तल में मम स्मृति छुपा
स्नेह के अदृश्य सूत्रों में बिंधी
स्वप्न में क्यों आती हो प्रिये ?

देखिये, कवि को खोजती आती हुई स्वप्न की नायिका का कैसा सजीव मनोमुग्धकारी चित्र है। कवि की कल्पना का संसार कैसा सुरम्य है ?

[२३—विबोध]

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सब इन्द्री जहँ प्रथम ही, करती हैं परकास ।
ताहि कहत विबोध हैं, तजी नींद जब पास ॥

विबोध जागृतावस्था को कहते हैं। यह जागृति मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार से होती है। शरीर की जाग्रतावस्था के अतिरिक्त यह ज्ञान की प्रबोध अवस्था को भी बतलाता है। गीता में भी कहा है—

"या निशा सर्वभूतानं तस्यां जागर्त्ति संयमी।"

नीचे बिहारी से विबोध का एक अच्छा उदाहरण दिया जाता है—

कुञ्ज भवन तजि भवन को, चलिये नन्दकिसोर ।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर ॥

साहित्य-दर्पण में विबोध की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयन मीलनाङ्गावलोककृत् ॥

निद्रा को दूर करनेवाले कारणों द्वारा चेतनता की प्राप्ति को विबोध कहते हैं । इसमें जँभाई, अँगड़ाई, आँख मीचना अपने अङ्गों का अवलोकनादि है । इसका वर्णन प्रायः शृंगार रस के सम्बन्ध में होता है । देवजी ने इस प्रकार उदाहरण दिया है—

सापने हों गई देखन को तहाँ नाचत नन्द जसोमति को नट ।
तौ लगि गाय रँभाय उठी कवि 'देव' बधून मथो दधि को मट ॥
बा मुसकाय के भाव बताय के मेरोइ खैंचि खरो पकरो पट ।
जागि परी तो न कान्ह कहूँ कवि देव वे कुञ्जन कालिंदी के तट ॥

स्वप्न में भी प्रातःकाल का दृश्य बतलाया गया है और स्वप्न में पट खींचने के ही द्वारा जागृति हुई है ।

[२४—अभिहित्थ]

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

कछु मिस करि जहँ आपनो, गोपन करै आकार ।
अभिहित ता को कहत है, कविजन यह निरधार ॥

जहाँ पर लज्जा की इतनी प्रधानता होती है कि उसके वश अपने मनोगत हर्षादि भावों को छिपाने का यत्न किया जाता है, उस अवस्था को अभिहित्थ कहते हैं । शकुन्तला का दुष्यन्त से समागम कण्व की अनुपस्थिति में हुआ था । कण्व के लौटने पर जो शकुन्तला का अपने मनोगत भाव के छिपाने की मानसिक चेष्टा होगी, उसे अभिहित्थ कहेंगे । यह भाव-गोपन केवल लज्जा ही के कारण नहीं होता, वरन् भय तथा गौरव से भी होता है । साहित्य-दर्पण में अभिहित्थ का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

एवंवादिनि दैवर्षौ पार्श्वेपितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणी गणयामास पार्वती ॥

अर्थात् जब देवर्षियों ने पार्वतीजी के शिवजी के साथ विवाह की वार्ता चलाई तो अपने पिता के पास नीची गर्दन किये बैठी हुई पार्वतीजी लीला में कमल की पँखडियाँ गिनने लगीं। देवजी ने अभिहित्थ का अच्छा उदाहरण दिया है—

देखन को बनिता निकसी बनिता बहु बानि बनाइकै बागे ।
'देव' कहै दुरि दौरिकै मोहन आर गये उतते अनुरागे ॥
बाल की छाति छुइ छल सों धर कुंजन में रस पुंजन पागे ।
पीछे निहारि निहारत नारिन हार हिये के सुधारन लागे ॥

[२५—अपस्मार]

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

कम्प फेन-मुख मूर्छा, अपस्मार केहि जानि ।
होत ग्रहादिक दोष ते, कै भयभीत बखानि ॥

अपस्मार एक प्रकार की व्याधि है जो उद्वेग के आधिक्य के कारण उत्पन्न होती है। यह कई रूप धारण करती है। कभी इसके वश पुरुष या स्त्री हाथ पैर फेंकने लगते हैं, कभी कँपने लगते हैं, मुख में फेन भी आ जाता है और प्रायः उस काल के लिये संज्ञा-शून्य हो जाते हैं। यह व्याधि प्रायः मानसिक कारणों से ही हुआ करती है। भय अथवा इच्छा का अवरोध हमारी मन की अनुद्-बुद्ध अवस्था को (Subconcious state) प्रभावित कर देती है। और किसी कारण—विशेष से वह लुप्त संस्कार जागृत हो अपना पूरा प्रभाव दिखाने लगते हैं, थोड़े काल के लिये मस्तिष्क तथा स्नायु-संस्थान में ऐसा विकार उत्पन्न कर देते हैं जिसके कारण से

शरीर में मूर्छा, कम्पादि उपस्थित हो जाते हैं। मूर्छा यद्यपि वर्तमान कारणों से होती है तथापि उसका सम्बन्ध कुछ पूर्वानुभूत अरुचिकर अनुभवों से अवश्य रहता है। अपस्मार अवस्था का 'बेनी-प्रबीन' से वर्णन दिया जाता है—

> बोलै बिलोकै न पीरी गई, परि आई भले ही निकुञ्ज मझारन।
> ऐसी अनैसी बिलोकनि रावरी, होत अचेत लगी कछु बारन॥
> फैन तजै मुख तैं पटकै कर, जो न किये जू बिथा निरबारन।
> वाहि उठाइ सबै सखियाँ हम, जाती चलीं जसुदा पहँ डारन॥

[२६—व्याधि]

व्याधि का लक्षण इस प्रकार है—

> धातु कोप, प्रीतम विरह, अन्तर उपजै आधि।
> ज्वर विकार, बहु जंग में, ताको बरनत व्याधि॥

शारीरिक रसों के बिगड़ने तथा विरह के कारण ज्वर आदि जो विकार उत्पन्न हो जाते हैं उनको व्याधि कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

> ता दिन ते अति व्याकुल है जिय, जा दिन ते पिय पन्थ सिधारे।
> भूख न प्यास बिना ब्रज-भूषन, भामिनि भूषन भेस बिसारे॥
> पावते पीर नहीं कवि 'देव', करोरिक मूरि जबै करि हारे।
> नारी निहारि निहारि चलै, तजि वैद बेचारे विचार विचारे॥

कविवर 'बिहारी' ने कहा है कि इस व्याधि का निदान वैद्य और औषधि एक ही होता है। देखिये—

> मैं लख नारी ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
> वहई रोग निदान, वही वैद औषध वहै॥

केवल सुदर्शन ही (जो विषम ज्वर के काम भी आता है

और जिसको दूसरे अर्थ में शुक्र-दर्शन ही कहते हैं) औषधि है। देखिये—

यह बिनसत नग राखि के, जगत बड़ो जस लेहु ।
जरी विषम जुर जाइये, आप सुदर्शन देहु ॥—बिहारी

[२७—उन्माद]

इसका लक्षण इस प्रकार है—

प्रिय वियोग ते जहँ बिथा, वचन विलाप बिषाद ।
विन विचार आचार जहँ, सो कहिये उन्माद ॥

व्याधि शरीर के विकार को कहते हैं। विरहावस्था में चित्त की अस्थिरता के कारण एवं भाव की तीव्रतावश मानसिक संस्थान साधारण स्थिति से परिवर्तित हो जाता है। इसी अवस्था में कार्याकार्य, उचित एवं अनुचित का ध्यान नहीं रहता। यहाँ तक कि व्यक्ति अपनी स्थिति को भी भूल जाता है। देखिये—

अति व्याकुल भइ गोपिका, ढूँढ़त गिरधारी ।
बूझति हैं बन-बेलि सों देखे बनवारी ॥
जाही जुही सेवती, करना कनिआरी ।
बेली चमेली मालती, बूझति द्रुम डारी ॥
खूझा महुआ कुन्द सों, कहें गोद पसारी ।
बकुल बहुलि बट कदम पै, ठाढीं ब्रज-नारी ॥
बार बार हा हा करैं, कहुँ हौ गिरधारी ।
'सूर' स्याम को नाम लै, लोचन जल ढारी ॥

नीचे जो 'देवजी' का उदाहरण दिया जाता है, उसमें यह दिखलाया गया है कि उन्मादावस्था में उचित-अनुचित का ध्यान

नहीं रहता। नागरिक लोगों के 'चवाउ' का भय न कर स्वयं ही कहती फिरती है कि यह माला गोपाल ने गूँथी है। देखिये—

अरि के बहु आज अकेलि गई, परि के हरि के गुन रूप लुही।
उन हूँ अपनो पहिराय हरा, मुसकाय के जाय के गाय दुही॥
कहि 'देव' कहौ किन कोऊ कछू, तब ते उनके अनुराग छुही।
सब ही सों यहै कहै बाल-बधू, यह देखौ री माल गुपाल गुही॥

उन्मादावस्था में लोक-लाज का बिलकुल तिरस्कार-सा होने लगता है। देखिये:—

कैसी कुल बधू? कुल कैसो? कुल बधू कौन?
तू है, यह कौन पूछै काहू कुलटाहि री।
कहा भयो तोहिं? कहा काहि तोहिं मोहिं किधौं,
कीधों और का ह्वै और कहा न तौ काहि री?
जाति ही ते जाति, कैसी जाति? को है जाति एरी,
तो सो हौं रिसात, मेरी मो सों न रिसाहि री।
लाज गहु, लाज गहु, लाज गहिबे हौं रही,
पंच हँसि हैं री, हौं तो पँचन ते बाहिरी॥

श्रीरामचन्द्रजी की उन्मादावस्था का वाल्मीकि-रामायण में इस प्रकार वर्णन आया है—

किं धावसि प्रिये नूनं दृष्टासि कमलेक्षणे।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मानप्रतिभाषसे॥
तिष्ठतिष्ठ वरारोहे न तेस्ति करुणामयि।
नात्यर्थं हास्यशीला सि किमर्थं मामुपेक्षसे॥
पीत कौशेय केनासि सूचिता वरवर्णिनि।
धावंत्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम्॥
नैव सानूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी।
कृच्छ्रं प्राप्तमिमांनूनं यथापेक्षितुमर्हति॥

अर्थात्, हे प्रिये! हे कमलनयने! तुम अब क्यों दौड़ी जाती हो? हमने अब निश्चय ही तुमको देख लिया है। तुम किस कारण से इन वृक्षों के मध्य में छिपकर हमसे नहीं बोलती हो। हे वरारोहे! हम वारंवार कहते हैं कि तुम खड़ी रहो, और इधर-उधर दौड़ती न फिरो? क्या हमारे ऊपर तुमको दया नहीं आती? तुम तो कभी हमारे साथ इतना उपहास नहीं करतीं थीं, क्यों हमारी उपेक्षा करती हो? हे वरवर्णिनी! हमने तुम्हारे पीले रेशमी वस्त्र देखकर तुमको पहिचान लिया है और यह भी हम देख रहे हैं कि तुम भाग ही रही हो। इससे यदि तुम कुछ प्रेम हमारे साथ रखती हो तो लौट आओ और भागती न फिरो। अथवा हे चारुहासिनी! हमने जिसको देखा है वह तुम नहीं हो, तुमको तो निश्चय ही किसीने मार डाला, यदि ऐसा न होता तो इस दारुण क्लेश के समय भी क्या तुम भी हमको छोड़ सकती हो?

हनुमान्नाटक में इस उद्वेगावस्था को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। देखिये—

के यूयं वद नाथ नाथ किमिदं दासोस्मि ते लक्ष्मणः।
कोऽहं वत्स स आर्य एव भगवानार्यः स को राघवः॥
किं कुर्मो विजने वने तत इतो देवी समुद्वीक्षते।
का देवी जनकाधिराजतनया हा हा प्रिये जानकी॥

श्रीरामचन्द्रजी की उन्मादावस्था यहाँ तक पहुँच जाती है कि वह अपने सम्मुख खड़े हुए प्रिय भ्राता को पहिचानते नहीं हैं। वह पूछते हैं "के यूयं" तुम कौन हो? लक्ष्मणजी इस बात से थोड़ा घबड़ाकर उनका चित्त आकर्षित करने के हेतु

उनको "नाथ" करके सम्बोधित करते हैं, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी 'नाथ' का भी अर्थ नहीं समझते हैं। तब लक्ष्मण जी कहते हैं कि मैं लक्ष्मण आपका दास हूँ। जब श्रीरामचन्द्रजी 'आप' शब्द सुनते हैं तब वह अपने को भूलकर पूछते हैं कि "कोऽहं" अपने को भी भूल जाना उन्माद की अंतिम दशा है। उसके उत्तर में लक्ष्मणजी कहते हैं कि आप भगवान् आर्य रघुकुल-शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी हैं। यह बतला देने पर भी कि वह राम हैं, उनको यह स्मरण नहीं आता कि वह किस अर्थ वन में आए हुए हैं, अतः लक्ष्मणजी से प्रश्न करते हैं कि हम इस निर्जन वन में क्या कर रहे हैं? तब उनको बतलाया जाता है कि वह देवी सती सीता की खोज में हैं। किन्तु उनकी विस्मृति इस सीमा तक पहुँची हुई थी कि जिस देवी की खोज में वह वृक्षों और मृगों से यह पूँछते फिरते थे कि—

"हे खग मृग हे मधुकर श्रैनी, तुम देखी सीता मृगनयनी ॥"

उनको भी भूल जाते हैं कि वह कौन हैं? और पूछते हैं कौनसी देवी? जब उनको स्मरण दिलाया गया कि वह देवी "जनकाधिराजतनया" हैं तब उनकी स्मृति जागृत होती है और वह विकल होकर कहने लगते हैं "हा हा प्रिये जानकी"

[२८—मरण]

इसका लक्षण इस प्रकार से है:—

प्रगटै लछण मरन को, अस विभाव अनुभाव।
सो निदान करि बरनिये, सो श्रृंगार अभाव ॥
निर्वेदादिक भाव सब, बरनै सरिस सुभाव।
ता विधि मरनो बरनिये, जा में रस न नसाय ॥

साहित्य-दर्पणकार ने मरण को वास्तविक मरण ही माना है। उनके लक्षण में जीव-त्याग आया है*जिससे और उनके दिये हुए उदाहरण से भी स्पष्ट होता है उन्होंने मरण का अर्थ प्राणान्त होना ही लिया है। जहाँ पर कि मरने के लक्षण प्रकट हो जाते हैं और व्यक्ति मरणतुल्य दिखाई पड़ने लगता है उस दशा को मरण कहते हैं। यह वियोग की अन्तिम दशा है। वास्तविक मरण का वर्णन करना श्रृंगार से बाहर हो जाता है अतएव जो मरण के वर्णन आते हैं उनमें मरण की दशा का ही वर्णन हो आता है, वास्तविक मरण का नहीं। मरण का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

राधा के बाढ़ी वियोग की बाधा, सु 'देव' अबोल अडोल डरी रही।
लोगन की वृषभानु के भौन में, भोरते भारिये भीर भरी रही॥
वाके निदान के प्रान रहे कढ़ि, औषधि मूरि करोरि करी रही।
चेति मरू करि के चितई जब, चार घड़ी लों मरीये धरी रही॥

इसमें मरण की सी सब दशा हो गई है किन्तु वास्तविक मरण नहीं हुआ। बेनी-प्रबीन ने जो उदाहरण दिया है उसमें वास्तविक मरण दिखलाया है, देखिये—

धीर धुरीन धरा को पुरन्दर, कोसल राय सो दूसरो को कहि।
राज समाज तज्यौ तिन तूल, अतूल जो सत्य को मूल रह्यो गहि॥
मानत बेनी है राम सो पूत, पठाइ दियो बन कीरत को चहि।
आप सिधाय गयो सुरधाम को, एक घरी न वियोग सक्यो सहि॥

इन दोनों मतों में देवजी का ही मत मानने योग्य प्रतीत होता है।

---

* शरीराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्।

[२६—मति]

इसका लक्षण इस प्रकार है—

नीति रीति यह जानिये, जाते विपत विहाय।
जो कहिये करिये सोई, मति कहिये तेहि गाय॥

देवजी ने इस प्रकार लक्षण दिया है—

सासति मन में होइ जहँ, जहाँ यथारथ ज्ञान।
करै शिष्य उपदेश जहँ, मति कहि ताहि बखान॥

नीति अनुकूल यथार्थ ज्ञान को मति कहते हैं। यह यथार्थ ज्ञान शास्त्र-सम्मत होने से, तर्क-सम्मत होने से अथवा आत्म-निश्चय से होता है। साहित्य-दर्पणकार ने आत्म-निश्चय से प्राप्त मति का उदाहरण शकुन्तला से इस प्रकार दिया है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

इसका पद्यानुवाद राजा लक्ष्मण सिंह की शकुन्तला के अनुवाद से दिया जाता है—

भयो जु मेरो शुद्ध मन, अभिलाषा हिय माहिं।
ब्याहन छत्री जोग यह, संसय नेकहु नाहिं॥
होत कछू संदेह जब, सज्जन के हिय आय।
अन्तःकरण प्रवृत्ति ही, देति ताहि निबटाय॥

श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी को पुष्पवाटिका में देखकर अपना मत इस प्रकार निश्चय किया था।

'जासु बिलोकि अलौकिक शोभा। सहज पुनीत मोर मन क्षोभा॥
सो सब कारन जानु बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुन भ्राता॥

रघुवंशिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरै न काऊ॥
मोहि अतिशय प्रतीत जिय केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥'
—गोस्वामी।

मति के सम्बन्ध में देवजी ने उपालम्भ, अनुनय एवं उपदेश का भी वर्णन किया है। यह दोनों शृंगार के अंग हैं। उपालम्भ में प्रायः कुछ वक्रोक्ति रहती है और उपालम्भ देना प्रेम का सूचक होता है। उपालम्भ उसी को दिया जाता है जिस पर अपना कुछ ज़ोर हो। यह एक प्रकार का मृदु-दण्ड है। प्रेम के दण्ड-विधान में इसको बहुत ऊँचा स्थान मिलता है। देवजी ने इसका इस प्रकार उदाहरण दिया है। यह दो प्रकार का है (१) कोप से और (२) प्रणय से। देखिये—

उपालम्भ द्वै भाँति को, बरनत हैं कविराइ।
एक कहावै कोप तै, दूजो पनै सुभाइ॥

कोप का उदाहरण इस प्रकार है—

बोलत हौ कत बैन बड़े अरु, नैन बड़े बडपेन अड़े हो।
जानति हौं छल छेल बड़े जू, बड़े खन के रह पैड़ पड़े हो॥
'देव' कहैं हरि रूप बड़े ब्रज-भूप बड़े हम पै उमड़े हो।
जाउ जी जाउ अनीठ बड़े उस, ईठ बड़े पर ढीठ बड़े हो॥

प्रणय का उदाहरण इस प्रकार से है:—

लाल भले हौ कहा कहिये, कहिये तो कहा कहु को है कहैया।
काहु कहूँ न कही न सुनो हमैं, को कहिबे कँह काहि सुनैया॥
नैन परै न परै कर सैन न, चैन परै जब बैन बरैया।
'देव' कहैं नित को मिलि खेलि, इतै हित कै चित को न चुरैया॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को कवियों ने खूब उपालम्भ का

विषय बनाया है। यह उपालम्भ अत्यन्त मधुर एवं मनोहर है। कुछ उदाहरण यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं—

मधुकर यह कारे की रीति।
मन दे हरत परायो सरबस, करै कपट की प्रीति॥
ज्यों षट-पद अम्बुज के दल में, बसत निसा रति मानि।
दिन कर उड़े अनत उठि बैठे, फिरि न करत पहिचानि॥
भुवन भुजङ्ग पिटारे पाल्यो, ज्यों जननी जिय तात।
कुल करतूति जात नहिं कबहूँ, सहज सुहंसि भजि जात॥
कोकिल, काग, कुरङ्ग, श्याम घन, हमहिं न देखै भावे।
'सूरदास' अनुहारि श्याम की, छिनु छिनु सुरति करावै॥

× × × ×

सखिरी श्याम सबै इक सार।
मीठे बचन सुहाये बोलत, अन्तर जारन हार॥
भँवर, कुरङ्ग, काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार।
कमल नयन मधुपुरी सिधारे, मिटि गयो मङ्गल चार॥
सुनहु सखी री दोष न काहू, जो बिधि लिखो लिलार।
यह करतूति इन्है की नाईं, पूरब विविध विचार॥
उमगी घटा निरखि आवै पावस, प्रेम की रीति अपार।
"सूरदास" सरिता सर पोषत, चातक करत पुकार॥

तिनही न पतीजै री जे कृतही न माने।
ज्यों भँवरा रस चाखि चाहि कै, तहाँ जाइ जहाँ नव तन जानै।
कोयल काग पालि कहा कीन्हो, मिले कुलहि जब भए सयाने।
सोई घात भइ नंद-महर की, मधु-बनते जो आने॥
तब तो प्रेम विचार न कीन्हों, होत कहा अब के पछिताने।
'सूरदास' जो मन के खोटे, अवसर परे जाहिं पहिचाने॥

भक्तों ने अच्छे-अच्छे उपालम्भ दिये हैं—

मोंहि प्रभु तुम सों होड़ परी।
ना जानों करिहौ जु कहा तुम, नागर नवल हरी॥
होती जिती रही पतिताहू, मैं तै सबै गरी।
पतित समूहनि उद्धरिबे को, तुम जिय जक पकरी॥
मैं जो राजिव नैननि दुरि-दुरि, पाप पहार दरी।
पावहु मोंहि कहो तारन को, गूढ़ गंभीर खरी॥
एक अधार साधु संगति को, रचि पचि कै सँचरी।
सोचि-सोचि जिय राखी अपनी, याही धरनि धरी॥
मोको मुक्त विचारत हो प्रभु, पूछत पहर घरी।
श्रम ते तुम्है पसीनो ऐहैं, कत यह जकनि करी॥
'सूरदास' बिनती कहा बिनवै, दोषनि देह भरी।

× × × ×

आजु हों एक एक करि टरिहौं।
कै हम ही कै तुम ही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तो पतित अहो पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें विरद बिनु करिहौं॥
कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
'सूर' पतित तब ही लै उठि हैं, जब हँसि दैहो बीरा॥

× × × ×

छाँडिके मोहिं गये मथुरा, कुबरी तहँ जाय भई पट रानी।
जो सुधि लीनी तो योग सिखायो, भये हरीचन्द अनूपम ज्ञानी॥
गोप सो जाये भये रजपूत, लड़ेकिन जोड़ को आपुनै जानी।
मारत हौ अब लोगन को तुम, याही में वीरता आय खटानी॥

× × × ×

कबै आप गये थे विसाहन बजार बीच,
कबै बोलि जुलाहा विनाये दरपट से।
नन्द जी की कामरी न काहू वसुदेव जू की,
तीन हाथ पटुका लपेटे रहे कटि से॥
'मोहन' भनत यामें रावरी बड़ाई कहा,
राखि लीन्ही आनि बानि ऐसे नट-खट से।
गोपिन के लीन्ही तब चीर चोरि-चोरि अब,
जोरि-जोरि देन लागे द्रोपदी के पट से॥

इस भाव को श्रीसत्यनारायण जी ने बहुत ही उत्तम रीति से दिखाया है—

माधव आप सदा के कोरे।
दीन दुखी जो तुम को जाँचत, सो दाननि के भोरे॥
किन्तु बात यह तुव स्वभाव वे, नेकहु जानत नाहीं।
सुनि-सुनि सुयस रावरो तुव ढिग, आवन को ललचाहीं॥
नाम धरे तुम को जगमोहन, मोह न तुमको आवै।
करुनानिधि तुव हृदय न एकहु, करुना बुन्द समावै॥
लेत एक को देत दूसरेहिं, दानी बन जग माहीं।
ऐसो हेर फेर नित नूतन, लाग्यो रहत सदाहीं॥
भाँति भाँति के गोपिन के जो, तुम प्रभु चीर चुराये।
अति उदारता सों लै वेही, द्रौपदि को पकराये॥
रतनाकर को मथत सुधा कों, कलस आप जो पायो।
मंद-मंद मुसुकाति मनोहर, सो देवन को प्यायो॥
मत्त गयन्द कुवलया के जो, खेल प्रान हरि लीन्हे।
बड़ी दया दरसाय दयानिधि सो गजेन्द्र को दीन्हे॥
करि के निधन बालि रावन को राजपाट जो आयो।
तहँ सुग्रीव विभीषन को करि अति अहसान बिठायो॥

पौंडरीक को सर्वनाश करि माल मता जो लीयो।
ताको विप्र सुदामा के सिर, करि सनेह मढि दीयो॥
ऐसी तुमा पलटी के गुन, नेति-नेति श्रुति गावैं।
सेस महेस सुरेस गनेस हूँ, सहसा पार न पावैं॥
इत माया अगाध सागर तुम, डोंवहु भारत नैया।
रचि महाभारत कहूँ लरावत, आपस में भैया-भैया॥
या कारन जग में प्रसिद्ध अति, निवटी रकम कहावो।
बड़े-बड़े तुम मठा धुँवारे, क्यों साँची खुलवावो॥

अनुनय-विनय (मति के अन्तर्गत)

अनुनय-विनय का सम्बन्ध विशेष कर मान से है। वैसे बिना मान के भी अनुनय-विनय की जाती है। अनुनय-विनय का निम्नोल्लिखित उदाहरण देखिये—

वै बड़ भाग भरे अनुराग हितै अति भाग सुहाग भरी हौ।
देखौ विचारि समै सुख को तन जोबन जोतिन सों उजरी हौ॥
बालम सो उठि बोलो बलाइल्यो यों कहि 'देव' सयानि खरी हौ।
हेरति बाट कपाट लगे हरि बाट खरे तुम खाट परी हौ॥

अनुनय-विनय जो की जाती है उसमें अनुनय-विनय करने वाला अपने को नीचे समझता है और जिसकी अनुनय-विनय की जाती है उसको श्रेष्ठता दी जाती है। उपदेश में यद्यपि उपदेश देनेवाला कहता है वास्तव में अपने हित की बात, किन्तु दिखलाता यह है कि वह जिसको उपदेश देता है उसीका उपकार करता है। उपदेष्टा अपने को बड़ा नहीं तो कम से कम बराबरीवाला अवश्य समझता है। कभी उपदेश स्वयं दिया जाता है और कभी दूसरे के द्वारा। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

कोप तै बीच पर्‍यो पियसों, उपजावत रंग में भंग सुभारो।
क्रोध निधान सुविरोध निधान, समान महा सुख में दुखकारो॥
ताते न मान समान अकारन, जाको अमान बड़ो अधिकारो।
देव कहैं कहियो हित की हरि, जैसो हितू न कहूँ हितकारो॥

[३०] त्रास

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

तन कम्पै मति थिर न जहाँ, मन अति होय हिरास।
विवरन बपु विनीत बच, बोलै उपजै त्रास॥

त्रास भय को कहते हैं। इसमें तन कम्पित होता है, बुद्धि स्थिर नहीं रहती और मन अत्यन्त ह्रास हो जाता है। यह भय प्राय: भौतिक कारणों से होता है। जैसे, बिजली, उल्कापात इत्यादि। त्रास का उदाहरण उत्तर रामचरित से दिया जाता है—

अवसि जासु भयानक झर्प सों, झुरसि चौंर धुजा जिन के गये।
अस विचित्र विमाननु-मण्डली, भजि चली भयसों छितराम कें॥
विविध रंग गये झुर से लसें, सुपट अञ्चल दिव्य धुजान के।
जनु शिखी उनपै बहु अग्नि की, मुदित मञ्जुल डारतीं॥

"कैसी आश्चर्य की बात है! वह देखो विभीषण वज्र-खण्डों के समान तीक्ष्ण अंगारों की झड़ी लगाए और बेग से लपलपाती उठती ज्वाला की जिह्वा से उद्दण्ड-भैरव रूप धारण किये मानो साक्षात् भगवान अग्निदेव चले आ रहे हैं। चारों ओर यह उन्हीं का प्रचण्ड प्रताप फैल रहा है। अब तो ज्वाला सही नहीं जाती इसलिये प्यारी को अपने पार्श्व में छिपा कर यहाँ से कहीं दूर भागना चाहिये"।

त्रास का देवजी ने इस प्रकार उदाहरण दिया—

श्रीवृषभान लली मिलिके, जमुना जल केलि को हेलनि आनी ।
रोमवलीनवली कहि 'देव', सु सोने से गात अन्हात सुहानी ॥
कान्ह अचानक बोलि उठे, डर वाल के ब्यालबधू लपटानी ।
धायके धाय गही ससवाय दुहूकर झारत अंग अपानी ॥

[३१] उग्रता

उग्रता का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

अनाचार जहँ और को, कहूं सह्यो न जाय ।
ताहि उग्रता कहत है, निदरै रूप लखाय ॥

साहित्य-दर्पण में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताड़नादयः ॥

शूरता अथवा अपराध से उत्पन्न तेजी का नाम उग्रता है । इसमें स्वेद, सिर का कम्पन, तर्जन और ताड़नादिक होते हैं। देवजी ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

मोहन आई भये अब भूपति, देव महामद सों मद मातो ।
कोरे परे अब कूबरी के हरि थाते, किये हमते हित हातो ॥
गोकुल गाँव के गोप गरीब हैं, वंश बराबरि ही न वहांतो ।
बैठे रहौ सपने न सुनो कहुँ, राजन सो परजान सो नातो ॥

[३२] वितर्क

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

विपति विचित्र विचार अरु, संसय अध्यवसाय ।
बितरक चौविधि जानिये, भू बल निन्दक भाय ॥

विचार, संशय, विपत्ति और अध्यवसाय के कारण जो सन्देह वा तर्कना की जाती है उसे वितर्क कहते हैं। जब आदमी किसी प्रकार के कष्ट में होता है तो उसको उस कष्ट के कारणों एवं उससे बचने के सम्बन्ध में नाना प्रकार की सम्भावनायें उपस्थित होने लगती हैं। वह सोचता है कि यदि ऐसा होता तो ऐसा होता अथवा ऐसा न होता तो ऐसा क्यों होता इत्यादि २; इसीको तर्क कहते हैं। जो तर्क संशय, विचार और अध्यवसाय में होता है वह भी इसी प्रकार का होता है। यह तर्क अद्भुत, इसका आश्रय विचित्र पदार्थ के सम्बन्ध में भी होता है। इसमें भृकुटि-भंग, सिर हिलाना और अंगुली उठाना आदि होता है।

संशय-वितर्क का उदाहरण देवजी से दिया जाता है—

यह कैधों कला धर ही की कला, अबला किधौं काम की कैधों सची।
किधौ कौन के भौन की दीपि सिखा, बिधि कौन के भाग की भौन बची॥
तिहुलोक की सुन्दरताई की, एक अनूपम रूप की रासि रची।
नर किन्नर सिद्ध सुरासुरहून की बेचि बधून बिरंचि रची॥

[३३] छल

इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

अपमानादिक करन को, कीजै हियो छिपाव।
वक्र उक्ति अन्तर कपट, सो बरनै छल भाव॥

छल सञ्चारी भावों की गणना से बाहर है, किन्तु इसका काम शृङ्गार में और कभी-कभी नीच कोटि के वीर में पड़ता है। छल का उदाहरण इस प्रकार है—

स्याम सयानो कहावत हैं कहो, आजुको काहि सयानु है दीन्हो,
"देव" कहैं दुरि टेरि कुटीर में अपनो बैर बधू तेहि लीन्हो।

चूमि गई मुख औचक ही पटु, लै गई पै उन याहिन चीन्हो,
छैल भले छिन हो में छलै दिन, ही में छबीली भलो छल कीन्हो ॥

देवजी ने तैंतीसो संचारी भावों का एक ही छंद में समावेश किया है, देखिये—

वैरागिनि कीधौं, अनुरागिनि, सुहागिनि तू,
देव बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यों ?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अन-खाति।
बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
विथकति औ थकति ध्यान, धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति साह-
चरज, सराहि, आहचरज मरति क्यों ?

इसकी व्याख्या स्वयं देवजीने निम्नलिखित छंद में की है—

वैरागिनि निर्वेद, उत्कंठा है अनुरागिनि;
गर्व सुहागिनि जानि भाग मद ते बड़भागिनि।
लज्जा लजति, अमर्ष लरति, सोवति सुनींद लहि;
बोध जगति, आलस्य अलस, हर्षति सुहर्ष गहि।

अनखाब असूया, ग्लानि श्रम, बिलख दुखित दुख दीनता;
संकह डराति, चौंकति कसति, चकति अपस्मृति लीनता।
उचकि चपल, आवेग व्याधि सों, विथकि सु बीड़ति;
जड़ता थकति, सु ध्यान चित्त, सुमिरन धरि धीरति।
मोहि मोहि, अवहित्थ मुरति, सतरानि उग्रगति;
इतरैबो उन्माद, साहचर्यै सराह मति।
अरु आहचर्य बहु तर्क करि, मरन संभ्र मूरछि परति;
कहि "देव" देव तेतीसहू, संचारिन तिय संचरति।

इन सञ्चारी भावों के अतिरिक्त एक रस के स्थायी भाव दूसरे रस में गौण रूप से आकर सञ्चारी भाव बन जाते हैं। साहित्य-दर्पण में यह रस इस प्रकार बतलाये गये हैं :—

> शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः।
> शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः॥
> इत्याद्यन्यत्समुन्नेयं तथा भावितबुद्धिभिः

अर्थात् शृङ्गार और वीर में हास्य, वीर रस में क्रोध और शान्त रस में वीभत्स सञ्चारी भाव होते हैं। इसी प्रकार और भी रसों में यथायोग्य समय लिया जावे। जो भाव आदि से अन्त तक रहें वही स्थायी होते हैं और जो बीच में उदय होकर बीच ही में विलीन हो जाते हैं वह सञ्चारी कहलाते हैं।

इन संचारी भावों का वर्णन कर अब यह बतलाना शेष रह गया कि कौन-कौन रस के कौन-कौन से सञ्चारी भाव हैं। रसों के सम्बन्ध से देवजी ने इस प्रकार सञ्चारी भावों को गिनाया है:—

शृङ्गार—संका सूया भय ग्लानि धृति सुमृति नींद मति।
> चिन्ता विस्मै व्याधि हर्ष उत्कंठा जड़गति॥
> मदविषाद उन्माद लाज अवहित्था जानहु।
> सहित चपलता ये बिसेषि शृङ्गार बखानहु॥
> सामान्यमते संजोग में सकल भाव वर्णन करहु।
> आलस्य, उग्रता-भाव द्वै सहित जुगुप्सा परिहरहु॥

शृङ्गार में आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़ कर सभी संचारी भाव आ जाते हैं। मरण को भी यहाँ स्थान नहीं मिलता (अगर मरण का वास्तविक अर्थ लगाया जावे)। वियोग में जुगुप्सा, आलस्य और उग्रभाव को भी स्थान मिल जाता है।

हास्य—श्रम चापल अवहित्थ, अरु निन्दा स्वप्न ग्लानि ।
संका सूया हास्य रस, संचारी ये जानि ॥
करुण—करुन रोग दीनता स्मृति, ग्लानि चित निर्वेद ।
रौद्र—चापल सूय उछाह रिस, रौद्र गर्व आखेद ।
वीर—स्रम सूया धृति तर्क मति, मोह गर्व अरु क्रोध ।
रोमहर्ष उग्रता रस, वीरा वेग प्रबोध ॥
भयानक—त्रास मरन यह भयानकहि, अरु बीभत्स विषाद ।
बीभत्स—भय मद व्याधि वितर्क मति, मोह गर्व उन्माद ।
अद्भुत सांत—मोह हर्ष आवेग मति, जड़ता विस्मय जानि ।
यह अद्भुत अरु सांत, मैं थिति निर्वेद बखानि ।

[१ सात्विक भाव]

रस के उत्पन्न हो जाने के सूचक, अनुभाव कहलाते हैं। यह सूचक भी होते हैं और रस की परिपुष्टि भी करते हैं। इससे यह रस-सामग्री में स्थान पाते हैं। साहित्य-दर्पण में अनुभाव की इस प्रकार व्याख्या की गई है :—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्वहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनादयोः ॥

अपने-अपने कारणों (विभावादिकों) से उत्पन्न कर अपना 'वहिर्भाव' अर्थात् वाह्य-स्वरूप दिखाते हुए लोक में रति आदि के कार्य होते हैं। वही काव्य में अनुभाव कहलाते हैं। देवजी ने अनुभाव का इस प्रकार लक्षण दिया है :—

जिनके निरखत परसपर, रस को अनुभव होय ।
तिन हीं सो अनुभाव सब, कहत सयाने लोय ॥

अनुभाव की बहुत विस्तृत व्याप्ति है।

उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः।
तद्रूपा सात्विका भावास्तथा चेष्टाः परापि वा॥

अर्थात् स्त्रियों के अङ्गज स्वभावज—हाव, भाव, लीला, औदार्यादि—गुण सात्विक भाव रति आदि से उत्पन्न चेष्टाएँ:-

हाव-भाव का वर्णन अन्यत्र दिया जायगा। सात्विक-भावों का वर्णन यहाँ दिया जाता है। अनुभावों का नाम प्रत्येक रस के साथ दिया गया है। अनुभावों का–उदाहरण देते हुए देवजी ने शृंगार के अनुभाव इस प्रकार बतलाए हैं :—

आनन वचन प्रसन्नता, चल चितौनि मुसकानि।
ये अभिन्न शृङ्गार के, अंग भंग युत जानि॥

देवजी ने सात्विक भावों को संचारी भावों के अन्तर्गत माना है। देखिये :—

स्थिति भावरु अनुभाव ते, न्यारे अति अभिराम।
सकल रसन में संचरै, संचारी कहु नाम॥
ते सरीर अन्तर कहत, द्वै विधि सब भरतादि।
स्तम्भादिक सारीर अरु, अन्तर निर्वेदादि॥

संचारी कहने से यह भाव कार्य-रूप नहीं रखते वरन् सहचारी हो जाते हैं। साहित्य-दर्पण में सात्विक भावों की इस प्रकार व्याख्या दी गई है :—

विकाराः सत्वसम्भूताः सात्विका परिकीर्तिताः।
सत्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः॥

अर्थात् सत्व गुण—अपनी आत्मा अर्थात् आनन्द को प्रकाश करने वाला, एक आन्तरिक धर्म से उत्पन्न होने वाले

विकार सात्विक कहलाते हैं। केवल सत्व से उत्पन्न होने के कारण यह अनुभावों से भिन्न कहे गये हैं। यद्यपि यह अनु· भावों के अन्तर्गत हैं, तथापि इनको विशेषता देने के लिये यह पृथक् कहे गए हैं। सात्विक भावों के सम्बन्ध में एक मत यह है कि इनकी उत्पत्ति सत्व अर्थात् शरीर से होती है। इसी कारण यह सात्विक कहलाते हैं।

सात्विक भाव इस प्रकार से गिनाये गए हैं :—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः॥

अर्थात् स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय यह आठ सात्विक भाव माने गए हैं। अब इनका एक-एक करके वर्णन किया जाता है।

[१] स्तम्भ

इसकी साहित्य-दर्पण में इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

'स्तम्भश्चेष्टा प्रतीघातो भयहर्षमयादिभिः'

अर्थात् भय, हर्ष, रोगादि के कारण हाथ, पैर तथा अन्य अवयवों की चेष्टाओं का रुक जाना स्तम्भ कहलाता है। देवजी ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है:—

रिस विसमै भय राग सुख, दुख विवाद ते होइ।
गति निरोध जो गात में, स्तम्भ कहत कवि लोइ॥

स्तम्भ की क्रिया प्रायः आकस्मिक होती है और यह ऐसे ही भावों के साथ प्रगट होती है जिनका प्रभाव एक साथ पड़े। जब मनुष्य किसी बात की आशङ्का न करता हो उसी समय यदि वह कोई वज्राघात सा दुस्संवाद सुने तो उसके अङ्ग

स्तम्भित हो जाते हैं। जब भाव की तीव्रता में आवेग की-सी अवस्था प्राप्त हो जाती है तब मनुष्य की सारी शक्ति एक ओर केन्द्रस्थ हो जाती है तथा अङ्गों की स्वाभाविक गति का निरोध हो जाता है। यद्यपि शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं में विशेष विचार की आवश्यकता नहीं होती तथापि जिस समय मानसिक शक्तियों के ऊपर एक साथ तक़ाज़ा-सा आ जाता है उस समय उसका अभाव अङ्गों की स्वाभाविक क्रिया पर पड़ता है। इसीके साथ रुधिर का भी सञ्चार एक ओर केन्द्रस्थ होकर अन्य स्थानों में शिथिल हो जाता है और उन अङ्गों की स्फूर्ति तथा क्रिया बन्द हो जाती है। यह दशा साधारण अवस्था में नहीं होती।

इसका उदाहरण तोषनिधि से दिया जाता है:—

> हलत न चलत न परत पल, लखत एक टक बाम।
> मित्र चित्र दरसाय में, कियो कहा यह धाम॥

और भी उदाहरण देखिये:—

> पाग सजत हरि दृग परी, जूरा बाँधत बाम।
> रहे पेच कर में परे, परे पेच में स्याम॥—बिहारी।
> तन सुधि बुधि दीनी रितै, चितै रसीले लाल।
> इक टक ह्वै लखि रही, मनो चित्र सी बाल॥

स्तम्भ स्वेदादि शारीरिक व्यञ्जकों का वैज्ञानिक विवरण एक साथ इनके साहित्यिक विवरण के पश्चात् दिया जायगा।

[२] स्वेद

स्वेद का देवजी ने इस प्रकार लक्षण दिया है:—

> क्रोध हर्ष सन्ताप श्रम, घातादिक भ्रम लाज।
> इनते सजल सरीर सों, स्वेद कहत कविराज॥

स्वेद का वर्णन साहित्य-ग्रन्थों में विशेष कर शृंगार के सम्बन्ध में आया है किन्तु भय, शोक, क्रोध इन सब में इसका प्रादुर्भाव होता है। स्वेद के बिहारी-सतसई में अच्छे उदाहरण मिलते हैं। देखिये,

रहो गुही बेनी लख्यो, गुहिबे को त्यों नार।
लागे तीर चुचान ये, नीठि सुखाये बार॥
हित कर तुम पठ्यो लगे, वा बिजना की बाय।
टरी तपन तन की तऊ, चली पसीने न्हाय॥

[३] रोमाञ्च

इसका देवजी ने इस प्रकार लक्षण दिया है:—

आलिङ्गन अरु हर्ष भय, भीत कोप ते जान।
अङ्ग उठत रोमाञ्च जे, सो रोमाञ्च बखान॥

रोमाञ्च प्रायः भय में होता है, लेकिन हर्ष और कोप में भी होता है। रोमाञ्च अधिकतर जानवरों में देखा गया है। बिल्ली को हर्ष और भय में तुरन्त रोमाञ्च हो आता है और उसके बाल स्पष्ट रूप से खड़े हुए दिखाई देते हैं। डारविन साहब (Mr. Darvin) ने लिखा है कि पागलों में रोमाञ्च बहुत जोर से होता है और जैसे जैसे रोमाञ्च कमता जाता है वैसे वैसे पागल के अच्छे होने की आशा होती है। रोमाञ्च केवल कवियों की कल्पना नहीं वरन् वास्तविक घटना होती है। यह नहीं कहा जाता कि भय में रोमाञ्च क्यों हो आता है? यद्यपि यह बात वैज्ञानिक नहीं तथापि काव्य की भाषा में यह बात कहना अनुचित न होगा कि भय की स्थिति में शरीर के रोम तक सचेत हो जाते हैं। इसमें शायद कुछ वैज्ञानिक सत्य

भी है। अस्तु, काव्य में जो रोमाञ्च के वर्णन आये हैं उनके उदाहरण दिये जाते हैं। नीचे के दोहे में स्वेद और रोमाञ्च का एक साथ उदाहरण दिया गया है।

स्वेद सलिल रोमाञ्च कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
दियो दियो संग हाथ के, हथ लेवा ही हाथ॥

बेनी-प्रवीन का उदाहरण बहुत अच्छा है। देखियेः—

आनन चंद सो मन्द हँसी दुति, दामिनि सी चहुँ ओर रहै ज्वै।
'बेनीप्रवीन' बिलोचन चञ्चल, माधुरे बैन सुधा से परै च्वै॥
कौतुक एक अनूप लख्यो सखि, आज अचानक नाहु गयो छ्वै।
श्रीफल से कुच कामिन के दोउ, फूल कदम्ब के फूल गये ह्वै।

देवजी का दिया हुआ उदाहरण देखियेः—

हरषि हरषि हिय मंद विहँसति तिय
बरषि बरषि रस राच्यो चित चोज है।
फरपि फरषि बाम बाहु फरहरि लेत
षरकि षरकि षुलै मैन सर षोज है॥
छलकि छलकि छबि छलकति पलकनि
ललकि ललकि मूँदे लोचन सरोज है।
मुलकि मुलकि स्यामा स्याम सुमरति 'देव'
पुलकि पुलकि दोउ उठत उरोज है॥

इस छंद में रोमाञ्च के अतिरिक्त और सात्विक भाव भी आ गये हैं। छबि के छलकने का भाव बहुत अच्छा है। रोमाञ्च को एक कवि ने प्रेम के अङ्कुर बतलाए हैं।। क्या ही अच्छी अनूठी उक्ति है!

पुलकित गात अन्हात यों, अरी खरी छबि देत।
उगे अंकुर प्रेम के, मनहु हेम के खेत॥

मतिराम जी ने प्रणय-मानवती से क्या ही अच्छा कहलाया है:—

मेरे तन के रोम यह, मेरे नहीं निदान।
उठि आदर आगम करैं, करौं कौन विधि मान॥

रोमाञ्च की यह अत्युत्तम व्याख्या है। शरीर के रोम नायक के आदर के निमित्त खड़े हो जाते हैं। जब नायक की उपस्थिति मात्र से नायिका को सात्विक भाव हो गया तो फिर मान कहाँ रहा?

एक और उदाहरण देखिये:—

पहिले दधि लैगई गोकुल में, चख चार भये नट नागर पै।
'रसखानि' करी उन चातुरता, कहै दान दै दान खरे अरपै॥
नख ते सिख लों पट नील लपेटे, लली सब भाँति कंपै डरपै।
मनु दामिनि सावन के घन में, निकसै नहिं भीतर ही तरपै॥

[४] वेपथु (कम्प)

वेपथु का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

हिय आलिङ्गन हर्ष भय, सीत कोप ते जानु।
अङ्ग अस्फुरन बिनु भये, ऐसो वेपथु मानु॥

यह साधारणतया शीत के कारण हुआ करता है। ज्वर में ऊष्णता से भी होता है। इसके अतिरिक्त हर्ष, भय और कोप में भी कम्प होता है। भय और कोप में कम्प अधिक होता है। यद्यपि हमारे यहाँ के आचार्य्यों ने यह सब वर्णन साहित्य की दृष्टि से किये थे किन्तु इनमें उन्होंने अपनी तीव्र निरीक्षण-शक्ति का परिचय दिया है। ज़रा डार्विन महोदय ने कम्प का जो वर्णन

किया है उसे देखिये। आचार्यों के वर्णन से कितना मिलता जुलता है:—

Trembling is excited in different individuals in very different degrees by the most diversified causes—by cold to the surface, before fever-fits, although the temperature of the body is then above normal standard; in blood poisoning delirium trimens, and other diseases; by general failure of power in old age by expanstion after excessive fatigue; locally from severe injuries, such as burns; and in an espicral manner, by the passage of a Catheter of all emotions, fear notoriously is the most apt to induce trembling; but so do occasionally great anger and joy.

अर्थात् कम्प, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न दर्जों में एक दूसरे से भिन्न कारणों द्वारा उत्पन्न होता है। जूड़ी आने से पूर्व यद्यपि शरीर का ताप साधारण परिमाण से ऊँचा होता है; रुधिर के विशाक्त हो जाने से, सन्निपात आदि अन्य रोगों में वृद्धावस्था के कारण शक्ति के ह्रास से, थकावट से, दाह आदि अन्य आघातों से एवं मुख्यतया शलाकादि डालने से। सब मनोविकारों में भय कम्प के उत्पादन में बहुत बदनाम है, किन्तु कभी अधिक क्रोध और हर्ष भी कम्प उत्पन्न कर देते हैं।" डार्विन साहब एक लड़के का उदाहरण देते हैं कि जब उसने पहली बार बन्दूक चलाई और एक चिड़िया के पर पर गोली लग गई, उसे

हर्ष के मारे ऐसा कम्प हुआ कि वह दुबारा बन्दूक को न भर सका। बड़े आदमियों के सामने, बड़ी सभाओं में, विवाह इत्यादि में प्रायः लोगों को कम्प उत्पन्न हो जाता है।

कम्प के उदाहरण:—

'देव' दुहून के देखत ही, उपजै उर में अनुराग अनूपो।
डोलत है अभिलाष भरे, सुलग्यो बिरहातुर अंग अझूनो॥
तौ लौं अचानक ह्वै गई भेट, इतै उत ठौर निहारत सूनो।
प्रीति भरे अनुराग भरे बन कुञ्ज में दंपत कम्पत दूनो॥

श्रीमद्भगवत् गीता में अर्जुन ने अपनी रण प्रारम्भ होने की पूर्व-दशा का इस प्रकार वर्णन किया है। इसमें रोमाञ्च एवं वेवथु सब आ जाते हैं।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे में रोमहर्षश्च जायते॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्ता त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्योम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

अर्थात् मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है; मेरे शरीर में कम्प हो रहा है तथा रोमाञ्च भी। गाण्डीव मेरे हाथ से फिसला जा रहा है और त्वचा जल रही है।

वारं वारं तिरयति दृशावुद्गतो वाष्पपूर—
स्तत्संकल्पोपहितजड़िम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्यः स्विद्यन्नमयविरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीकः
पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्तते किं करोमि॥

इसका भूपजी ने इस प्रकार पद्यानुवाद किया है:—

सुधि करत रूप अनूप वह दोउ नैन भरि भरि जात हैं।
मन गढ़त मूरति मोहनी सोइ होत जड़ सब गात हैं॥

कँपि जात उठत पसीज अँगुरी हिलत कर ठहरै नहीं ।
मैं करौं कौन उपाय एकहु रेख सूधि परै नहीं ।।

सत्यनारायण जी का भी पद्यानुवाद देखियेः—

उमड़ि उमड़ि अँसुआन सों, भरि भरि आवत नैन ।
या सों भली प्रकार ये, समुहीं देख सकै न ।।
तासु कल्पना की रुचिर, आवत ही जिय बात ।
बाँधि दियो सो होत यह, जड़ सबरो ही गात ।।
हाथ पसीजत लिखत में, अँगुरिअन ठिव ठहराय ।
लगातार पुनि कर कँपत, का बिधि करूँ उपाय ।।

सौतिया डाह और तज्जनित क्रोध का उदाहरण देखिये—

थरथरात उर कर कम्पत, फरकत अधर सुरंग ।
परखि पीव पलकन प्रकट, पीक लीक को ढंग ।।

"मैं खड़ा होने को समर्थ नहीं । मेरा मन चक्कर खा रहा है ।" बन्धु बान्धवों के भावी मरण और कुलक्षय के भय से अर्जुन की यह दशा हो गई थी । मानसिक आवेगवश शरीर की अवस्था का बहुत ही उत्तम वर्णन है । जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है । कम्प, भय और शृंगार दोनों में होता है । इस बात का फायदा उठाकर एक नायिका अपने रति-जन्य कम्प के भय से उत्पन्न लज्जा बता कर अपनी लज्जा को छिपाती है । देखिये—

कारे बरन डरावनो, कत आवत इहि गेह ।
कै वा लख्यो सखी लखे, लगै थरथरी देह ।।

वास्तव में नायिका को कम्प तो रतिजन्य हुआ था किन्तु वह उसको छिपाना चाहती थी और इसलिये उस कम्प को भय का कम्प बतला दिया । वियोग शृंगार में भी कम्प देखा जाता

है। माधव अपनी प्रियतमा का चित्र लिखने बैठा। आँसुओं की झड़ी ने नेत्रों पर आवरण सा डाल दिया। शरीर में उसके विचार से जड़ता आ गई और उसी के कारण अवयवों में स्तम्भ हो गया। चित्र लिखने से हाथ स्वेद से भींग जाता है और उँगलियाँ काप उठती हैं; ऐसी अवस्था में वह कहता है—"मैं क्या करूँ? चित्र कैसे लिखूँ?" यह भाव यहाँ दिया गया है। इसमें पाँच सात्विक भाव आ जाते हैं।

[५] स्वरभङ्ग।

इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

जो रस भय उन्माद भय, निकसत गद्-गद् बैन।
ताही सों सुर भङ्ग ही, बरनत कवि कुल ऐन॥

देवजी ने इसका उदाहरण इस प्रकार से दिया है:—

परदेस ते पीतम आये री माय के, आइकै आली सुनाई जही।
कवि 'देव' अचानक चौंकि परी, सुनि कै बतिया छतिया उमही॥
तब लो पिय आँगन आइ गये, धन धाप हिये लपटाय रही।
असुआं ठहरात गरो घहरात, मरू करि आधिक बात कही॥

सुरति न ताल रु तान की, उठै न सुर ठहरात।
एरी राग विगार यो, बैरी बोल सुनाय॥

[६] विवरण

विवरण का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

भय विमोह अरु कोप तै, लाज शीत अरु घाम।
मुख दुति औरे देखि कै, सो विवरनता नाम॥

विवरण कहते हैं रंग के बदल जाने को। भय, विस्मय, कोप, लज्जा, शीत तथा घाम से मुख की द्युति और की और हो जाती है। इसी को विवरण कहते हैं।

इसके उदाहरण इस प्रकार से हैं।

"सरद ससी के सम वदन बिसाल बाल, जरद भई है जैसे हरद की पूतरी" देवजी ने उतरे हुए मुख-कमल को प्रातः काल के-से प्रभा-हीन चन्द्रमा की उपमा दी है। यह शरद-चंद्र की उपमा से श्रेष्ठतर है। देखिये,

"अलिन के मुख देखत ही मुख भामिनि को भोर चँद सो"

और देखियेः—

कहि न सकत कछु लाजतें, अकथ आपनी बात।
ज्यों ज्यों निसि नियरात है, त्यों त्यों तिय पियरात॥
बाल रही इक टक निरखि, लाल बदन अरविन्द।
सियराई नैनन परी, पियराई मुख चन्द॥

[७] अश्रु

अश्रु का लक्षण इस प्रकार दिया गया हैः—

विकल विलोकत धूम भय, हर्ष समर्ष विषाद।
नैनन नीर न्हाइये, अश्रु कहै निर्वाद॥

साहित्य में भी अश्रु के अच्छे अच्छे उदाहरण आये हैं। प्रेम के आँसू गरम कहे जाते हैं। अश्रु के सम्बन्ध में एक उक्ति बड़ी उत्तम है। विरहिणी ब्रजाङ्गनाओं के अश्रु-जल से समुद्र, भगवान कृष्ण से इस प्रकार प्रार्थना करता हैः—

हौं तो बड़वानल बसायो हरिही को मेरी,
बिनती सुनायो द्वारिका के दरबार में।
ब्रज की अहीरीन की अँसुआ-बलित आय,
यमुना सतावै मोहि महानन्त क्षार में॥

भगवान कृष्ण के लिये यह प्रार्थना कितनी मधुर, कितनी

गौरव-कारिणी और उसी के साथ उद्वेगजनक होगी। मतिराम जी ने नेत्रों में से सदा वर्षा होते रहने का बहुत ही प्रतिभा पूर्ण वर्णन बताया है। देखिये:—

जिन में निस दिन बसतु है, तुम घन सुन्दर नाह।
क्यों न चलैं तिय दृग तितैं, बहुत बार परवाह॥

मतिराम—

देवजी का उदाहरण:—

सखी के सकोच गुरु-सोच मृग लोचनि,
रिसानी पिय सों जु उन नेकु हँसी छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठ गये यहि,
सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानेरी वीर, बिनु बिरही विरह-बिथा?
हाय-हाय करि पछिताय, न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओसे सो बिलानो जात॥

संताप और अश्रु को मिलाकर सूरदास जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के चले जाने पर ब्रज में पावस और ग्रीष्म ऋतु सदा ही बनी रहती हैं। गोपियों की विरहाग्नि ग्रीष्म तथा अश्रु-स्राव पावस की आभा देता रहता है।

ब्रज ते द्वै ऋतु पै न गई।
ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि, तुम बिनु अधिक भई॥
उरध उसाँस समीर नैन घन, सब जल योग जुरे।
बरषि प्रकट कीन्हे दुख दादुर, हुते जु दूरि दुरे॥
तुम्हारो कठिन वियोग विषम दिनकर सम डरो करै।
हरि पद विमुख भए सुनु सूरज, को इहि ताप हरै॥

मतिराम जी एक ही दोहे में दोनों प्रकार के अश्रुओं का वर्णन कर देते हैं—

बिन देखे दुख वे चले, देखे सुख के जाय।
कहो लाल इन दृगन के, अँसुवा क्यों ठहराय॥

रहिमन जी अपनी एक सकारण उक्ति में आँसुओं को हृदय का भेद प्रकट करनेवाला बतलाते हैं। ठीक ही है, देखिये—

रहिमन अँसुआ नैन ढरि, जिय दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कह देइ॥

उपाध्याय जी की आँसुओं के सम्बन्ध में अनूठी उक्तियाँ देखिये—

आँख का आँसू ढलकता देखकर,
जी तड़प कर के हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर!
या हुआ पैदा रतन कोई नया॥
ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ीं,
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ।
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खञ्जनों की लड़कियाँ॥
या जिगर पर जो फफोला था पड़ा,
फूट करके वह अचानक बह गया।
हाय! था आराम न जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूँद बन कर रह गया॥
पूँछते हो तो कहो मैं क्या कहूँ,
यों किसीका है निरालापन गया।

दर्द से मेरे कलेजे का लहू,
देखती हूँ आज पानी बन गया ॥
ठीक करलो जाँच लो धोखा न हो,
वह समझते हैं मकर करना इसे ।
आँख के आँसू निकल कर के कहो,
चाहते हो प्यार जतलाना किसे ॥
आँख के आँसू समझ लो बात यह,
आन पर अपनी रहो तुम मत अड़े ।
क्यों कोई देगा तुम्हें दिल में जगह,
जब कि दिल में से निकल तुम यों पड़े ॥

अश्रु केवल मानसिक भावों का वाह्य व्यञ्जक नहीं है वरन् शोभा का एक अंग है । शोक का भाव मनुष्य को कोमल बना देता है, और सौंदर्य्य में जिस समय शोक की आभा झलकने लगती है, उस समय सौंदर्य्य उपासनायोग्य हो जाता है । इसीलिये वियोग-शृंगार की संयोग से अधिक मात्रा मानी गई है । कोमलता, भीरुता, असह्यता प्रेम का गौरव यह सब सौंदर्य्य के अंग माने गये हैं । सब भाव अश्रु में व्यञ्जित होने के कारण सौंदर्य्य की माधुर्य-मयी प्रभा को पूर्णतया दीप्त कर देते हैं । Campbell ने कहा है "Beauty's tears are lovelier than her smiles रोती हुई स्त्री अबला से सबला हो जाती है । कहा भी है—"बालानां रोदनम् बलम्" ।

अश्रुधारा से मण्डित मालती की मुख-शोभा का वर्णन माधव के शब्दों में यहाँ पर दिया जाता है । क्या ही चमत्कारिणी उक्ति है ! देखिये—

भिजत आँसु धारा चलत, परत चन्द की जोति।
मृगलोचनि के गाल की, कछु औरे छबि होति॥
रूप सुधा प्यासो मनहु, ससि यह अवसर पाइ।
दूरहि सों सुरकन चहत, किरननि नली बनाइ॥

अश्रु के सम्बन्ध में पंतजी की उक्ति देखिये—

कल्पना में हैं कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है॥
वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥
हाय! किसके उर में,
उतारूँ अपने उर का भार!
किसे अब दूँ उपहार,
गूँथ यह अश्रु-कणों का हार!!
मेरा पावस–ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन।
गहरे, धुँधले, धुले साँवले,
मेघों से मेरे भरे नयन॥

[८] प्रलय

प्रलय का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

प्रिय दर्शन सम्भ्रम श्रवण, होत अचल गति गात।
सकल सिद्धि जहँ रुकि रहैं, प्रलय कहत कवि तात॥

प्रलय का भाव हर्ष, दुःख और भय में होता है। इस अवस्था में इच्छा का विरोध हो जाता है। न तन की सुधि रहती है न मन की। जीवन में मरण की-सी अवस्था हो जाती है; इससे इसका नाम प्रलय पड़ा है। इसका उदाहरण मतिरामजी से दिया जाता है—

जा दिन तें छबि सों मुसक्यान कहूँ निरखे नँदलाल विलासी।
ता दिन तैं मन-ही-मन में 'मतिराम' पियैं मुसक्यान सुधा-सी॥
नैकु निमेष न लागत नैन चकी चितवै तिय देव-तिया-सी।
चँद्र-मुखी न हलै न चलै निरबात निवास में दीप-सिखा-सी॥

प्रलय का एक और उदाहरण देवजी के भावविलास से दिया जाता है—

गोरी गुमानभरी गज-गामिनी कालि धौं को वह कामिनी तेरे।
आइ जु ती सुचि तें मुसक्याइ के मोहि लई मन मोहन मेरे॥
हाथ न पाँयहि तें न चलें अंग नीरज नैन फिरैं नहिं फेरे।
'देव' सों ठौरही ठाढ़ी चितौत लिखो मनों चित्र विचित्र चितेरे॥

बेनीप्रवीनजी ने जीवन में मरण का अच्छा चित्र खींचा है। देखिये—

गइ कूल कलिन्दि वरिन्दी विलोचन, बैठि बिथोरि बड़ी अलकैं।
कहूँ सामुहे आइ सुनाइ सुबोलनि, कान्ह दिखाइ गयो झलकैं॥
तब ते वह 'बेनीप्रवीन' कहै नहिं, बोलत बोल किती कलकैं।
न हँसै न ससै न त्रसै न लड़ाय, चलै न जगै न लगै पलकैं॥

× × × ×

प्रलय का एक और उदाहरण साहित्यदर्पण से दिया जाता है—

तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त नयने,
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जड़तमङ्गमखिलम् ।
कपोलौ घर्मार्द्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं,
मनः सान्द्रानन्दम् स्पृशति झटति ब्रम्हपरमम् ॥

इस सुन्दरी के शरीर को स्पर्श करते ही इसके नेत्र-कमल कुछ खुलने लगे हैं अर्थात् आनन्दसूचक हो रहे हैं। इसका सारा रोमाञ्च से युक्त शरीर जड़-पदार्थवत् हो गया है तथा कपोलों पर स्वेद-कण झलक रहे हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि अन्य सभी विषयों से विमुख होकर इसका मन ब्रह्मानन्द के समान किसी सान्द्र-सुख में विलीन हो रहा है।

और भी देखिये—

ठाड़ी तू जकीसी थकीसी मुख मोसी मन्द,
खासी त्यों अनन्द की-सी बैकल-सी दीसी है।
पीसी है मनोज की-सी घुटिगै छतीसी छटी,
सुरति उड़ी-सो भरी भाग की न दीसी है ॥
घाउ की लगोसी बिसे बीसी त्यों घसीटी प्रीति,
त्यागे कुलकानिहीसी औचक उचीसी है।
'रघुराज' नेह नीति रुचिर रचीसी पचीतची,
विरहानल सों ऊधम मचीसी है ॥

× × × ×

एरी आली तोहिं कैसो भयो नहिं पूछेहूपै कछु उत्तर देती।
आनद भीजी सनेह में सीझी चितै कछु पाछे उसासन लेती ॥
'श्रीरघुराज' कहैं कहँ रीझी भई तन लीझी भजौं दशा एती।
काह लखी अरु काह चखी सखि बेगि बताउ दुराउ न हेती ॥

[६] जृम्भा

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

> जृम्भा को कवि कहत हैं, नव्यो सात्विक भाय।
> उपजै आलस आदि ते, बरनत सब कविराय॥

देवजी के निम्नोलिखित छंद में प्रायः सभी सात्विक भावों का वर्णन आ जाता है—

> खेलिबो को छलु कै छलि छोहरी राधे को लै गई बाग तमासे।
> 'देव' कहा कहिये उत ते यकबार भुलाई है बुद्धि बिनासे॥
> भीजीसी नीर पटीर पसीजीसी मंजरी छीजी छमा से।
> अंग खरे खरकैं फरकैं ढरकैं असुवाँ सरकै मुख सासे॥

वाटिका में श्रीरामचंद्रजी के प्रथम दर्शन के पश्चात् जो सीताजी की दशा हो गई थी उसके वर्णन में बहुत से सात्विक भाव आ जाते हैं। देखिये—

> देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
> थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकन्हिहू परिहरी निमेषी॥
> अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
> लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

यह सञ्चारी और सात्विक भाव प्रायः सभी रसों में न्यूनाधिक्य के साथ रहते हैं। इस लिये इनका एक साथ वर्णन कर दिया गया। विभावों का विशेष वर्णन इसलिये यहाँ पर नहीं दिया गया कि प्रायः प्रत्येक इसके विभाव पृथक् ही पृथक् होते हैं। साहित्य में शृङ्गार के विभावों का विशेष महत्व है। ग्रन्थ के ग्रन्थ शृङ्गार के विभावों के ऊपर लिखे जा चुके हैं। इस ग्रन्थ में भी शृङ्गार का वर्णन करते हुए शृङ्गार के अवलम्बन (नायक-नायिका)

और उद्दीपन (सखी-सखा-षट्‌ऋतु आदि) का वर्णन किया जायगा। अनुभावों में केवल सात्विक भावों का, (जिनको कि किन्हीं आचार्यों ने शरीर सञ्चारी कहा है) वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त अनुभाव बहुत से हैं और प्रत्येक रस के अलग अलग होते हैं। उनका वर्णन यहाँ पर नहीं किया जाता है। हाव भी एक प्रकार के अनुभाव हैं; उनका शृङ्गार के सम्बन्ध में वर्णन किया जायगा। और जो अनुभाव साधारण रूप से साहित्य में आते हैं उनके अतिरिक्त वैष्णव साहित्य में नृत्य, विलुंठित (लोटना) गीत, हुङ्कार, लोकापेक्षा, परित्याग, अट्टहास, हिक्का (हिचकी) आदि भक्ति सम्बन्धी अनुभाव और माने गये हैं। रस सामग्री का वर्णन कर अब रसों का विशेष रूप से वर्णन किया जायगा।

सात्विक भावों का वैज्ञानिक विवरण

सात्विक भावों का साहित्यिक विवरण हो चुका; अब वैज्ञानिक विवरण देना शेष है। यद्यपि साहित्यिक विवरण भी बहुत अंशों में वैज्ञानिक है, क्योंकि इस सम्बन्ध में आचार्यों का निरीक्षण बहुत सूक्ष्म एवं व्यापक है तथापि हमको यह जानने की आवश्यकता रह जाती है कि हमारे मानसिक भाव किस प्रकार शारीरिक परिवर्तनों के उत्पादक होते हैं। (इन शारीरिक परिवर्तनों द्वारा हमारे मानसिक भाव प्रकट हो जाते हैं और उन्हींके अनुकूल समाज हमसे व्यवहार करने लगता है।) यह बात जानने के लिये हमको मनोविज्ञान तथा शरीरविज्ञान में प्रवेश करना पड़ेगा। हमारे विचार, भाव और समस्त सांकल्पिक और असांकल्पिक क्रियाएँ हमारे स्नायु-संस्थान से सम्बन्ध रखती

हैं। यद्यपि स्नायुओं का तारतम्य सारे शरीर में फैला हुआ है तथापि मस्तिष्क और कशेरूनालस्त मज्जादण्ड * (Brain and the spinal cord) उसके केन्द्र माने गए हैं। स्नायुएँ दो प्रकार की मानी गई हैं। एक अन्तर्मुखी (Afferent) और दूसरी बहिर्मुखी (Efferent)। इनको ज्ञापक (Sensory) और सञ्चालक (Motor) भी कहते हैं। बाह्य घटनाओं का अन्तर्मुखी स्नायुओं द्वारा ज्ञान होता है और हमारी पिंडिका वा पेशियों (Muscles) और ग्रन्थियों (Glands) को क्रिया में लाने के हेतु जो उत्तेजना जिन स्नायुओं द्वारा आती है वह संचालक स्नायु कहलाती है।

यदि कोई सुस्वादु खाद्य-पदार्थ हमारे सन्मुख आता है तो उसकी स्थिति का ज्ञान हमारी ज्ञापक इन्द्रियों द्वारा होता है और उसके देखने पर जो मुँह में पानी आ जाता है (असांकल्पिक कार्य) और उसको उठाने के लिये जो हाथ की पेशियाँ काम

---

* इसे कोई-कोई मज्जादण्ड भी कहते हैं। Spinal Column और Spinal cord में भेद है। Spinal Column रीढ की हड्डियों के उस नाल को कहते हैं जो कि करोटी अर्थात् खोपड़ी से लगाकर बस्तिगह्वर (Pelvis) अर्थात् उस भाग तक जहाँ से मल-मूत्र त्याग का सम्बन्ध है, रहता है। यह कशेरुनाल Spinal column एक हड्डी नहीं है वरन् कई छोटी-छोटी हड्डियों का समूह है। इनमें से चौबीस पृथक् पृथक् रहती हैं और नीचे की नौ देखने में अलग परन्तु वास्तव में जुड़ी रहती हैं। इन चौबीस में सात ग्रीवा सम्बन्धी हैं, बारह पृष्ठ-देशीय हैं और पाँच कटिस्थ हैं। यह कशेरुनाल पीला होता है। इसके भीतर एक मज्जादण्ड जो स्नायु-तन्तुओं से बना होता है, लटका रहता है। इसीको कशेरुनालस्त मज्जादण्ड (Spinal cord) कहते हैं।

करती हैं वह संचालक स्नायुयों का कार्य है। ज्ञापक स्नायुओं द्वारा प्राप्त उत्तेजना संचालक स्नायुओं तक पहुँचाने के हेतु बहुत स्नायु सम्बन्धी घटक (cells) और माध्यमिक स्नायुएँ हैं। हमारा मस्तिष्क अखरोट की मिग्गी के अर्द्ध की भाँति दो भागों में विभक्त होता है। ये दोनों मस्तिष्क के गोलकार्ध (Cerebral Hemespheres) कहलाते हैं। इसके ऊपर का भाग जो विशेष कर ज्ञान से सम्बन्ध रखता है (Cerebrum) अथवा मस्तिष्क कहलाता है। इसके नीचे एक छोटा मस्तिष्क होता है जो कि (Cerebellum) कहलाता है। मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलानेवाला हिस्सा (Ponsverolii) अर्थात् मस्तिष्कार्ध-संयोजक कहलाता है। मस्तिष्क और कशेरुनालस्त मज्जादण्ड (Spinal cord) को जोड़नेवाला भाग (Medulla Oblongata) अर्थात् आयतमज्जा (इसको किसी किसी ने वृहत् अंश भी कहा है) कहलाता है। वास्तव में यह (Spinal cord) कशेरुनालस्त मज्जादण्ड का हो ऊपरी भाग है। मस्तिष्क का ऊपरी भाग भूरे पदार्थ का होता है। इसी भूरे पदार्थ में सब विचार के केन्द्र रहते हैं। बाकी भीतरी हिस्सा सफेद होता है। मज्जादण्ड में से कुछ स्नायु-तन्तु अग्रभाग में निकलते हैं और कुछ पृष्ठ भाग में। अग्रभाग के संचालक तन्तु होते हैं और पृष्ठ भाग के ज्ञापक होते हैं। जो स्नायुजाल मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है; केन्द्रस्थ (central) कहलाता है और जो शरीर में फैला हुआ होता है वह पारिधिक (Perepheral)।

रज्जू मज्जादण्ड में यह बात उलटी होती है। उसमें भूरा

पदार्थ भीतर रहता है एवं श्वेत पदार्थ ऊपर रहता है। अन्तर्मुखी स्नायुएँ (Spinal cord) केशरुनालस्त मज्जादण्ड में होकर मस्तिष्क तक जाती हैं और वहाँ पर विचार को उत्तेजित कर उसके पश्चात् संचालक स्नायुओं को उत्तेजित कर सांकल्पिक क्रियाओं की उत्पादक होती हैं। नेत्रादि * से सम्बन्ध रखनेवाली स्नायुएँ सीधी मस्तिष्क से उन इंद्रियों तक जाती हैं। इनमें कुछ ऐसी होती हैं जो रज्जू में ही संचालक स्नायुयों को उत्तेजित कर असांकल्पिक क्रियाओं की उत्पादक होती हैं। हमारे मानसिक उद्वेगों से सम्बन्ध रखनेवाली स्नायुएँ प्रायः ऐसी होती हैं जो स्वाभाविक रीति से शारीरिक क्रियाओं को संचालित कर देती हैं। उन पर हमारे संकल्प और विचारों का वश नहीं रहता। हम संकल्प से पसीना आने को नहीं रोक सकते। हमारे रोकने पर भी कम्प एवं अश्रु नहीं रुकते। इस तारतम्य को स्वयं संचालित तारतम्य (Automatic System) का संस्थान कहते हैं। भाव तथा आवेशवश जो शारीरिक परिश्रम होते हैं वह प्रायः इसी स्वयं संचालित स्थान की उत्तेजना के फल होते हैं। इसका मनोगत आवेगों और क्षोभों का मस्तिष्क के उस भाग से सम्बन्ध रहता है जिसको अंग्रेजी में (Optic Thalmus) कहते हैं। हम मस्तिष्क तथा स्नायु-संस्थान के अन्य विभागों पर ध्यान न देकर केवल स्वयं संचालित स्थान पर ही विवेचना करेंगे।

इस संस्थान से सम्बन्ध रखनेवाले स्नायु-तन्तु चार स्थान से निकलते हैं; पहिले जो कि मस्तिष्क के मध्यम भाग से निकलते

* ऐसी १२ स्नायुएँ मानी गई हैं।

हैं; दूसरे जो कि आयतमज्जा (Medulla Oblongata) से निकलते हैं, तीसरे जो कि (Spinal Cord) केशरुनालस्त मज्जादण्ड के बीच से निकलते हैं; चौथे जो कि (Spinal Cord) के नीचे के भाग से निकलते हैं। पहिले दो का अश्रु-ग्रन्थी, आँख की पुतली, मुख में जाल पहुँचानेवाली ग्रन्थियों से, स्वेद-ग्रन्थियों से, हृत्, पिण्ड, उदर, बाल, एवं अँतड़ियों से सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सीधा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ऊपर के सब अंगों से है, किन्तु सीधा नहीं। यह स्नायु के गुच्छों (Ganglion) द्वारा है। अर्थात् यह उन अंगों से सम्बन्ध रखनेवाले गुच्छों तक जाते हैं; और उसके पश्चात् उन गुच्छों से नये तन्तु आरम्भ होते हैं। इस तीसरे विभाग का सीधा सम्बन्ध (Adrinal glands) एड्रीनल ग्लैन्डस से है जिससे कि (Adrinin) एड्रीनन नामक एक पदार्थ निकलता है। इसका सीधा सम्बन्ध स्वेद-ग्रन्थी और बालों से भी है। चौथा विभाग (अर्थात् (Spinal Cord) केशरुनालस्त मज्जादण्ड के नीचे का विभाग) मल-मूत्र के त्याग की इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है। इन इन्द्रियों का (Spinal Cord) केशरुनालस्त मज्जादण्ड के नीचे के विभाग से भी स्नायु-तन्तुओं द्वारा अव्यवहित (Direct) सम्बन्ध है।

संक्षेप में यह तीन विभाग हैं। (१) शिर से सम्बन्ध रखनेवाला जिसको कि अंग्रेजी में (Cranial) करोटी सम्बन्धी कहते हैं। (२) धड़ से सम्बन्ध रखनेवाला जो कि Spinal Cord के नीचे से उदय होता है और तीसरा त्यागेन्द्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला। बीच के विभाग को सहानुभौतिक विभाग

अर्थात् (Sympathetical Division) कहते हैं। इसको किसी ने स्नैहिक विभाग भी कहा है इसका जन्म दोनों विभागों से व्यवहित (Indirect) सम्बन्ध रहता है। सहानुभौतिक विभाग और अन्य विभागों में इतना अन्तर है कि सहानुभौतिक विभाग की स्नायुओं के उत्तेजित होने से उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अंगों का कार्य बढ़ जाता है अर्थात् उससे उत्तेजित होने से हृदय-गति बढ़ जाती है; और रुधिर की नाड़ियाँ चौड़ी हो जाती हैं। इसके विपरीत अन्य दो विभागों से सम्बन्ध रखनेवाले स्नायुओं की उत्तेजना से तत्सम्बन्धी अङ्गों की क्रिया में शैथिल्य आ जाता है। इनके उत्तेजित होने से हृदय की गति मन्द हो जाती है एवं रुधिर की नाड़ियाँ सिकुड़ जाती हैं। सहानुभौतिक संस्थान की स्नायुओं का प्रस्तार सारे शरीर में है। इनका हमारे पेट की पाचन-क्रिया से भी सम्बन्ध है।

इस भूमिका के पश्चात् हमको सात्विक भावों की वैज्ञानिक व्याख्या समझने में सुलभता होगी। इसके साथ ही हम शारीरिक व्यञ्जना के कुछ और मूल सिद्धान्त बता देना आवश्यक समझते हैं।

डारविन साहब (Darvin) ने मनोगत भावों के शारीरिक व्यञ्जनों से सम्बन्ध रखनेवाले तीन मुख्य सिद्धान्त माने हैं। पहला सिद्धान्त यह कि हमारे विकास तथा शरीर-रक्षा में कुछ क्रियाएँ विशेष सहायता करती रही हैं। यद्यपि अब पूर्व की-सी स्थितियाँ नहीं उपस्थित होती हैं तथापि अभ्यास और सम्बन्ध (Association) के नियमानुकूल वह क्रियाएँ हमारे रक्षार्थ पूर्व के सदृश स्थितियों में उत्तेजित हो जाती हैं,

अर्थात् हमारे शारीरिक अवयवों को, जो हमारे विकास के काल में, रक्षार्थ अभ्यास पड़ गया है, वह अभ्यास पूर्व की-सी भयानक स्थिति उपस्थित होने पर भी बना रहता है और ज़रा-सी उत्तेजना पर वह अवयव अभ्यासानुकूल कार्य करने लगते हैं।

दूसरा सिद्धान्त विरोध का है। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी विशेष मानसिक स्थिति में हम उनके प्रतिकूल क्रियाएँ करने लगते हैं; जैसे प्रेम में क्रोध की तथा क्रोध में प्रेम की।

तीसरा सिद्धान्त उन स्वाभाविक क्रियाओं का है जो कि हमारे स्नायु-संस्थान द्वारा हमारे संकल्प से स्वतन्त्र होती रहती हैं। ऊपर जिस स्वयं-संचालित-संस्थान का वर्णन किया गया है वह इसी तीसरे सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है। हमारी व्याख्या में पहले और तीसरे सिद्धान्त से विशेष रूप से काम किया जायगा। अब प्रत्येक सात्विक भाव का विचार किया जाता है।

[१] स्तम्भ—

हम ऊपर बतला चुके हैं कि जब हमारे मानसिक संस्थान पर एक साथ बहुत बड़ा तक़ाज़ा हो जाता है तो हमारी सारी शक्ति एक ओर केन्द्रस्थ हो जाती है। शक्ति के केन्द्रस्थ हो जाने का यह अभिप्राय नहीं है कि हम कुछ कार्य्य ही करने लगें। घोर विचार भी एक प्रकार का कार्य है। आश्चर्य, भय आदि में जो स्तम्भ हो जाता है वह इसी शक्ति के केन्द्रस्थ होने का फल है। हमारी स्नायुएँ हमारी पेशियों को शक्ति पहुँचाती हैं। स्नायुओं की उत्तेजना से पेशियाँ संकुचित हो जाती हैं और वे

इन्द्रियों को संचालित कर देती हैं। स्नायु–शक्ति अपरिमित नहीं हैं। जिस प्रकार एक ही स्रोत से आनेवाले जल को यदि हम एक ओर से अधिक ले लेवें तो दूसरी ओर उसका प्रवाह मन्द हो जाता है, उसी प्रकार स्नायु-शक्ति का भी हाल है। विद्युत्-प्रवाह में यदि एक ही चक्कर में बड़ी शक्ति का लैम्प लगा दिया जाय तो अन्य बत्तियाँ मंद पड़ जाती हैं। उसी प्रकार जब स्नायु-शक्ति एक ओर केन्द्रस्थ होकर जाने लगती है तब वह दूसरी ओर मन्द पड़ जाती है तथा फलतः इन्द्रियों की क्रियाएँ भी मन्द पड़ जाती हैं, यही स्तम्भ है।

[२] स्वेद

मनुष्य शरीर में स्वेद प्रायः हर समय निकलता रहता है और चौबीस घंटे में प्रायः एक सेर स्वेद निकल जाता है। इसमें कुछ उड़ जाने के कारण दिखाई नहीं पड़ता है; किन्तु जब यह अधिक होता है तब दिखाई पड़ने लगता है। कुछ मनोगत आवेगों में स्वेद की मात्रा कुछ अधिक हो जाती है। साधारणतया स्वेद का निकलना स्वेद-ग्रन्थियों के आयत हो जाने से अर्थात् फैल जाने से होता है। इनका फैलना प्रायः Vaso-Motor प्रायः रक्त-कोष-सम्बन्धिनी संचालक स्नायुओं से है। इन स्नायुओं के द्वारा जिन अंगों में और जिस समय अधिक रुधिर की आवश्यकता होती है, उन अंगों से सम्बन्ध रखनेवाले रुधिर कोषों में पहुँच जाता है। रुधिर के पहुँचने से उन अंगों की क्रिया उत्तेजित हो जाती है। इन रक्त-सम्बन्धिनी संचालक स्नायुओं की उत्तेजना से स्वेद-ग्रंथियाँ भी उत्तेजित हो स्वेद-स्राव करने

लगती हैं। हमारे स्नायु-संस्थान में स्वेद-कोषों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाली भी स्नायुएँ हैं। उनकी उत्तेजना से भी स्वेद का स्राव होने लगता है। यह स्नायुएँ विशेष-विशेष अवसरों पर क्यों उत्तेजित हो जाती हैं इसके बतलाने के लिये हमको डारविन साहब के उपर्युक्त सिद्धान्त की शरण लेनी पड़ेगी। जब हमारी शरीर-रक्षा के लिये अंगों को विशेष उत्तेजना की आवश्यकता होती है तब रक्त-सम्बन्धिनी संचालक स्नायुएँ उन अंगों को रुधिर पहुँचाने के लिये उत्तेजित हो जाती हैं। भय तथा क्रोध में ऐसी ही स्थिति उपस्थित हो जाती है जब कि अंगों को रुधिर की अधिक आवश्यकता हो जाती है। यद्यपि हमको भागने की वास्तविक आवश्यकता न भी हो तथापि डारविन साहब के प्रथम सिद्धान्त के अनुकूल संस्कारवश भागने से सम्बन्ध रखनेवाले आन्तरिक अवयव कार्य करने लग जाते हैं और फलतः स्वेद आदि अनुभावों का प्रादुर्भाव हो जाता है। स्वेद से शरीर की गर्मी भी नहीं बढ़ने पाती है। स्वेद, क्रोध और भय के अतिरिक्त संयोग-शृंगार में भी होता है और वहाँ भी इसी प्रकार की व्याख्या की जा सकती है।

[३] रोमाञ्च

हमारे शरीर के रोमों की जड़ें हमारी खाल के नीचे की तह तक रहती हैं। जड़ों के निकट रुधिर के कोष रहते हैं। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं कि भय आदि के आवेग में रुधिर-सम्बन्धिनी संचालक स्नायुएँ उत्तेजित हो जाती हैं। इनके उत्तेजित होने से शरीर में रुधिर का अधिक सञ्चार होने लगता है।

बालों की जड़ों के पास के रुधिर-कोष, रुधिर से पूरित हो जड़ों पर दबाव डालने लगते हैं और उस दबाव के कारण, बाल खड़े हो जाते हैं। यही रोमाञ्च का कारण है।

[४] वेपथु

स्तम्भ में शरीर की क्रिया एक साथ कुछ काल के लिये बिलकुल रुक जाती है, कम्प में स्नायु-शक्ति का लगातार सञ्चार बन्द हो जाता है और रुक-रुक कर शरीर के अवयवों में पहुँचती है। डारविन साहब कम्प का इस प्रकार कारण बतलाते हैं।

"As trembling is sometimes caused by rage, long before exhaustion can have set in, and as it sometimes accompanies great joy, it would appear that any strong excitement of the nervous system interrupts the steady flow of nerve-force to the muscles"

[५] स्वरभंग

शब्द, वायु-नाल में होकर निकली हुई हवा द्वारा स्वर-तन्तुओं (Vocal Cord) के स्पन्दन से उत्पन्न होता है। यह स्वर-तन्तु (vocal Cord) वायु-नाल के ऊपर मज्जा-निर्मित स्वर-यन्त्र (Larynx) में रहते हैं। मनोवेगों में मनुष्य के स्वाभाविक श्वासोच्छ्वास में अन्तर पड़ जाता है। यह अन्तर प्रायः रुधिर-सम्बंधिनी आवश्यकताओं पर निर्भर रहता है। स्वरभंग कुछ श्वास के घटाव-बढ़ाव, कुछ स्वर-तन्तुओं के खिंचाव तथा ढीला-पन एवं कुछ मस्तिष्क-सम्बंधिनी उत्तेजना से भी होता है।

[६] वैवर्ण्य

हम ऊपर बतला चुके हैं कि सहानुभौतिक स्नायु-मण्डल की उत्तेजना से रुधिर-कोष आदि फैलते हैं और शेष दो भागों से सम्बन्ध रखनेवाली स्नायुओं की उत्तेजना से अधिक कोष तथा रुधिर-वाहिनी नाड़ियाँ सिकुड़ती हैं। जिस प्रकार मनुष्य शरीर की रक्षा के निमित्त अधिक रुधिर-वाहिना नाड़ियों का फैलना आवश्यक है उसी प्रकार उनका सिकुड़ना भी प्राकृतिक-प्रबन्ध में आवश्यक है। नाड़ियों के फैल जाने से रुधिर का अधिक बहाव होने लगता है और हृदय की पेशियों को अधिक काम करना पड़ता है। उनको आराम देने के हेतु रुधिर का बहाव कम हो जाना आवश्यक हो जाता है। जिन मनोवेगों में अधिक कार्य्य करने की आवश्यकता पड़ती है उनमें रुधिर की अधिक आवश्यकता रहती है और शरीर का प्राकृतिक-प्रबन्ध इस माँग की पूर्ति में यथेष्ट सहायता देता है; किन्तु कुछ मनोवेग ऐसे होते हैं जिनमें मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है तथा ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसको करने के लिये कुछ शक्ति नहीं है। घोर विषाद में विवर्णता आती है। विषाद के आगम में मनुष्य एक साथ हताश हो जाता है एवं वह समझता है कि वह कुछ कर नहीं सकता। ऐसी गिरी हुई अवस्था में विस्तार से सम्बन्ध रखनेवाली स्नायुएँ कार्य नहीं करतीं। जहाँ पर थोड़ी आशा का लेश रहता है, क्रोध और वीरता के लिये गुंजाइश रहती है, वहाँ पर मुख पर रक्त आ जाता है। नैराश्य में प्रायः वही स्नायुएँ उत्तेजित होती हैं जो संकुचन से सम्बन्ध रखती हैं। कभी-कभी भय आदि की अधिक उत्तेजना-पूर्ण स्थिति की प्रतिक्रिया में भी

रुधिर-वाहिनी नाड़ियों का स्वाभाविक संकुचन हो जाता है और वैवर्ण्य उसका फल होता है।

[७] अश्रु

अश्रु शोक और हर्ष दोनों ही में आते हैं। इसके अतिरिक्त धूम और तीव्र आलोक, आँखों में किरकिरी आदि कई वाह्य कारण से भी आते हैं। वाह्य कारणों से अश्रु का आ जाना विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं रखता। आँखों में जब किसी प्रकार का आघात पहुँचता है या कोई बाह्य पदार्थ रहता है तो आघात से बचने के लिये आँखें स्वभावतः बंद हो जाती हैं और बंद होने से अश्रु-कोष Lacrynial glands दबकर अश्रु-स्राव कर देते हैं। अब प्रश्न यह है कि मानसिक उद्वेग से इन अश्रु-कोषों का क्या सम्बन्ध है और हमारा मानसिक उद्वेग किस प्रकार अश्रु-स्राव का कारण होता है ?

बच्चों को जब क्षुधा लगती है तो कुछ तो अपनी माताओं को सूचना देने के निमित्त (यह कहावत ठीक है कि बिन रोए माता दूध नहीं पिलाती) और कुछ रोने के परिश्रम से भूख की वेदना कम करने के अर्थ स्वभाव से ही चिल्ला उठते हैं। इस चिल्लाने में श्वास की तीव्रता के कारण रुधिर का अधिक सञ्चार होने से नेत्रों के रुधिर-कोषों में अधिक रुधिर आ जाता है। स्वभाव से जैसा कि किसी बाहरी वस्तु के पड़ने से नेत्रों की रक्षा के लिये पास की पेशियाँ सिकुड़ कर आँखों को बंद कर देती हैं उसी प्रकार खून के भरने से इन पेशियों का संकुचन होता है और संकुचन के साथ अश्रु-कोषों में प्रभाव पड़ता है

और अश्रु-स्राव हो जाता है। वास्तव में छोटे बच्चों के अश्रु नहीं निकलते। जब बहुत ही कष्ट होता है तब आँसू के कण झलक आते हैं और माताएँ कहने लगती हैं कि आज बच्चे को बहुत कष्ट हुआ। बालक के चिल्लाने से वह स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिस स्थिति में—बड़े होने पर आँसू टपकने लगते हैं, किन्तु बालकों के अश्रु-कोष इतने परिपक्क नहीं होते जो उस समय अश्रु-स्राव कर सकें। उनके चिल्लाने के अभ्यास से उनके मानसिक कष्ट और नेत्रों के पास की पेशियों को स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और फिर वैसी मानसिक स्थिति के उपस्थित होने पर बिना चिल्लाए ही (Association) विचारों के सम्बन्ध के नियम से, आँखों की पेशियाँ सिकुड़ कर अश्रु-कोषों को उत्तेजित कर देती हैं और अश्रु-स्राव होने लगता है। चिल्लाने के साथ अश्रुओं का निकलना स्वाभाविक-सा ही है। क्योंकि रोने-चिल्लाने में उन पेशियों का सिकुड़ना सहज ही है। अधिक हँसी में, छींक में और खाँसी में अश्रु उन्हीं पेशियों के संकुचन के कारण निकल जाते हैं। हम अपनी प्रारम्भिक व्याख्या में बतला चुके हैं कि भावों के शारीरिक व्यञ्जकों में विचारों के सम्बन्ध और अभ्यास के सिद्धान्त के अतिरिक्त स्नायुओं की अव्यवहित (Direct) उत्तेजना भी काम करती है। अश्रु-कोषों का सिकुड़ना उनसे सम्बन्ध रखनेवाली स्नायु से भी होता है। जीवन की सभी क्रियाएँ उपयोगी होती हैं। रोने और चिल्लाने में शोक का वेग निकल जाता है और मन हलका हो जाता है। नहीं तो शोक शरीर के भीतर दबी हुई बारूद का काम करता है। आज़कल के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि किसी मानसिक

आवेग को रोकने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कतिपय मूर्छा-सम्बन्धी रोग मानसिक आवेग ही के रोकने से होते हैं; और आजकल मनोविज्ञान-सम्बन्धी चिकित्सा में इन कारणों का पूर्णतया अनुसंधान कर रुके हुए आवेग को निकाल देने की चेष्टा की जाती है। इसी सिद्धान्त को प्रकाशित करते हुए महाकवि भवभूति ने लिखा है।

"पूरोत्पीड़े तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥"

[८] प्रलय

इस अवस्था के जैसे वर्णन आते हैं उनसे प्रतीत होता है कि यह अवस्था कुछ मानसिक है और कुछ शारीरिक। इसमें मस्तिष्क की क्रिया अधिक उत्तेजना के कारण अपनी स्पष्टता खो बैठती है और मनुष्य को शून्य-सा दिखाई पड़ने लगता है। उसको यह मालूम नहीं पड़ता है कि वह सुख में है या दुःख में। आचार्य ने कहा भी है कि "प्रलयः सुखदुःखाभ्याम् चेष्टा ज्ञाननिराकृतिः"। इसमें जिस प्रकार स्तम्भ में शारीरिक क्रियाएँ स्तब्ध हो जाती हैं उसी प्रकार प्रलय में मानसिक क्रियाएँ।

[९] जृम्भा

जृम्भा निश्वास का एक प्रकार है। वैवर्ण्य के सम्बन्ध में हम बतला चुके हैं कि जब मनुष्य घोर विशाद में रहता है तब उसकी रुधिरवाहिनी नाड़ियाँ संकुचित हो जाती हैं और थोड़ी देर के लिये निश्वास भी कम हो जाता है। उस कमी से शारीरिक

प्रबन्ध में यह हानि पड़ती है कि रुधिर को पवित्र करने के लिये जितनी (Oxygen) औक्सिजन की मात्रा आवश्यक है उतनी नहीं पहुँचती। उस कमी की पूर्ति के निमित्त मनुष्य गहरी साँस लेने लगता है। गहरी साँस से रुधिर की सफाई के लिये अधिक औक्सिजन पहुँच जाती है और वह कमी पूरी हो जाती है। जृम्भा एक प्रकार की गहरी निश्वास है तथा रुधिर की सफाई के लिये अधिक औक्सिजन पहुँचाने में एक प्राकृतिक सहायक है।

इसी प्रकार प्राय: सभी अनुभावों की शरीर-विज्ञान-सम्बन्धिनी व्याख्या हो सकती है। यह शारीरिक व्यञ्जक, न केवल स्वास्थ्य के ही लिये आवश्यक हैं वरन् सामाजिक व्यवहार में बहुत सहायक होते हैं। जब हम जान लेते हैं कि मनुष्य के नेत्र एवं मुख लाल हैं और दाँत बाहर निकले हुए हैं तो हम समझ लेते हैं कि वह क्रोध के आवेग में है और हम उसको अधिक उत्तेजित नहीं करते। जब हम मनुष्य के चेहरे पर स्वाभाविक मुस्कुराहट देखते हैं तब हम उससे निर्भय होकर वार्तालाप कर सकते हैं। कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो अपने अनुभावों और सात्विक भावों को छिपा सकते हैं अथवा कृत्रिम रूप से उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु साधारण मनुष्यों में वह उसके मनोगत भावों के द्योतक होते हैं। मनुष्य के जैसे भाव हमको वाह्य-व्यञ्जनों द्वारा प्रकट होते हैं उन्हीं के अनुकूल हम उससे व्यवहार करते हैं और यदि वह धोखेबाज़ नहीं है तो हम अपने व्यवहार में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। कुछ लोगों में अनुभाव और सात्विक भाव उग्र-रूप से प्रकट हो जाते हैं और कुछ में सूक्ष्म रूप से। जो लोग चतुर

होते हैं वह सूक्ष्म से सूक्ष्म विकारों को वायुमापन-यन्त्र के परिवर्तनों की भाँति स्पष्ट रूप से देख लेते हैं। मूर्ख लोग प्रायः धोखा खा जाते हैं। सामाजिक व्यवहार में सफलता प्राप्त करने के लिए अनुभावों का ज्ञान और उनके पहचानने का अभ्यास परम आवश्यक है।

तीसरा अध्याय

शृङ्गार रस

भावों को मनोविकार कहा है। विकार कहते हैं परिवर्तन को। परिवर्तन ध्यान के लिये अत्यावश्यक है। जिस समय भाव का उदय होता है उस समय चित्त की वृत्ति एकाकार हो जाती है। भाव के विषय से ध्यान नहीं हटता। ध्यान की स्थिरता का कारण परिवर्तन है। ध्यान तो थोड़ी ही देर तक लगा रह सकता है। वह नारद मुनि की भाँति एक ही स्थान पर अधिक विलम्ब करके नहीं ठहरता। जब तक ध्यान के लिये नया नया मसाला न मिले तब तक वह एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता। ध्यान को एक ओर से दूसरी ओर आकर्षित या नियुक्त करने के लिये बड़े भारी परिवर्तन की आवश्यकता होती है। पुनः ध्यान को स्थिर रखने के लिये भी थोड़े बहुत परिवर्तन की जरूरत रहती है। शृंगार में ध्यान को दृढ़ रखने के लिये जिन परिवर्तनों की दरकार होती है, वे सब एक ही विषय में होते रहते हैं। एक ही वस्तु नयी नयी छटाएँ दिखाती रहती है। उसकी नयी नीकी छटाओं में मन फँसा रहता है। एकसी वस्तु से सचमुच जी ऊबने लगता है। उपन्यासों में समय-समय पर नवीनता आती रहती है। इसीसे उपन्यासों में मन लगता है और उनको पढ़ने की चाट लगी रहती है। अँग्रेजी में Novel शब्द का अर्थ ही है—"नवीन"। यदि किसी नाटक में दृश्यों का क्रमशः परिवर्तन

न हुआ करे तो वह नाटक अरुचिकर हो जायगा। उसकी रस-दीप्ति दोपहर के दीपक की भाँति फीकी पड़ जायगी।

जिस समय हममें किसी भाव की उत्पत्ति होती है, उस समय हमको यह अवश्य अनुमान कर लेना चाहिये कि उसी क्षण हममें और वाह्य संसार में किसी न किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ होगा। सब परिवर्तन एकसे नहीं होते। वह परिवर्तन ही क्या, जो एकसा हो। कोई परिवर्तन धीरे धीरे होता है और कोई बड़ी शीघ्रता से। कोई परिवर्तन पहिले के परिवर्तन के अनुकूल और कोई प्रतिकूल होता है। जैसा परिवर्तन, वैसा ही मनोविकार होता है। विकार का कारण भी विकार ही होता है। विकार शब्द से यह न समझ लिया जावे कि हम इस परिवर्तन को बुरा कहते हैं। भाव एक प्रकार से मन की स्थिति में परिवर्तन है। वाह्य स्थिति में परिवर्तन भावों के कारण होते हैं। मानसिक स्थिति में परिवर्तन भावों के कार्य्य हैं। कारण और कार्य्य एक ही से होते हैं। भाव विकार हैं तो भावों का जीवन भी परिवर्तन ही में है। भावों और रसों तथा उनके कारण और कार्य्यों की परिभाषा भी परिवर्तन के शब्दों में की जायगी। परिवर्तन के भेद और उसकी संज्ञा पर ही रसों की संज्ञा और श्रेणी बाँधी जायगी।

शृंगार (आदि रस)

"है विभाव अनुभावहि, सात्विक संचारीजु।
सो सिंगार सुर-तरु जुमे, प्रेमांकुर रति-बीजु॥
निर्मल शुद्ध सिंगार रस, देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, विवश न पावत अन्त॥"

नव रस सब संसार में, नवरस में संसार।
नव रस सार सिंगार रस, युगल सार सिंगार॥

रस अनेक हैं किन्तु नव रस माने गये हैं। मुख्य रस वे ही माने जायँगे जो एक दूसरों के अन्तर्गत न हों और जिनका प्रभाव या प्रचार केवल मानव-समाज में ही नहीं वरन् किसी रूप से पशु समाज में भी हो। पशुओं में मनुष्यों के भाव और रसास्वादन तो नहीं होते किन्तु उनमें वह स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं जिनका विकाश मनुष्य-श्रेणी में भावरूप हो गया है। पशुओं में हास्य की प्रवृत्ति कम ज्ञात होती है। शृंगार, वात्सल्य, दास्य, भय और क्रोध भावों की प्रवृत्ति विशेष है। शृंगार को, रसों की गणना में, सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। नित-नित नूतन होने वाले सौन्दर्य्य के सुखद एवं मन्द-मन्द परिवर्त्तनों में चित्त को लगाये रखना, वियोग में उनकी स्मृति एवं तज्जन्य शोक के नये-नये रूपों में मन को लीन रखना, चित्त में प्रिय वस्तु-सम्मिलन से उसकी प्राप्ति का सुख धीरे-धीरे आस्वादन करना, वियोग में प्रिय वस्तु की गुणावली के स्मरण द्वारा शोक करते हुए भी प्रिय वस्तु की प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा के सहारे भावी आनन्द का रसास्वादन करना ही शृङ्गार रस है। इसमें परिवर्तन होते हैं, किन्तु वे इतने धीरे-धीरे होते हैं कि चित्त को तो लगाये रखते ही हैं और उसके साथ चित्त में एक अपूर्व प्रसन्नता को भी उत्पन्न करते हैं। शृङ्गार रस को सभी रसों से ऊँचा स्थान दिया गया है। इसे 'रसराज' भी कहा है। यह समस्त सुखों का मूल, रसों का राजा, प्रेम-प्रमोद का अधिष्ठाता और प्रीति का प्राण है। इस रस की तीव्रता, विस्तार-शक्ति और प्रभावशालिता

अन्यान्य सभी रसों से बहुत बढ़ी-चढ़ी है। ऐसे तो विरले ही हैं जो इस रस की सत्ता की महत्ता न मानें। वाताम्बुपर्णाहारी, निर्जन विपिन-विहारी, मिताचारी मुनि-महर्षियों को भी इस रस के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा है। फिर चक्रवर्ती नरेशों की क्या कथा ? इसमें आनन्द लौकिक सीमा को उल्लंघन कर अलौकिता को प्राप्त हो जाता है। "दो का एक", भेद में अभेद का यह एक अच्छा उदाहरण है। इसकी स्थूल, सूक्ष्म करके कई श्रेणियाँ हैं। प्रीति के जितने रूप हो सकते हैं उतने ही शृंगार के हैं*। इसीलिये बहुत से लोगों ने वात्सल्य रस को भी शृंगार के अन्तर्गत माना है। प्रीतिबाहुल्य के कारण इसको ईश्वर-भक्ति का स्वरूप मानते हैं। मनुष्य के सम्बन्धों में सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध दाम्पत्य-प्रेम का है। ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध इससे भी ऊँचा और बढ़ाचढ़ा होना चाहिये। यही शृंगारी उपासकों की उपासना का मूल आधार है। जो सम्बन्ध हमारे ज्ञान में सबसे उत्तम हो, ईश्वर का सम्बन्ध उससे भी अधिक उत्तम होना चाहिये। यूरोप में भी ईसाई-सम्प्रदाय को मसीह की स्त्री माना है और दाम्पत्य-प्रेम को प्रेम का आदर्श कहा

---

* देवजी ने अपनी प्रेम-चंद्रिका में पाँच प्रकार का प्रेम माना है। देखिए—

सानुराग सौहार्द, अरु, भक्ति और वात्सल्य।
प्रेम पाँच विधि कहत हैं अरु कार्पण्य वैकल्य॥

शृंगार सम्बन्धी प्रेम को सानुराग कहते हैं, स्वजन और परजन पर जो प्रीति होती है उसे सौहार्द कहते हैं, सौहार्द मित्रता को कहते हैं। छोटों का जो बड़ों में प्रेम होता है उसे भक्ति कहते हैं। बड़े का जो छोटों में प्रेम होता है उसे वात्सल्य कहते हैं। जो दुःख से आर्त हो प्रेम किया जाता है उसे कार्पण्य प्रेम कहते हैं।

है। सुलेमान (Solomon) का गीत, जिसको श्रेष्ठ गीत कहा है, शृङ्गार की भाषा से परिपूर्ण है।

ईसाई-धर्म में वात्सल्य-रस प्रेम का आदर्श माना गया है। इसीलिये रोमन कैथोलिक लोग मरियम और बाल-ईसा की पूजा करते हैं।

एक वर्तमान लेखक ए० क्लूटन ब्रोक (A. Clutton Brock) ने आध्यात्मिक अनुभव के विषय में लिखते हुए कहा है कि इस अनुभव में निश्चय का भाव आवश्यक है। निश्चय के उदाहरण में विलियम मोरिस (William Morris) की एक कविता का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ इस प्रकार से है—

"तुम नहीं जानते कि मेरी प्रियतमा रात होने पर मेरे निकट आ जाती है। आपस में मधुर सम्भाषण और क्षमा-प्रदान होता है। आधीरात के अन्धकार में उसके चुम्बन मेरे शरीर में स्फूर्त्ति उत्पन्न कर देते हैं।" इसके सम्बन्ध में ब्रुक साहब कहते हैं।

The language of Morris is different; but the images of sex which he uses are an under-rather than an over-statement of the warmth, closeness and certainty of a passion, which for him, as for all the religions, is mutual.

अर्थात् मोरिस की भाषा, और प्रकार की है, किन्तु उसने जो स्त्रीपुरुष-सम्बन्धी मानसिक चित्रों का व्यवहार किया है उसमें उस भाव की, जो कि उसके तथा अन्य धार्मिक लोगों के लिये एक-सा है, तीव्रता, घनिष्ठता और निश्चय को कम करके ही बताया है, बढ़कर नहीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है

कि आध्यात्मिक अनुभव की तीव्रता और निश्चयता, स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी प्रेम से अधिक ही होती हैं, कम नहीं । हमारे अनुभवों में दाम्पत्य-प्रेम ही, आध्यात्मिक अनुभवों के कुछ-कुछ निकट पहुँचता है। हम अपने अनुभव से बाहर नहीं जा सकते। हमारी भाषा, हमारे अनुभव से ही बनी है। इसीलिये हमको आध्यात्मिक भावों के प्रकट करने में, शृङ्गार की भाषा का व्यवहार करना पड़ता है। बहुत से आध्यात्मिक भावों का शृङ्गार की भाषा में निरूपण किया गया है। ऐसा वर्णन न केवल प्राचीन कवियों ने ही किया है, वरन् आधुनिक कवियों ने भी किया है। डा० रवीन्द्रनाथ की कविता में भी आध्यात्मिक भाव शृङ्गार की भाषा में वर्णित है। उदाहरण लीजिये—

तोमर काछे राखि निआर साजरे अहंकार।
अलङ्कार ने माझे पड़े मिलने ते आ डालकर,
तोमार कथा ठाके जे तार मुखर झङ्कार।

अर्थ—"मुझे वस्त्रालङ्कार का अहङ्कार नहीं है। आभूषण हमारा संयोग नहीं होने देते। वह तेरे और मेरे बीच में आ जाते हैं। उनकी झङ्कार से तेरी धीमी आवाज दब जाती है।" इस भाव को हिन्दी भाषा के एक कवि ने भी बतलाया है।

"उर से उर लागे नहीं, हार बीच में आय।"
'तब हार पहार से लागत है, अब आनके बीच पहार परे॥'

लेकिन यह केवल शृङ्गार है, इस तरह की भाषा और भावों की कमी नहीं। हर देश और हर काल के कवियों ने शृङ्गार की भाषा का व्यवहार किया है। हिन्दी भाषा के निर्गुणवादी कवि कबीर ने भी शृंगार की भाषा का अधिकतया प्रयोग किया है।

देखिये—

कैसे दिन कटि हैं, जतन बताये जइयो ।
एहि पार गंगा वोहि पार यमुना, बिचवा मड़इया हमको छवाये जइयो ॥
अँचरा फारि के कागद बनाइन, अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, बहियाँ पकरि के रहिया बताये जइयो ॥

देखिये, कबीरजी, मृत्यु को प्रियतम से मिलने का साधन मान उसको गौना बतलाते हैं और उसका वर्णन शृंगारिक भाषा में करते हैं ।

आई गवनवाँ की सारी, उमिरि अबहीं मोरी बारी ।
साज समाज पिया लै आये, और कहरिया चारी ॥
बम्हना बेदरदी अचरा पकरि कै, जोरत गँठिया हमारी ।
सखी सब गावत गारी ॥
गवन कराय पिया लै चाले, इत उत बाट निहारी ॥
छूटत गाँव नगर से नाता, छूटै महल अटारी ।
करम गति टरै न टारी ॥

जब शृङ्गार की भाषा हमारे गहरे अनुभवों को व्यञ्जन कर सकती है तो उसका व्यवहार में लाना मनुष्य जाति के लिये स्वाभाविक है । इस रस के प्रधान होने का कारण यह भी है कि इसके विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव, और रसों की अपेक्षा अधिक हैं । इसमें और सब रसों का अच्छी तरह समावेश हो जाता है । देवजी ने कहा है—

"नवरसनि मुख्य सिंगार, जहँ उपजत बिनसत सकल रस ।
ज्यों सूक्ष्म स्थूल कारन प्रगट, होत महा कारन बिवस ॥"
समै समै सृंगार में, सुभाव सभीत ।
नौ हू रसन विचित्र ज्यों, चित्रित भीत ॥

प्रकृति पुरुष श्रृंगार में, नौ रस को सञ्चार।
जैसे मीठे प्रकास में, घटत अकास प्रकास॥

देवजी ने श्रृंगार को सब रसों का मुकुट-मणि और सब रसों को उसका सहायक माना है। उसीमें-से सब रसों का उदय होता है और उसीमें सब रसों का लय हो जाता है। देवजी ने कहा है कि नौ रस हैं, नौ में भी तीन रस मुख्य हैं। एक-एक रस दो-दो रसों को अपने भीतर ले लेते हैं और उन तीन रसों में भी श्रृंगार मुख्य है। जिस प्रकार यह मुख्य रस दो-दो रसों को ले लेते हैं उसी प्रकार मुख्यतम श्रृंगार रस शेष मुख्य दो रसों को अपने अन्तर्गत कर लेता है। देखिये—

तीन मुख्य नौ हू रसनि, द्वै-द्वै प्रथमनि लीन।
प्रथम मुख्य तिन तिहूँ मैं, दोऊ तिहि आधीन॥
हास्य रु भय सिंगार सँग, रुद्र करुन सँग वीर।
अद्भुत अरु बीभत्स सँग, बरनत सांत सुधीर॥
ते दोऊ तिन दुहुन जुत, वीर सांत में आय।
संग होत सिंगार के, ता ते सो रस राय॥

देवजी ने इस युक्ति में 'हैगल' की पद्धति से काम लिया है। 'हैगल' का कथन है कि एक व्यापक भाव दो प्रतिकूल भावों को अपने में सम्मिलित कर लेता है, जैसे धर्म तथा विज्ञान का विरोध माना है। धर्म विश्वासमूलक है। विज्ञान विश्वास का विरोधी है। दर्शन (Philosophy) में धर्म एवं विज्ञान दोनों का समावेश हो जाता है। यही पद्धति देवजी की है। देवजी के वर्णन में थोड़ा भेद अन्तर करके रसों का विवरण 'हैगल' की पद्धति के अनुकूल बनाया जाता है। देवजी ने हास्य तथा भया-

नक को शृंगार के अन्तर्गत बताया है। इसके स्थान में यदि शृंगार में हास्य और करुण का संयोग किया जाता तो अच्छा होता। हास्य और करुण का विरोध है, किन्तु शृंगार में दोनों का संयोग वियोग रूप से समावेश हो जाता है। वीर के साथ रौद्र और करुण का योग किया गया है। इसके स्थान में यदि रौद्र और भयानक वीर के अन्तर्गत किये जाते तो अच्छा होता। वीर में जो काम होता है वह प्रायः कोप-प्रेरित होता है और उसका वाह्य आकार भयोत्पादक होता है। बीभत्स और अद्भुत का शांत के साथ योग ठीक ही है। बीभत्स वैराग्य उत्पन्न करता है और अद्भुत विश्व-वैचित्र्य और चित्त आकर्षित कर ईश्वर की ओर ले जाता है। वीर एवं शान्त का विरोध है। वीर में क्रिया तथा उत्साह है, और शान्त में निष्क्रियता तथा वैराग्य है। शृंगार में वीर का उत्साह भी रहता है और शान्त का-सा अन्य सब वस्तुओं का विराग और आनन्द रहता है। देवजी की सूक्ति अत्यन्त सराहनीय है। यद्यपि उपर्युक्त छन्द में जो क्रम दिया है सो विचारणीय है तथापि उसका भाव बहुत ही उत्तम है। जो पद्धति हैगल की मौलिक समझी जाती है उस पद्धति का स्वतन्त्र रूप से उन्होंने प्रयोग किया है। जो क्रम लेखक ने बतलाया है वह रसों के प्रचलित गणना-क्रम के अनुकूल है। दोहा भी इस प्रकार बदला जा सकता है—

"हास्य करुन सिंगार सँग, रुद्र भयानक वीर।"

शेष भाग में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं।

देवजी का कथन एक अंश में माहात्म्य-वर्णन-सा अवश्य प्रतीत होता है परन्तु इसमें बहुत कुछ तथ्यांश भी है। जो

अवस्था शृंगार की होती है उसमें मनुष्य की और सब क्रियाओं तथा शक्तियों का विकास होता है। वह सब थोड़े बहुत अंशों में प्रभावित होते हैं। यदि शृंगार मनुष्य-जीवन की एकमात्र संचालन-शक्ति नहीं है तो मुख्य शक्तियों में अवश्य है। आजकल मनोविश्लेषणशास्त्रियों (Psycho-analysists) ने लैङ्गिक उत्तेजन (Sex-urge) को बड़ी प्रधानता दी है और यह लोग वैज्ञानिक होते हुए भी किसी अंश में अत्युक्ति की ओर चले गए हैं। अस्तु, जो कुछ भी हो, शृंगार भाव ने बहुत कुछ काम किया है। देश-भक्ति एवं आत्म-रक्षा को छोड़कर बहुत से युद्ध शृङ्गार-भाव से ही प्रेरित हुए हैं। उसके कारण रोना, हँसना, भय, क्रोध, घृणा एवं आश्चर्यादि सब भावों की उत्पत्ति होती है। यह बात हम भी मानते हैं, किन्तु हमारा कथन यह है कि शृंगार ही एक ऐसा भाव नहीं है, जिसमें मनुष्य-जीवन की इति-श्री हो जाती है। धार्मिक भाव भी बहुत प्रबल हैं, किन्तु वह भी शृंगार के विस्तृत अर्थ में आ जाते हैं। उदरपूर्ति, आत्म-रक्षा एवं ज्ञानपिपासा के भावों का भी बहुत प्रसार है। शृंगार में इतना अवश्य है कि उसका हमारे व्यक्तित्व से विशेष सम्बन्ध है। यदि मनुष्य का पूर्ण व्यक्तित्व कभी प्रगट होता है तो या तो रोटी के प्रश्न में या प्रेम में। रोटी के प्रश्न में भी दूसरों के लिये गुंजाइश रहती है। शृंगार में सब जग साधन-मात्र हो जाता है। इस कारण इसकी प्रबलता अवश्य है। देवजी ने जो बात कही उसको उन्होंने अपने ग्रन्थों में सिद्ध कर दिया है। सब रसों का वर्णन शृंगार के अन्तर्गत दिखलाया है। इसमें शृंगार की महत्ता अवश्य है किन्तु और विषयों का संकोच भी है। इसके साथ यह भी

मानना पड़ेगा कि जितना और सब रसों का मेल शृंगार के साथ हो जाता है वैसा और किसी रस के साथ नहीं। शृंगार के पश्चात् करुण को स्थान मिलता है। शृंगार के संयोग और वियोग-रूप दो विभाग होने के कारण कुछ रसों का साम्य संयोग में होता है और कुछ का वियोग में। देखिये इस सम्बन्ध में देवजी क्या कहते हैं—

सो संयोग वियोग भेद शृंगार द्विविध कहु।
हास्य वीर अद्भुत संयोग के संग अंग लहु॥
और रुद्र करुना भयान, तीनों वियोग अंग।
रस वीभत्स रु सांत होत दोऊ दुहुन संग॥

अर्थात्, हास्य, वीर और अद्भुत का संयोग के साथ योग होता है और रौद्र, करुणा और भयानक वियोग के साथ जाते हैं। बीभत्स और शान्त दोनों ही दोनों प्रकार के शृंगार में आते हैं। मेरी अल्प बुद्धि में अद्भुत का योग वियोग में भी हो सकता है।

बीभत्स का योग यदि वियोग शृंगार से न बताया जावे तो शृङ्गार की जो बीभत्स से शत्रुता मानी गई है उसका कोई अर्थ नहीं होता। रति और घृणा वास्तविक विरोध है। वैसे तो खींचतान कर सभी रसों का सभी रसों के साथ योग हो सकता है। अस्तु, जो कुछ भी हो, शृंगार का मनुष्य-जीवन में विस्तार बहुत है। यद्यपि हमारे कवियों ने इस रस के वर्णन में और रसों की उपेक्षा-सी की है, तथापि हमको भी यह उचित नहीं कि इस रस की उपेक्षा कर बदला चुकावें। जो कुछ पूर्वजों ने किया उसके लिये उनका परिश्रम सराहनीय है। जो कमी रह गई उसका पूरा करना हमारा धर्म है।

इस रस की प्रधानता के कारण ही इसके देवता विष्णु माने गए हैं। इसका वर्ण भी श्याम है, अतः भगवान विष्णु का अधिष्ठाता होना युक्तियुक्त है। इस रस का स्थायी भाव रति है। प्रायः जितने संचारी भाव गिनाये गये हैं वे सब इसी के हैं। रति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :—

नेक जु प्रिय जन देखि सुनि, आन भाव चित होय।
अति कोविद पति कबिन के, सुमति कहति रति सोय॥

साहित्य-दर्पण में शृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए उसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है—

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते॥

मन्मथ अर्थात् कामदेव के उद्भेद अंकुरित होने को शृङ्ग कहते हैं। उसके आगमन का हेतुरूप रस शृङ्गार कहलाता है। यह अधिकांश रूप में उत्तम प्रकृति से युक्त रहता है। इसके दो भेद हैं—संयोग और विप्रलम्भ (वियोग)। दर्शनस्पर्श-संलापादि-जनित परमानन्द को संयोग कहते हैं और पारस्परिक संयोग से प्रगाढ़ प्रमोद प्राप्त करनेवाली वाह्य इन्द्रियों के सम्बन्धाभाव को वियोग कहते हैं। इन दोनों के उदाहरण देखिये :—

(संयोग-शृंगार)

सावनी तीज सुहावनी को सजि, 'सूहैं दुकूल सबै सुख साधा।
त्यों 'पद्माकर' देखै बनै, न बनै कहते अनुराग अगाधा॥
प्रेम के हेम हिंडोरन में, सरसै, बरसै रस रङ्ग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो, साँवरे के हिय झूलति राधा॥

कम्पत हियो न हियो, कम्पत हमारो क्यों,
हँसी तुम्हें अनोखी नेक सीत में ससन देउ ।
अम्बरहरैया हरि, अम्बर उजेरो होत,
हेरिकै हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देउ ॥
देउ दुति देखिबो कों, लोइन में, लागी रहै
लोयन में लाज लागी, लोयन लसन देउ ।
हमरे बसन देउ, देखत छबीले स्याम,
अजहू बसन देउ ब्रज में बसन देउ ॥

× × × ×

दोउ की रुचि भावै, दोऊ के हिये,
दोउ के गुन-दोष, दोऊ को सुहात हैं ।
दोउ पै दोउ जीते बिकाने रहैं,
दोउ सो मिलि, दोऊन ही मैं समात हैं ॥
"चिरजीवी" इतै दिन द्वैक ही ते,
दोऊ की छवि देखि दोऊ बलि जात हैं ।
दिन रैन दोऊ को, विलोकै दोऊ,
पय, तौ न दोउन को नैन अघात हैं ॥

× × × ×

दुहुँ मुख चंद और चितवैं चकोर दोऊ,
चितै-चितै चौगुनो चितैवो ललचात हैं ।
हाँसति हँसत, बिन हाँसी बिहँसत मिलै,
गातनि सों गात, बात बातन में बात हैं ।
प्यारे तन प्यारी पेखि पेखि, प्यारी पिय तन,
पियत न खात नेकहूँ न अनखात हैं ॥
देखि ना थकत देखि देखि ना सकत 'देव'
देखिबे की घात, देखि देखि ना अघात हैं ॥

× × × ×

दोऊ दुहू पहरावत चूनरि, दोऊ दुहू सिर बाँधत पागैं।
दोऊ दुहू के सँवारत अंग, हिये-मिलि, दोऊ दुहू अनुरागैं॥
सम्भु सनेह समुए रहै रस, ख्यालन में सिगरी निस जागैं।
दोऊ दुहून सों मान करें पुनि, दोऊ दुहून मनावन लागैं॥

× × × ×

स्याम सरूप घटा ज्यों अनूपम, नील छटा तन राधे के झूमै।
राधे के अंग के रंग रम्यो पट, बीजुरी ज्यों घन से तन झूमै॥
हैं रति मूरति दोउ दुहून की, विधे द्युति विम्ब वही घट दूमै।
एक ही 'देव' दुदेह दुदेहरे, देव दुधा इक देह दुहू मै॥

× × × ×

आपुस में रसमैं रहसै, वहसै मिलि, राधिका कुञ्ज-बिहारी।
स्यामा सराहत स्याम की पागहि, स्याम सराहत स्यामा की सारी॥
एकहि दर्पन देखि कहै तिय, नीकै लगौ पिय, प्यौ कहै प्यारी।
'देव' सु बालम बालकौ बाद, विलोकि भई बलि हौं बलिहारी॥

× × × ×

(विप्रलम्भ शृङ्गार)

ऐ विधिना! यह कीन्हो कहा? अरे मो मन प्रेम उमंग भरी क्यों?
प्रेम उमंग भरी तो भरी, पर एतो सरूप दियो तैं हरी क्यों?
ऐतौ सरूप दियौ तौ दियौ पर, एती अदाह तैं आनि धरी क्यों?
ऐती अदाह धरी तो धरी, पर ए अँखियाँ रिझवारि करी क्यों?

× × × ×

दोऊ को जरावे चंद-चैत-चाँदनी की नीको,
दोऊ को प्रचारि पौन ही में हरफत है।
सुन्दर उसीर नीर तीर लौं दुहू को लगी,
दुहूँ के मनोज ओज गात गरफत है॥

कहै 'चिरजीवी' एक छनक बिछोहे आजु,
दोउ, दोउ ठाम परे स्वास सरकत है।
पहिली विरह बीर वेदन बतावै कौन,
काढ़ जल मीन लो दुहूँ हू तरफत है॥

× × × ×

बिन गोपाल, बैरिन भई कुञ्जैं।
जो वै लता लगत तनु शीतल, अब भइ विषम अनल की पुञ्जैं॥
वृथा बहत यमुना तट सगरो, वृथा कमल फूलनि अलि गुञ्जैं।
पावन पानि घनसार सुमन दै, दधि-सुत किरनि भानु भै भुञ्जैं॥
ए ऊधौ कहियो माधौ सों, मदन मारि कीन्हो हम लुञ्जैं।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस को, मग जोवत अखियन भइ घुञ्जैं॥

'तोषनिधि' ने संयोग और वियोग के अतिरिक्त, एक मिश्र शृंगार और माना है। उसमें दो और प्रकार माने गए हैं। (१) संयोग में वियोग और (२) वियोग में संयोग। संयोग में वियोग का उदाहरण इस प्रकार से है—

नीर भरी अँखियाँ अवलोकत, पीवति ओठ सुधारस पागे।
केलि निकेत में 'तोष' दोउ मिल, सौ गुनो हेत करै, अनुरागे॥
प्रीत भरी तिय यों कहती निसिलौं, पिय मेरे हिये रहो लागे।
ऐसे संयोग में देन वियोग क्यों, आये हैं नैहर लोग अभागे?

ऊपर के छन्द में संयोग पूर्ण मात्रा में दिखाया है। भावी वियोग के कारण, संयोग का रस और भी बढ़ जाता है और उसके कारण भावी वियोग-जन्य दुःख की आशंका और तीव्र एवं दुःखद हो जाती है। संयोग वर्तमान होने के कारण प्रधान है और वियोग भविष्य होने के कारण गौण है।

वियोग में संयोग का उदाहरण—

पीवो करै दिन रैन सुधाधर, भूख तृषा न सताय सकै जू।
अङ्ग सो अङ्ग लगाय रहैं अरु, लोग की संक न आय सकै जू॥
'तोष' कवौं तन न्यारोइ होत, नहीं ते कहूँ अब जाय सकै जू।
साँचौ संयोग वियोग ही में हमैं, ऊधो विभूति न लाय सकै जू॥

ऊपर के छंद में वियोग तो बताया नहीं है, किन्तु स्मृति और कल्पना द्वारा संयोग हो रहा है। प्रति-क्षण नायक का ही स्मरण रहता है। इस स्मरण-जन्य संयोग में जो सुविधाएँ हैं वह उसे प्रत्यक्ष संयोग से श्रेष्ठता देती हैं। इसमें गुरुजनों की लाज का भय नहीं, न वियोग को उत्साह शून्य करनेवाली शंका। इसी लिये लोग वियोग को सुखद माना करते हैं। यदि वियोग में यह सुख न होता तो दुःख सहकर भी लोग वियोग में क्यों मग्न रहते?

दोहा—बिरहा बिरहा मत कहो, बिरहा है सुल्तान।
जा घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

वियोग में रति का भाव लगा रहता है। यही वियोग-शृंगार को करुणा से भिन्न बनाता है। मिलन की आशा वियोग में संयोग का सुख-स्वप्न उत्पन्न कर देती है। जो आनन्द संयोग में प्रिय-जन के मिलन से होता है वह वियोग में प्रिय-जन के चिंतन तथा गुण-कथनादि से होता है। कविवर 'बिहारी' ने ध्यान में प्राणपति को पास बुलाकर नायिका की प्रसन्नता और प्रेम-जन्य सात्विक भावों का इस प्रकार वर्णन किया है—

ध्यान आनि ढिग प्रान पति, मुदित रहति दिन राति।
पल कंपति पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति॥

वियोग, मिलन के सुख को तीव्र बना देता है। जिस प्रकार

धूप के बाद छांह, शीतल एवं सुखद प्रतीत होती है, उसी प्रकार वियोग के पश्चात् संयोग आनन्ददायक होता है। साहित्यदर्पण में कहा भी है कि—

न विना विप्रलम्भेन, संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ, भूयान्रागो विवर्धते॥

अर्थात् बिना वियोग के संयोग पुष्टि को नहीं प्राप्त होता। वस्त्रों को पहले अनार आदि के कषाय रंग में रंग लेने से रंग और अच्छा चढ़ता है, उसी प्रकार वियोग की भित्ति पर संयोग का रंग अधिक शोभा देता है।

नायक के लिये नायिका और नायिका के लिये नायक आलम्बन विभाव हैं। चतुर सखा, सखी और चटकीली चाँदनी तथा शान्तिदायक एकान्त एवं त्रिविध समीर आदि इसके विभाव हैं। स्तम्भ[१], कम्प, स्वेद[२], रोमाञ्च, स्वरभंग[३], वैवर्ण्य[४], अश्रु, प्रलय[५] तथा हाव[६], लीला[७], विलास[८], विभ्रम[९], आदि अनुभाव हैं। इनमें आठ तो अकृत्रिम—सात्विक—हैं पर शेष सभी कृत्रिम।

---

(१) किसी कारण सम्पूर्ण अंगों की गति का अवरोध (२) पसीना।

(३) स्वाभाविक ध्वनि का विपर्यय (गले की आवाज़ फीकी पड़कर बिगड़ जाती है)।

(४) शरीर की कान्ति का विपर्यय (अंग शोभा की म्लानता)।

(५) किसी वस्तु से तन्मय होकर पूर्व-दशा की विस्मृति।

(६) संयोग-समय में स्त्रियों की चेष्टा-विशेष।

(७) प्रेम विवश हो प्रिया और प्रियतम का अन्यान्य वेष धारण करना।

(८) संयोग समय में कटाक्षादि क्रियाओं से पुरुष को मोहित करना।

(९) संयोग समय में आतुर होने से क्रिया और भूषणादि का विपर्यय।

(सञ्चारी भाव)

"संकासूयामान[1] ग्लानि धृति[2] स्मृति[3] नींद मति।
चिन्ता विस्मय व्याधि हर्ष उत्कण्ठा जड़ मति॥
भय विषाद उन्माद लाज अवहित्था[4] जानहु।
सहित चपलता ये विशेष शृंगार बखानहु॥

—काव्य रसायन।

रस सामग्री के स्थायी भाव, विभाव और अनुभाव तथा सञ्चारी भाव माने जाते हैं। प्रत्येक रस के यह, पृथक्-पृथक् रहते हैं। यहाँ पर शृंगार के सम्बन्ध में रस-सामग्री का विचार किया जाता है। शृंगार का स्थायी भाव रति है। रति की व्याख्या हो चुकी है। इस रस के विभाव में नायक नायिका आलम्बन हैं। (नायक के लिये नायिका आलम्बन है और नायिका के लिये नायक होता है)। शृंगार के उद्दीपन विभाव इस प्रकार माने गये हैं—

सखी दुतिका अरु सखा, नख सिख छबि इक अंग।
षट रितु पानी पौन हू, रहसि राग औ रंग॥
सरिता बाग तड़ाग बन, चँद चाँदनी लेय।
षट भूषन सोभा प्रभा, सुख दुख सब कहि देय॥

---

(१) दूसरे की उत्कर्षता का असहन वा उसको हानि पहुँचाने की इच्छा।

(२) विपत्ति में अविचलित बुद्धि (धैर्य)

(३) स्मृति—गत पदार्थों का पुनर्दर्शन।

(४) चतुराई से किसी बात को छिपाना—(रस कुसुमाकर)

सविता कविता सौरभहु, नृत्य वाद्य चित चाय।
एहि विधि औरहु जानिये, उद्दीपन कविराय॥

अनुभाव—शृङ्गार के स्थायी भाव को प्रकट करनेवाले अनुभाव तीन प्रकार के माने गये हैं।

(१) सात्विक, (२) कायिक, (३) मानसिक।

सात्विक भाव स्वाभाविक हैं अर्थात् इनमें इच्छा को नहीं लगना पड़ता। जब प्रेम का आवेग होता है तब मनुष्य जान बूझकर स्वरभङ्ग नहीं करता, वरन् वह सहज ही हो जाता है। कायिक अनुभाव हमारी इच्छा का फल होते हैं। हम सात्विक भावों को अपनी इच्छा से रोक नहीं सकते हैं; किन्तु कायिक अनुभावों को रोक सकते हैं। भौंहों को चलाना, मुखाकृति को बदलना—ये कायिक अनुभाव हैं। प्रमोदादि मानसिक अनुभाव माने गए हैं।

सात्विक भावों की इस प्रकार गणना की गई है।

स्तम्भ स्वेद रोमाञ्च, सुर, भंग कम्प वैवर्ण।
अश्रु प्रलाप बखानिये, आठो नाथ सुवर्ण।

हाव इस प्रकार गिनाये गये हैं—

हेला लीला ललित मद, विभ्रम विहित विलास।
कलि किंचित विक्षिप्त अरु, कहि विब्बोक प्रकास॥

सञ्चारी भाव जिनको व्यभिचारी भाव भी कहते हैं, इस इस प्रकार गिनाए गए हैं।

यह सब शृंगार में लग जाते हैं—

निर्वेद ग्लानि शंका तथा, आलस दैन्य रु मोह।
स्मृति धृति व्रीड़ा चपलता, श्रम मद चिन्ता कोह॥

गर्व हर्ष आवेग पुनि, निंदा नींद विवाद।
जड़ता उत्कण्ठा सहित, स्वप्न प्रबोध विषाद॥

अब इन सब का पृथक्-पृथक् वर्णन दिया जाता है। शृङ्गार के विभाव अनुभावादिकों का वर्णन रस-ग्रन्थों में इतने विस्तृत रूप से दिया गया है कि पूरे ग्रन्थ प्रायः इन से ही भर जाते हैं, अन्य रसों के लिये बहुत कम स्थान रह जाता है। यद्यपि हम इस बात में प्राचीनों का अनुकरण नहीं करना चाहते, तथापि यहाँ पर संक्षेप से इनका वर्णन करना आवश्यक समझा जाता है क्योंकि इन बातों के जाने बिना साहित्य का ज्ञान अधूरा रह जाता है।

आलम्बन

नायक नायिका

हिन्दी-काव्य नायिका-भेद के कारण बहुत बदनाम हुआ है, यहाँ तक कि आजकल कवियों तक ने इसकी धूल उड़ाई है। देखिये सुमित्रानन्दजी क्या कहते हैं।

"शृंगार-प्रिय कवियों के लिये शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग से लिपट गई। बाल्य-काल से वृद्धावस्था पर्यन्त,—जब तक कोई "चन्द्रवदनि मृग-लोचनी" तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कहदे, उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम-दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी-ध्रुव से उत्तरी-ध्रुव तक यात्रा कर सकी! ऐसी विश्व-व्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर-प्रतिभा! एक ही शरीर-यष्टि में समस्त ब्रम्हाण्ड देख लिया। अब इनकी अक्षय कीर्ति-काया को जरा-मरण का भय क्यों? क्या

इनकी "नायिका" जिसके वीक्षण मात्र से इनकी कल्पना तिल की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी ?"

जब कवियों का ऐसा कथन है तो अरसिकों का कहना ही क्या ? यदि हमारे साहित्य में और रसों का भी इतना विस्तृत वर्णन होता तो कदाचित् इस कथन के लिये स्थान न रहता। अस्तु, अब यह बात देखनी है कि नायिका भेद के लिये जो परिश्रम किया गया है वह हमारे लिये कुछ मूल्य रखता है या नहीं। मनुष्य जीवन में सब से प्रबल भाव कौन है यद्यपि इसका उत्तर देना कठिन है तथापि हमको यह मानना पड़ेगा कि शृंगार हमारे जीवन की क्रियाओं का प्रधान संचालक है। हमारी क्रियाओं के तीन प्रधान संचालक हैं। सब से प्रथम आत्म-रक्षा का भाव, दूसरे दर्जे पर प्रेम और तीसरे में यश और प्रभुत्व है। एक प्रकार से यह सब आत्म-रक्षा के विस्तृत रूप में आ जाते हैं, किन्तु इन सब का हमारे जीवन में अलग-अलग स्थान है। रसों के मूल कारण की—मनुष्य की—यही तीन प्रबल आवश्यकताएँ हैं। यद्यपि "सर्वे समारम्भा तण्डुला प्रस्थमूला" का नियम ठीक है, किन्तु शुद्ध उदरपूर्ति के लिये जो कार्य किये जाते हैं उनमें भाव का प्राबल्य नहीं रहता। आत्म-रक्षा में क्रिया की प्रधानता रहती है। भावों का तभी उदय होता है जब आत्म-रक्षा किसी प्रकार से संकट में पड़ती है। इस कारण आत्म-रक्षा का, भयानक, वीभत्स एवं रौद्र से विशेष सम्बन्ध है। शान्त का सम्बन्ध हमारी मरणोपरान्त आत्म-रक्षा से है। प्रेम का शृंगार से संबंध है और इसके साथ ही साथ अन्य रसों के साथ संबंध हो

जाता है। यद्यपि शृंगार में गुप्त रूप से आत्म-रक्षा का भाव लगा हुआ है, क्योंकि इसका अन्तिम फल सन्तानोत्पत्ति (जो कि हमारी भावी आत्म-रक्षा है) है, तथापि शुद्ध शृंगार में सन्तानोत्पत्ति का विचार प्रकट रूप से नहीं रहता। इसी लिये इसको एक स्वतन्त्र आवश्यकता मानी है। इसमें आत्म-रक्षा की अपेक्षा भाव का प्राबल्य रहता है। आजकल के मनोविश्लेषण-शास्त्रियों (Psycho-analysists) ने शृंगार भाव को बहुत प्रधानता दी है और उनका कथन है कि हमारी अनुद्बुद्धावस्था (Sub-concious state) में जो कामभाव रहता है उसके द्वारा हमारी सब क्रियाओं की व्याख्या हो सकती है। मनोविश्लेषण-शास्त्रियों का कहना है कि हमारे सब स्वप्न कामवासना-मूलक हैं। इसी प्रकार हमारी बहुत सी क्रियाओं का, जिनको हम आकस्मिक कहते हैं, मूल आधार काम-वासना में है। यदि कोई स्त्री स्वप्न में नया वस्त्र खरीदे तो इस स्वप्न का मूल कारण साड़ी पहिनने की इच्छा नहीं, वरन् उसको पहिन कर किसी को रिझाने की है। यद्यपि यह इच्छा उसके मन में प्रकट-रूप से नहीं वर्तमान है तथापि वह इच्छा गुप्त-रूप से करती रहती है। इसी प्रकार यदि हम भूल से किसी गली में झुक जावें तो उसका भी कारण हमारी अप्रकट काम-वासनाओं में ही है। उन लोगों के मत से हमारी रहन-सहन, चाल-ढाल, रुचि तथा घृणा का मूल आधार काम-वासना में है। यदि हमको कोई रंग पसन्द है तो इसलिये कि वह रंग हमारी किसी ज्ञात वा अज्ञात प्रेयसी के शरीर पर शोभा देता है। माता-पिता के प्रेम में भी वह काम-वासना का प्रसार मानते हैं। माता-पिता के थप-थपाने में भी

आनन्द आता है; वह काम-तृप्ति का पूर्व रूप कहा गया है। यद्यपि ये विचार, बहुत क्रान्तिकारी समझे जायँगे और यह अत्युक्ति से खाली नहीं; तथापि इनसे यह अवश्य सिद्ध होता है कि हमारे जीवन-क्षेत्र में हमारी कामवासनाएँ, बहुत बड़ा हिस्सा घेरे हुए हैं। ऐसी अवस्था में, यदि शृंगार को स्वतन्त्र स्थान दिया जाय तो कौन आश्चर्य है? यदि प्राचीन लोगों ने अपनी काम-लोलुपता को आवश्यकता से अधिक प्रकट किया है तो उसी प्रकार आजकल के लोगों ने जो काम से वैराग्य प्रकट किया ह, उसमें कुछ दम्भ मिला हुआ है। यद्यपि कवि की उक्तियाँ उसके स्वभाव का परिचय देती हैं, तथापि उनसे हम उनकी प्रकृति का पूर्णतया अनुमान नहीं कर सकते हैं। कविगण प्रायः अपनी कविता में नाटक-सा रचा करते हैं। बहुत से लोग स्वयं बड़े शान्त और शील प्रकृति के होते हैं, उनका चित्त सहज में विचलित नहीं होता; किन्तु वह परिपाटी के अनुकूल शृङ्गार की सभी अवस्थाओं की कल्पना करने में समर्थ हो जाते हैं। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जिन लोगों को निजी अनुभव होता है उन लोगों को उन बातों के वर्णन का स्वाभाविक कौशल प्राप्त होता है; किंतु इसलिये निजी अनुभव नितांत आवश्यक नहीं है। यह तो रही उन कवियों की बात, जिन्होंने शृङ्गार रस की कविता की है। अब प्रभाव की बात यह है कि जिसकी जैसी रुचि होती है वैसा उस पर प्रभाव पड़ता है। इस तरह का काव्य मनुष्यों के विचार को विलास-प्रियता की ओर अवश्य ले जाता है। क्योंकि मनुष्य इन बातों में स्वभाव से ही दुर्बल है, किन्तु नायिकाओं के भेद—प्रभेद में, केवल वैज्ञानिक भाव रखना कठिन

अथवा असम्भव नहीं है। यदि शृङ्गार-रस की कविता से हमारे देश की सभ्यता को हानि पहुँची है तो हम उसका अवश्य ही विरोध करें; किन्तु उसके साथ हमको उसका वैज्ञानिक मूल्य नहीं भूलना चाहिये। यद्यपि हमारे देश के कवि-जन, नायिकाओं के वर्णन में आवश्यकता से बाहर चले गए हैं तथापि उनके भेद करने में जो वैज्ञानिक-विश्लेषण बुद्धि लगाई गई है, वह सराहनीय है। जो बुद्धि इसमें लगाई गई है यदि वही फूलों एवं जनावरों के संज्ञा-विश्लेषण में लगाई जाती तो वैज्ञानिक कहलाने लगती और कदाचित् उससे कुछ लाभ भी होता। इसको चाहे बुद्धि का दुरुपयोग कहें, किन्तु उस बुद्धि की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। मुग्धा मध्या में जो काम-वासना और लज्जा का संघर्षण होता है उसमें बहुत कुछ वैज्ञानिक सत्य है। इससे मनुष्य के मानसिक विकास का पता चलता है। धीराधीरा से सहनशीलता की हद्द मालूम हो जाती है। स्त्री-प्रकृति के विषय में पता लगता है कि उनमें धीरता और प्रेम, डाह पर कहाँ तक विजय प्राप्त कर सकते हैं। मान की श्रेणियों में क्रोध तथा प्रेम का आपेक्षिक प्राबल्य प्रकट हो जाता है। भय में प्रायः गुरुमान का भी मोचन हो जाता है। इससे भय का प्राबल्य और प्रेमिका-प्रियतम में स्वाभाविक विश्वास का पता चलता है। भय को आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने सामाजिक भाव कहा है अर्थात् भय के कारण मनुष्य सामाजिक बन जाता है। गुप्ता का चातुर्य्य, विदग्धा में लज्जा और काम के सामञ्जस्य करनेवाले वाक्य और क्रियाकौशल, अभिसारिका का अपने को प्रेम के निमित्त भय में डालना, अनुशयना की

संकेत-स्थान-संबंधी-चिंता, प्रोषितपतिका की विरह वेदना और आगतपतिका का हृदयोल्लास पर विवेचना करना, इतना ही वैज्ञानिक महत्व रखते हैं जितना कि मधु-मक्खी की टांग और मकड़ी की आँखें गिनने की चेष्टा।

हमारे कवियों ने मधुमक्खी और फूलों का क्षेत्र न चुन कर स्त्री-पुरुषों की कामवासना से व्याप्त मानसिक संस्थान को अपनी आलोचना का विषय बनाया। उनका दोष केवल यही है कि उन्होंने इस विश्लेषण बुद्धि को अन्य पात्रों में इस संलग्नता के साथ नहीं लाया जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। "भोजन और प्रेम के बाद यश, ऐश्वर्य और ज्ञान की लालसा भी हमारे जीवन में सञ्चालन शक्तियाँ हैं। यद्यपि इनका प्राबल्य तथा विस्तार काम-वासना से कम हो तथापि इनके बिना भी मनुष्य गौरव नहीं पाता। जो बातें मनुष्य के गौरव की हैं उनमें यश और ऐश्वर्य की लालसा बड़ी भारी शक्ति का काम देती हैं। इनका भी हमारी भावी आत्म-रक्षा से संबंध है; किंतु इनमें भाव तथा क्रिया दोनों की प्रधानता रहती है। जिस प्रकार आत्म-रक्षा का भयानक रस से विशेष संबंध है और प्रेम का शृंगार से, उसी प्रकार यशेप्सा का वीररस से विशेष संबंध है और हास्य और करुणा, संयोग और वियोग शृङ्गार के क्रमशः सहायक और पोषक होते हैं। वीर के साथ हास्य लग जाता है तथा आत्मरक्षा-भाव के साथ भी करुणा और हास्य का संबंध है। मनुष्य-जीवन बड़ा विचित्रतापूर्ण है, अतः नव रसों से काम न चलता हुआ देख सञ्चारी भावों के मानने की आवश्यकता पड़ी है। ऊपर की विवेचना से पाठकों को विदित हो गया होगा कि यद्यपि शृङ्गार में मानुषी क्रियाओं

के मूल-स्रोत विशेष नहीं हो जाते तथापि वह हमारे जीवन का प्रवाह निश्चित करने में एक महान शक्ति है। यह हम अवश्य मानें भी कि आधुनिक समाज में नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हो गई हैं और केवल शृङ्गार के ऊपर विवेचना करते रहने में हमारी उन आवश्यकताओं से, जिनका कि हमारी जीवन-सीथिओं से संबंध है, विरोध पड़ेगा। साहित्य को कालानुवर्ती होना चाहिये। शृङ्गार के संबंध में जो कुछ हमारे प्राचीन कवियों ने किया है उसका तिरस्कार न कर वरन् उस पर संतोष प्रकट कर हम को अन्य क्षेत्रों में, जो हमारी वर्तमान आत्म-रक्षा और भावी कीर्ति से संबंध रखते हैं, पदार्पण करना चाहिये। अब यहाँ पर नायिका-भेद का दिग्दर्शन मात्र करा देना अनुचित न होगा।

नायिका

साधारण रीति से नायिका का लक्षण इस प्रकार से दिया गया है—

> उपजत जाहि बिलोकि के, चित्त बीच रस भाव।
> ताहि बखानत नायिका, जे प्रबीन कवि राव॥

जिसके देखने से चित्त में रस-भाव उत्पन्न होता है वही नायिका है। ऐसी नायिका का एक उत्तम उदाहरण रस-राज से दिया जाता है। देखिए—

> कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै अति अँगन चारु गुराई।
> आँखिन में अलसानि चितौन में, मञ्जु विलासन की सरसाई॥
> को बिनु मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि-मिठाई।
> ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥

ऊपर जो लक्षण कहा था कि उसके देखने से जो मन में

रस-भाव उत्पन्न होता है सो "को बिनु मोल बिकात नहीं" ने बतला दिया।

"ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई" से इस बात को व्यञ्जित किया है कि नायिका की शोभा स्वाभाविक है, अलङ्कार के आधार पर नहीं। सौंदर्य नित-नूतन रंग धारण करता रहता है और प्रतिक्षण उसमें से नई छटाएँ निकलती रहती हैं। इससे सौंदर्य में अनन्तता प्रकट होती है। देवजी ने नायिका को अष्टांगवती माना है। जिसके आठों अंग पूर्ण रूप से देखे जायँ वह नायिका कहलाती है। देखिए—

> जा कामिन में देखिये, पूरन आठो अंग।
> ताहि बखाने नायिका, त्रिभुवन मोहन रंग॥
> पहिले जोबन रूप गुन, सील प्रेम पहिचानि।
> कुल वैभव भूषण बहुरि, आठौ अंग बखानि॥

यह आठ अंग इस प्रकार हैं—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल वैभव तथा भूषण।

इन आठो अंगों में यौवन को सबसे प्रथम स्थान दिया है। रस में जो क्रम है वह ध्यान देने योग्य है। यौवन का सम्बन्ध वयस और स्वास्थ्य से है। यह सबसे प्रथम आवश्यक है। बिना इसके रूप भी वृथा है। रूप सौकुमार्य्य यह हृदय के द्वार खोलने के लिये आवश्यक है। गुण और शील-स्वभाव का परिचय देर में मिलता है। इसके साथ इनका प्रभाव भी चिरस्थायी रहता है, किन्तु हृदय में स्थान पाने के लिये रूप-यौवन की आवश्यकता पड़ती है। जो प्रेम केवल रूप-यौवन पर निर्भर है वह चिरस्थायी

नहीं रह सकता, इसीलिये उसकी पूर्ति के लिये गुण आदि और अङ्ग माने गए हैं। गुण में चातुर्य्य, गान-विद्या में निपुणता, काव्य साहित्य में रुचि, स्वच्छता, सब कार्य्यों में लाघव और कौशल, एवं वाक्-चातुर्य्य आते हैं। यह गुण रूप को भी शोभा देते हैं। यह सहवास को सुखद बनाते हैं। जहाँ रूप के साथ गुण-लाभ होता है वहाँ सोने में सुगंध आ जाती है। यद्यपि प्रेमी के लिये अवगुण भी गुण बन जाते हैं तथापि उसको लोग प्रेमान्धता ही कहते हैं। जहाँ गुण वर्तमान है वहाँ प्रेम को दृढ़ बनाते हैं। शील में इतनी बातें मानी गई हैं—

> कोमल वचन प्रसन्न मन, सज्जन रञ्जन भाइ।
> दीन दया थिरता छमा, ये कहु सील सुभाइ॥

गुण भी बिना शील के शोभा नहीं देता। बिना विनय के विद्या अच्छी नहीं लगती। शील में मानसिक गुण आ जाते हैं। सौंदर्य्य के साथ कोमल वचन, कठोर वचन से सौंदर्य्य का सारा प्रभाव जाता रहता है और एक प्रकार की ग्रामीणता आ जाती है। प्रसन्न-चित्त रहना भी सौंदर्य का एक अंग है। जो प्रसन्न मन नहीं रहता उससे प्रेम क्या, बात-चीत भी करना कठिन हो जाता है। यद्यपि लोग बहुधा कहा करते हैं कि 'दुधार गाय की दो लातें भी सह लेनी पड़ती हैं' तथापि यह मानना पड़ेगा कि वह खुशी से नहीं। सज्जनों को प्रसन्न करने का स्वभाव, (दूसरों को प्रसन्न करने का स्वभाव इतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं प्रसन्न रहने का) दीनों पर दया, (दया एक प्रकार की कोमलता है)। जिस प्रकार सौंदर्य्य के लिये अङ्गों की कोमलता वाञ्छनीय है वैसे ही मानसिक कोमलता भी आवश्यक है। दीनों पर क्रूरता

करना एक प्रकार की कायरता है क्योंकि दीन बदला नहीं ले सकते हैं। यह क्रूरता सज्जनों के हृदय में आदर नहीं पा सकती। स्थिरता में प्रेमी को, इस बात का निश्चय रहता है कि यदि उसकी प्रेयसी प्रेम करती है तो उसका प्रेम बदल नहीं जायगा। स्थिरता का अभाव स्वभाव का ओछापन प्रकट करता है। क्षमा केवल तपस्वियों का ही रूप नहीं, वरन् रूपवानों का भी रूप है। जब तक क्षमा न हो तब तक सम्बन्ध का चिरस्थायी रहना कठिन हो जाता है। दोनों ओर से जब तक व्यवहार में क्षमा रहती है तभी तक प्रेम का प्रसार होता है। प्रेम! यह सब गुण होते हुए भी प्रेम बिना सब व्यर्थ है। यद्यपि एकाङ्गी प्रेम की पुष्टता की गई है तथापि यह प्रेमी की ही ओर से प्रशंसनीय है, प्रेमास्पद की ओर से नहीं। प्रेम का बदला प्रेम ही हैं। प्रेम ही नायिकाओं के हाव, भाव, कटाक्षों को सार्थक बनाता है; नहीं तो उसके बिना यह सब पीतल की पत्नी की भाँति निर्मूल हैं। यह प्रेम सुख-दुःख दोनों ही में सम्बन्ध को दृढ़ बनाए रहता है। प्रेम दुःख की अग्नि में पड़ कर तप्त काँच की भाँति देदीप्यमान हो जाता है।

देखिये, देवजी ने प्रेम का क्या ही उत्तम लक्षण दिया है:—

सुख दुख में है एक सम, तन मन बचननि प्रीति।
सहज बढ़े हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीति॥

षट्पद का आदर्श बतलाते हुए देवजी प्रेम की अनन्यता को इस प्रकार बतलाते हैं:—

वारौ कोटि इन्दु अरबिंद-रस बिंद पर,
मानै ना मलिंद-बिंद सम कै सुधा-सरो;

मलै मल्लि, मालती, कदंब, कचनार, चंपा,
चापेहू न चाहै चित चरन टिकासरो।
पदुमिनि, तूही षटपद को परम पद,
"देव" अनुकूल्यो और फूल्यो तो कहा सरो;
रस, रिस, रास, रोस, आसरो, सरन बसे,
बीसो बिसबासरो कि राख्यो निसिवासरो॥

देखिये भवभूति ने प्रेम का क्या ही अच्छा उदाहरण दिया है:—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु य—
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते॥

इसका पं० सत्यनारायणकृत पद्यानुवाद देखिये:—

सुख दुख में नित एक, हृदय को प्रिय विराम थल।
सब विधि सों अनुकूल, बिसद लच्छन मय अविचल॥

जासु सरसता सकै न हरि, कबहू जरठाई।
ज्यों ज्यों बाढ़त सघन, सघन सुन्दर सुखदाई॥
जो अवसर पै संकोच तजि, परनत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुर्लभ सज्जन प्रेम अस, बड़-भागी कोऊ लहत॥

कुलाचार, सद्कुलोद्भव होने का गौरव और उसके अनुकूल अपना व्यवहार रखना, इसमें गुरुजनों के साथ लज्जा और सम्बन्धी का यथायोग्य विचार रखना और उचित शिष्टाचार में भूल न करना, यह सब शामिल हैं। इसके होने से नायक को अपनी नायिका के कारण दूसरों के सम्मुख लज्जित नहीं होना पड़ता।

वैभव—उचित-आत्माभिमान और अपनी स्थिति के अनुकूल व्यवहार करना, वैभव में आता है। वैभव को अंग्रेजी में Dignity कहेंगे। वैभव का अर्थ वृथाभिमान नहीं है। भाषा में इसको 'इज्जत के साथ रहना' कहते हैं। जिनमें वैभव का ख्याल रहता है वह सन्मार्ग से कम भ्रष्ट होते हैं। वैभव के साथ स्थिरता और गाम्भीर्य्य भी लगा हुआ है। यद्यपि सौंदर्य्य में एक प्रकार का हलकापन अर्थात् चिन्ता से रहित होना और थोड़ी लापरवाही भी प्रशंसनीय मानी जाती है तथापि ऐसे समय प्राय: आते हैं जहाँ गाम्भीर्य्य के अभाव से रस में विष मिल जाता है। यदि नायक कष्ट में हो और नायिका गम्भीर-भाव धारण न करे तो नायक के आत्माभिमान को कितना आघात पहुँचेगा? वैभव की 'देव' जी ने इस प्रकार व्याख्या की है:—

जहाँ सहज सम्पति सुपुनि, प्रभुता कौ अभिमान।
थिरता गति गम्भीरता, वैभव ताहि बखानि॥

आभूषण यह सबके अन्त में आते हैं। आभूषण सौंदर्य्य को बढ़ा सकते हैं, किन्तु उसके अङ्ग नहीं हो सकते। यह बाहरी हैं। जब तक यह अपना गौण स्थान रखते हैं तभी तक शोभा के अङ्ग रहते हैं। जहाँ पर प्रधान हो जाते हैं वहाँ यह ही यह, रह जाते हैं; शोभा का नाश हो जाता है। जहाँ पर स्वाभाविक सौंदर्य होता है वहाँ पर वल्कल भी अलङ्कार का काम दे जाते हैं। देखिये तपोवन आश्रमवासिनी सुन्दरी शकुन्तला के विषय में कविवर कालिदास क्या कहते हैं:—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

यह आठों अङ्ग मिलना बहुत दुर्लभ है, किन्तु जितने हों उतने ही अच्छे हैं । इस अष्टांगवती नायिका के वर्णन में स्त्रियों के लिये एक अच्छा आदर्श मिलता है जो सदा अनुकरणीय है । यदि प्रत्येक घर में ऐसी नायिकाएँ हों तो स्वर्ग के लिये मरने का कष्ट न उठाना पड़े ।

नायिकाओं के तीन मुख्य भेद हैं —(१) स्वकीया (२) परकीया (३) सामान्या वा गणिका :—

जो अपनी हो वह स्वकीया, जो अपनी न हो वह परकीया, जो सबकी हो अर्थात् जो धन खर्च करनेवाले की हो, वह गणिका—

इनके इस प्रकार लक्षण दिये गए हैं :—

स्वकीया—लाजवती निशिदिन पगी, निज पति के अनुराग ।
कहत स्वकीया शीलमय, ताको पति बड़भाग ॥

साहित्य-दर्पण में यह भाव बहुत अच्छे शब्दों से बतलाया है ।

लज्जापअत्तपसाहणाइँ, परभत्तिणिप्पिवासाइँ ।
अविण अदुम्मे धाइँ, धण्णाणं घरे कलत्ताइँ ॥

अर्थात् लज्जा ही जिसका पर्य्याप्त आभूषण है, जो अन्य पुरुष की इच्छा से शून्य है । अविनय करना जो जानती ही नहीं, ऐसी सौभाग्यवती रमणी किसी पुण्यवान पुरुषों की ही होती है ।

सील सुधाई सुधर ई, सुभ गुन सकुच सनेह।
सुबरन बरन सुहाग सों, सनी बनी तुव देह॥

मतिरामजी ने स्वकीया का इस प्रकार लक्षण दिया है :—

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानति लाज है, प्रीतम जानति प्रीति॥

कविवर कालिदास ने अपने नाटकों में प्रायः स्वकीया नायिकाओं का ही वर्णन किया है। देखिये, कितना ऊँचा सतीत्व का आदर्श रक्खा है। सती सीता श्री रामचन्द्र जी से परित्यक्त होने पर भी उनको दोष नहीं देतीं। देखिये :—

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥
साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

अर्थात् यह कि आपने मेरा परित्याग जान-बूझ कर अपनी इच्छा से किया है, मुझे ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये। मैं आपको दोषी नहीं ठहराती कि इसका यही प्रमाण है कि सन्तान उत्पत्ति के उपरान्त (जब कि मैं परिश्रम करने योग्य हो जाऊँगी) मैं सूर्य की ओर एकाग्रदृष्टि कर यही प्रार्थना किया करूँगी कि आप जन्मान्तर में भी मुझे भर्ता-रूप से प्राप्त हों।

परकीया—प्रेम करै पर पुरुष सों, परकीया सो जानि।
दोउ भेद ऊढ़ा[1] प्रथम, बहुरि अनूढ़ा[2] जानि॥

(१) ब्याही (२) अनब्याही

ऊढ़ा लक्षण—

ब्याही औरै पुरुष सों, औरन सो रस लीन।
ऊढ़ा तासों कहत हैं, कवि पण्डित परवीन॥

अनूढ़ा लक्षण—

अनब्याही केहु पुरुष सों, अनुरागिनि जो होय।
ताहि अनूढ़ा कहत हैं, कवि कोविद सब कोय॥

गणिका—धन दे जाके संग में, रमै पुरुष सब कोय।
ग्रन्थन को मत देख के, गणिका जानै सोय॥

गणिका का वर्णन 'अँधेर नगरी' से दिया जाता है:—

छाके नैन दसन छटा को रंग छायो जनु,
छोरी छाती छीन लंक देखि ही छहाहुगे।
छोरवारी सारी ज्यों छपाकर छबीलो मुख,
छिंगुनी को छोर वाको छुअत बिकाहुगे॥
छलकि चलेही जाहि छलिबे को रस रूप,
छकि अपछरा फेरि पाछे पछिताहुगे।
छूटे बार छति में छपकि जाल छैल नृप,
छबि के निहारे छिन ही में छलि जाहुगे॥

स्वकीया का प्रेम परम पुनीत एवं स्थायी रहता है। परकीया के प्रेम को बहुत से लोगों ने आदर्शरूप माना है, क्योंकि परकीया जितना अपने प्रेम के लिये बलिदान करती है उतना स्वकीया नहीं। स्वकीया जो प्रेम करती है वह धर्म-रूप से ही करती है। यद्यपि परकीया के प्रेम में प्राबल्य की मात्रा अधिक है तथापि उसके स्थायित्व में सदा संदेह रहता है, क्योंकि जिस प्रकार उसने अपने पति को धोखा दिया, वह उपपति को भी धोखा

दे सकती है। 'घर की मुर्गी दाल बराबर' समझ जो स्वकीया का आदर नहीं करते वह उसके साथ घोर अन्याय करते हैं। अनुसूयाजी ने जो स्वकीया का आदर्श रामायण में बतलाया है वह बहुत ऊँचा है, तथापि हमारे यहाँ की स्वकीया स्त्रियाँ हमारे परम आदर की भाजन हैं। यदि देखा जाय तो दाम्पत्य-व्रत का, स्त्रियों की अपेक्षा, पुरुष अधिक उल्लंघन करते हैं। परकीया के प्रेम में चाहे आनन्द की मात्रा अधिक है, किन्तु श्लाघनीय नहीं। उसमें पद-पद पर भय एवं शङ्का रहती है। देवजी ने ठीक कहा है—

"भूले हू न भोग बड़ी विपत्ति वियोग व्यथा,
जोगहू ते कठिन संयोग पर-नारी को।"

भय के अतिरिक्त जो नैतिक पतन होता है वह परकीया प्रेम के निषेध में सब से बड़ा कारण है।

स्वकीया और परकीया के प्रेम-प्राबल्य के आधार पर वैष्णव सम्प्रदाय में मतभेद है। एक सम्प्रदाय स्वकीया के प्रेम को आदर्श मानता है और दूसरा परकीया के प्रेम को तथा तीसरा सम्प्रदाय स्वकीया में ही परकीया के प्रेम का आदर्श चरितार्थ करना चाहता है। यह प्रेम का आदर्श परमेश्वर में लगाना बहुत अच्छा है। किन्तु इसका बहुत दुरुपयोग भी हुआ है। शृंगार में धार्मिक भाव मिल जाने ही के कारण हिन्दी काव्य में शृंगार की भरमार है।

यद्यपि परकीया का प्रेम श्लाघनीय नहीं है तथापि गणिका के प्रेम से वह अच्छा है। गणिका का प्रेम 'प्रेम' नहीं है वरन् वाणिज्य है। वह प्रेम के नाम को दूषित करती है। जिस प्रेम

का मूल्य रुपये, आने पाई में निर्धारित हो सकता है, वह सर्वथा निन्दनीय है।

अवस्था-क्रम से स्वकीया के 'मुग्धा' 'मध्या' तथा 'प्रौढ़ा' नामक तीन भेद हैं। जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती जाती है वैसे ही काम लज्जा पर विजय पाता जाता है। 'मुग्धा' वय सन्धि की अवस्था में होती है। ऐसी अवस्था में लज्जा की प्रधानता होती है और वह उसके सौंदर्य्य के माधुर्य्य को बढ़ा देती है।

मुग्धा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :—

झलकत आवे तरुनई, नई जासु अंग अंग।
तासों मुग्धा कहत हैं, जे प्रवीन रस रंग॥
नवल बधू नवयौबना, नवल रूप वपु होइ।
दिन-दिन द्युति सरसाति है, मुग्धा जानौ सोइ॥

इसका उदाहरण इस प्रकार से दिया गया है :—

नेक मन्द मधुर कपोल मुसक्यान लगी,
नेक मन्द गमन गयन्दन की चाल भो।
रंचक न ऊँचो लगो अञ्चल उरोजन के,
अंकुरनि बंक डीठि नेकु सो विशाल भो॥
'मतिराम' सुकवि रसीले कछु बैन भये,
बदन श्रृंगार रस बेलि आल-बाल भो।
बाल तन—यौवन—रसाल उलहत सब,
सौतिन के साल भौ निहाल नंदलाल भो॥

चन्द्रकला सी बढ़त तन, तिय तरुनाई जोर।
सिसुता तिमि तिमि तिमिरि सी, रहति जाति अति थोर॥
लिखन बैठ जाकी सिवी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

मुग्धा के 'ज्ञात' एवं 'अज्ञात' ऐसे दो और भेद किये गए हैं। जो अपने यौवन से अज्ञात है वह 'अज्ञातयौवना' कहलाती है। मुग्धा में शिशुता तथा यौवनावस्था दोनों की सन्धि होती है। जो शैशव की ओर झुकी होती है वह 'अज्ञात-यौवना' होती है; और जिनमें यौवनावस्था का उदय हो गया है वह ज्ञात यौवना कहलाती है।

अज्ञातयौवना का लक्षण :—

यौवन की झलकी झलक, नहिं जानत जो बाम।
पूँछत प्यारी सखिन सों, अज्ञातयौवना नाम॥
उजयारी मुख इन्दु की, परी कुचन उर आनि।
कहाँ निहारत मुग्ध तिय, पुनि पुनि चंदन जानि॥—मतिराम

अधर परस मीठी भई, दई हाथ ते डार।
लावत दतुवन ऊख की, नोखी खिजमतगार॥—बिहारी

कौन रोग दुहुँ छतियन, उकस्यो आइ।
दुखि-दुखि उठत करेजवा, लगि जनु जाइ॥—रहीम

वास्तव में अज्ञातयौवना अपने यौवन से नितान्त अज्ञात नहीं होती, वह कम से कम यौवन-आगम के चिह्नों से अभिज्ञ होती है। वह उन चिह्नों की व्याख्या नहीं कर सकती। अगर नितान्त अनभिज्ञता हो तो कुछ वर्णन ही न हो सके। जब कोई चीज होती है तभी उसका ज्ञान भी होता है। वह ज्ञान चाहे स्पष्ट हो चाहे अस्पष्ट हो लेकिन उस ज्ञान का आन्तरिक अनुभव अवश्य होता है। अज्ञातयौवना अपने जोवन में एक नया परिवर्तन पाती है, जिस परिवर्तन का यथार्थ कारण जानने में वह अपने को असमर्थ पाती है। उसका अज्ञान उसके सौन्दर्य

को और भी बढ़ा देता है क्योंकि भोलापन सौन्दर्य्य का एक अंग माना गया है। अज्ञातयौवना के जितने उदाहरण पाये जाते हैं उनमें उसका भोलापन ही बतलाया जाता है।

ज्ञातयौवना का लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

निज तन यौवन आगमन, जान परत है जाहि।
कविकोविद सब कहत हैं, ज्ञातयौवना ताहि॥

उदाहरण लीजिये—

इतै उतै सकुचित चितै, चलत डुलावत बाँह।
दीठि बचाई सखिन की, छिनुक निहारत छाँह॥
करि चंदन की खौर दै, बंदन बेंदी भाल।
दरप भरी दिन द्वैक ते, दरपन देखति बाल॥
भावक उभरौ हौं भयो, कछुक पर्‌यो भरु आय।
सीपहरा के मिस हियो, निस दिन देखत जाय॥ —बिहारी

यहाँ पर ज्ञातयौवना का मानसिक विश्लेषण अच्छा किया गया है। नायिका को अपने यौवन का ज्ञान हो गया है। इसी ज्ञान के कारण वह इधर-उधर सङ्कोच से देखती है। अज्ञात-यौवना को इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वह किसी बात का सङ्कोच प्रगट करे। इतना ही नहीं, वह जान-बूझ कर अपने यौवन का प्रभाव डालना चाहती है, किन्तु भय एवं लज्जा सहित। इसी कारण से वह चलते हुए बाहुओं को डुलाती है और इधर-उधर देखती भी जाती है। वह अपनी चाल-ढाल, वेष-भूषा को अपनी परछाँही में देख कर प्रसन्न होना चाहती है, किन्तु दूसरों पर अपनी इस इच्छा को प्रगट होने से बचाना चाहती है। इसी हेतु वह सखियों की दृष्टि से अपने को बचाना

चाहती है। जब मनुष्य को ज्ञान होता है कि उसके पास कोई खजाना है तो वह उसको देख कर खुश होता है, किन्तु वह यह नहीं चाहता कि दूसरे लोग उसकी इस कमज़ोरी को जान लें। यही हाल ज्ञातयौवना का है।

अज्ञात और ज्ञातयौवना का भेद स्वयं नायिका के सम्बन्ध में किया गया है। उसमें नायक की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति का कोई प्रश्न नहीं है। पति की उपस्थिति में जो नायिका के भय और लज्जा जनित भावों के आधार पर विभाग किए गए हैं, उसके अनुकूल मुग्धा के दो और भेद हैं। (१) नवोढ़ा (२) विश्रब्ध नवोढ़ा।

नवोढ़ा

इसका लक्षण इस प्रकार से है:—

मुग्धा जिहि भय लाज युत, रति न चहै पति संग।
ताहि नवोढ़ा कहत हैं, जे प्रवीन रस रंग॥

इसका इस प्रकार उदाहरण दिया गया है—

ज्यों ज्यों परसै लाल तन, त्यों-त्यों राखे गोइ।
नवल वधू उर लाज ते, इंद्रवधू सी होइ॥

इस दोहे में लज्जा से जो सुर्खी आ जाती है उसका भाव बतलाया गया है। इसको आंग्लभाषा में (Blushing) ब्लशिंग कहते हैं। डारविन (Darvin) ने अपने एक ग्रन्थ में Expression of emotions in man and animals इसका बहुत गवेषणापूर्ण वर्णन दिया है। उनके मत से यह सुर्खी केवल मुख पर ही नहीं आती वरन् कुछ श्वेतवर्ण लोगों में आधे शरीर में व्याप्त हो जाती है। इन्द्रबधूटी की उपमा यहाँ

पर अत्युत्तम है। नवोढ़ा का छोटा सुकुमार शरीर मखमल के से 'सुचिक्कण देदीप्यमान-अंग और लाज की ललाई, संकुचन और रोमाञ्च' सब बातें इस उपमा में घट जाती हैं। इन्द्रबधूटी स्पर्श से ही संकुचित हो जाती है। वही हाल नवोढ़ा का भी बतलाया गया है। कवि की तीव्र दृष्टि सराहनीय है।

जब भय की मात्रा कम हो जाती है और नायिका विश्वास के साथ नायक से मिलने का साहस करने लगती है तब वह विश्रब्ध-नवोढ़ा कहलाती है। इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

होय नवोढ़ा के कछुक, प्रीतम सों परतीति।
सो विश्रब्ध नवोढ़ यों, वरणत कवि रस रीति॥

इसका उदाहरण देखिये—

केल की रात उघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई,
प्यास लगी कोउ पानी दे जाउ यों भीतर बैठ के बात सुनाई।
जेठी पठाय गई दुलही हँसि हेरि हरै 'मतिराम' बुलाई,
कान्ह की बोली में कान न दीनो सो गेह की देहरी पै धरि आई॥
जाहि न चाहि कहूँ रति की सु कछू पति को पतियान लगी है,
त्यों 'पद्माकर' आनन में रुचि कानन भौंहैं कमान लगी है।
देत तिया न छुवै छतियाँ बतियान में तो मुसक्यान लगी है,
प्रीतम पान खवायबे को अब तो पर्य्यंक लौं जान लगी है॥

सोहैं आवत भावती, जब पिय सोंहैं खात।
सुरति बात हिम बात लहि, सुखत मूल जल जात॥

मध्या का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

जाके तन में होत है, लाज मनोज समान।
तासो मध्या कहत हैं, कबि मतिराम सुजान॥

इसका इस प्रकार उदाहरण है ।

ललना, लजीली उर काम हूँ ते कीली नीली,
सारी में लसै ज्यों घटा कारी बीच दामिनी ।
कहैं 'ब्रजचन्द' हुती संग में सहेलिन के,
हेरत हँसत बरात हंस-गामिनी ॥
तो लौं तहाँ गेह में सुनाह आयो नेह भरो,
बैठ गयो ताको लखि बैठ गई भामिनी ।
कन्त हेरे सामुहें तो अन्त हेरे चन्दमुखी,
अंत हेरे कन्त तब कन्त हेरे कामिनी ॥
रमती मन पावत नहीं, लाज प्रीति को अन्त ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरे, ज्यों दुनारि को कन्त ॥

उपर्युक्त छन्द में 'मनोज' और 'काम' का बराबर प्राबल्य बतलाया है। जिस प्रकार मुग्धा में लाज काम को दबाए रखती है, मध्या में दोनों का बराबर जोड़ रहता है और वह अपना अपना अलग-अलग प्रभाव दिखाते हैं। ललना लजीली है किन्तु उर में "काम हूँ से कीली है।" कन्त जब घर में आता है तो मुग्धा की भाँति उसे देख वह भाग नहीं जाती, वरन् उसके बैठने पर वहीं बैठ जाती है। यह काम का प्रभाव हुआ किन्तु जब "कन्त हेरे सामुहें तो अन्त हेरे चन्दमुखी" यहाँ पर लाज ने अपना प्रभाव दिखला दिया। फिर जब 'अन्त हेरे कन्त' तब वह दूसरी ओर नहीं देखती। वरन् कन्त की ओर ही देखती है। यहाँ पर यह काम अपना प्रभुत्व स्थापित कर देता है।

मान के सम्बन्ध में मध्या के धीरा, अधीरा, धीराधीरा करके तीन भेद हैं। यह भेद प्रौढ़ा में भी होते हैं, किन्तु उनका

यहाँ पर वर्णन नहीं किया जायगा। यह भेद मुग्धा में नहीं रक्खे गए, क्योंकि उसे अपने पति से कुछ कहने की हिम्मत ही नहीं पड़ती। यह सब खण्डिता नायिका होंगी।

मध्या-धीरा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :—

कोप जनावे व्यङ्ग सों, तजै न पति सन्मान।
मध्या-धीरा नायिका, ताको कहत सुजान॥

देखिये, पति दूसरी जगह रात बिता कर आया, किन्तु नायिका किस धीरता के साथ व्यङ्ग वचन कहती है।

तुम कहा करो कहूँ काम ते अटकि रहे,
तुमकौं न दोस सो तो आपनोई भाग है।
आये मेरे भौन बड़े भोर उठि प्यार ही में,
अति हरबरन बनाइ बाँधी पाग है॥

मेरे ही वियोग रहे जागत सकल राति,
गात अलसात मेरो परम सुहाग है।
मनहू की जानी प्राण प्यारे 'मतिराम' यह,
नैनन ही माँहि पाइयतु अनुराग है॥

यहाँ पर नायिका जो अपने पति में जागरण के चिह्न देखती है, उनको अपने वियोग के कारण बतला कर अपने व्यङ्ग वचन से पति को लज्जित कर देती है। जागरण के कारण आँखों की सुर्खी को प्रेम का अनुराग बतलाती है। उपालम्भ भी दे लेती है और अपने अधिकार से बाहर नहीं जाती। यही इसकी धीरता है।

देवजी ने मध्या-धीरा का उदाहरण इस प्रकार दिया है :—

भारे हौ भूरि भुराई भरे अरु भांतिन भांतिन वो मन भाये।
भाग बड़ो वह भावती को जेहि भावते लै रंग भौन बसाये॥
ऐसे भलोई भली विधि सों करि भूलि परे किधौ काहू भुलाये।
लाल भले हौ भलो सुख दीन्हो भली भई आजु भले बनि आये॥

एक और उदाहरण देखिये, बिना कुछ कहे क्रिया द्वारा नायिका नायक को शरमा देती है।

आवत जात के भौन के भीतर नींद भरो रम्यो बालम बाल सों।
मान को ठान कियो न सयान सो जान लयो गुर ज्ञानन चाल सों॥
अँजन लीक लगी अधरान में पीक कपोलन जावक भाल सों।
आब गुलाब लै सीरो कह्यो मुख लाल को पोछ्यो सपेद रुमाल सों॥

मध्या-अधीरा

इसका लक्षण इस प्रकार है :—

मध्या कहिये अधीर तिय, बोलै बोल कठोर।
पिय हि जनावै कोप सो, बरनत कवि सिरमौर॥

उदाहरण देखिये :—

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम' रहौ तितही जितही मन भायो,
काहेकों सौंहैं हजार करौ तुम तो कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमै दुख, यों ही कहा रस-वाद बढ़ायो,
मान रह्योई नहीं मन मोहन! मानिनी हाय सो मानैं मनायो॥

देखिये कितना स्पष्ट उदाहरण है—

औरन के ढिग ते न टरौ नित बातन ही हमें राखत टारे।
औरन के संग राति बिताय हमैं सुख देत हो आन सकारे॥
औरन सो तुम साँचइ हो हम सो रहो झूठई ब्योत विचारे।
लागत औरन की छतियाँ तुम पायन लागत आनि हमारे॥

यहाँ पर नायिका व्यङ्ग वचनों के साथ खुले शब्दों में भी फटकारती है। वह कहती है कि तुम को रोकता ही कौन है? जहाँ तुम्हारा मन लगे वहाँ जाओ। कसम खाने की क्या जरूरत? आप तो कभी कोई अपराध करते ही नहीं। जाइये, सोने दीजिये। जो मानिनी होय, उसे मनाइये। आपके दूसरी जगह जाने से मेरा मान रहा ही कहाँ? धीरा मृदु उपालम्भ देती है, अधीरा क्रोध करती है किन्तु दोनों अपने ऊपर कोई दुःख नहीं प्रगट करतीं। अधीरा में यह व्यञ्जित होता है कि नायिका को नायक की कोई परवाह नहीं। जहाँ पर नायिका उपालम्भ के साथ अपना दुःख भी प्रगट करती है वहाँ पर धीराधीरा हो जाती है। स्त्रियों एवं बालकों के लिये रोना ही बल है। यह उनका ब्रह्मास्त्र है। वचन "धीरा" के समान कहती है, किन्तु रो कर अधीरता प्रगट करती है। भले आदमी के लिये उसकी पत्नी का रोना और दुःख उठाना कड़े से कड़े उपालम्भ से बढ़कर नैतिक दण्ड है। देखिये :—

आज कहा तजि बैठी हो भूषन, ऐसे ही अङ्ग कछू अरसीले।
बोलत बोल रुखाइ लिये, 'मतिराम' सनेह मने न रसीले॥
कौन कहो दुख प्रान प्रिया, असुआन रहे भरि नैन लजीले।
कौन तिन्है दुख है जिनके, तुमसे मनभावत छैल छबीले॥

रोने के साथ अन्तिम चरण में उपालम्भ है।

प्रौढ़ा

मध्या के पश्चात् प्रौढ़ा का नम्बर आता है। इसमें लाज का आवरण उठ जाता है। इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है।

निज पति सों रति केलि में, सकल कलान प्रवीन।
ता सों प्रौढ़ा कहत हैं, जे कवित्त रसलीन॥

प्रौढ़ा का उदाहरण इस प्रकार से है:—

प्राणप्रिया मन भावन संग अनंग तरंगनि रंग पसारे।
सारी निशा 'मतिराम' मनोहर केलि के पुञ्ज हजार उघारे॥
होत प्रभात चल्यो चहै प्रीतम सुन्दरि के हिय में दुख भारे।
चन्द सो आनन दीपति दीपति श्याम सरोज से नैन निहारे॥

इस छंद में यही बात दिखाई गई है कि लज्जा और सङ्कोच दोनों काफ़ूर हो गए हैं। रात भर भी साथ रह कर नायिका की तृप्ति नहीं होती है।

प्रौढ़ा के रति-प्रीता एवं आनन्द-सम्मोहिता करके दो और भेद किये गए हैं। प्रौढ़ा प्रायः रति-प्रीता होती है। आनन्द-सम्मोहिता उसे कहते हैं जो रति में बेसुध हो जावे।

रति-प्रीता और आनन्द-सम्मोहिता के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

लपटै प्रीतम के पहिरौ पहिराइ पयै चुन चूनर खासी,
त्यों 'पद्माकर' सांझ ही ते सिगरी निशि केलिकला परकासी।
फूलत फूल गुलाबन के चटकाहटि चौकि चकी चपलासी,
कान्ह के कानन आंगरी नाइ रही लपटाइ लवंग लतासी॥

इसमें यह दिखलाया गया है कि सबेरे का होना कलियों के चटकने के शब्द से ही ज्ञात हुआ। यद्यपि इसमें थोड़ी अस्वाभाविकता अवश्य है क्योंकि जिसको समय के बिताने का और बातों से ज्ञान नहीं हुआ तो कलियों के चटकने के शब्द से (यदि कोई ऐसा शब्द होता हो तो) क्या ध्यान आवेगा, तथापि

इसका भाव बहुत अच्छा है। अन्य कई बातों से प्रातःकाल का बोध। हो सकता था, किन्तु वह इतना साहित्यिक न होता। सबेरा होने का उसको बोध हो गया किन्तु वह अपने प्रियतम को इस बात का बोध नहीं कराना चाहती थी; क्योंकि यदि वह जान लेगा कि सबेरा हो गया तो चला जावेगा।

बेनीप्रवीन ने जो उदाहरण दिया है। उसमें अधिक चातुर्य्य है।

कोक की कलन वारी सोक की दलन निसि,
कीन्ही सब बातें घातें सौंति गरदन की।
आंनद-मगन सों 'प्रवीन बेनी प्यारे पास,
भूलि गई बिपदा मनोज करहन की॥
बिलखी बिकल ऐसी नभ में ललाई लखि,
आवन सुरत लागी दिन दरदन की॥
सीत सों सभीत सी समीर के बहाने गोरि
छोरि दीन्ही डोरी वेग दौरि परदन की॥

प्रातःकाल की अरुणाई कहीं देख न ली जावे इस कारण से नायिका ने जाड़े के बहाने दरवाजों के परदे गिरा दिये।

आनन्द-सम्मोहिता का उदाहरण:—

भई मगन जो नागरी, सुलहि सुरत आनन्द।
अंग-अंगोछि भूषन बसन, पहिरावत नँद नन्द॥

हँसि वैसही मूंदे विलोचन लोचति, वैसहो भेहैं चढ़ी रिसकी।
टुटि वैसही 'बेनीप्रबीन' परी, गज-मोतिनहू की लारैं खिसकी॥
रति अन्त रही न कछु सुधि है, बुधि वैसी रही परिहैं चिसकी।
लगि अंक मनो परजंक में लाल के, वैसही बाल भरे सिसकी॥

स्वकीया के ज्येष्ठा, कनिष्ठा करके दो भेद हैं। ये भेद सपत्नीत्व के आधार पर हैं यद्यपि दोनों ही सपत्नियाँ विवाहिता होती हैं तथापि उनमें भी ईर्षा का अभाव नहीं होता। परकीया के साथ जो विशेष प्रेम होता है वह प्रायः गुप्त रह सकता है, किन्तु जब दोनों एक ही घर में एक साथ रहती हैं तब दोनों में ईर्षाभाव और वैमनस्य को उत्पन्न न होने देना चतुर नायक का ही काम है। कण्व ऋषि ने शकुन्तला को बिदा करते हुए यही उपदेश दिया था कि "सुश्रूषा गुरुजन की कीजो, सखी भाव सौतिन में लीजो।"

गुणवती नायिका को स्वयम् कलह से बचना चाहिये और नायक को भी ऐसे कलह का अवसर न देना चाहिये। साधारण लोगों में बहु-विवाह की प्रथा उठती जाती है और उनके लिये आजकल यह समस्या नहीं रही; किन्तु जहाँ पर ऐसी स्थिति आ जाती है वहाँ पर नायक को चातुर्य्य की आवश्यकता पड़ती है। "जेष्ठाकनिष्ठा" के जो वर्णन किये जाते हैं उनमें ऐसे चातुर्य्य का ही वर्णन किया जाता है।

उदाहरण देखिये :—

खेलत फागु खेलार खरे, अनुराग भरे बड़भाग कन्हाई।
एक ही भाव में दोउन देखि के, देव करी इक चातुरताई॥
लाल गुलाल सों लीन्हीमुठी भरि, बाल के भाल की ओर चलाई।
वा दृग मोरि उतैं चितयो, इन भेटि इतै वृषभानु की जाई॥

देव—

जलविहार पिय प्यारि को, देखत क्यों न सहेलि।
लै चुमकी तजि एक तिय, करत ऐक सों केलि॥

"पद्माकर"

परकीया

परकीया का लक्षण दिया जा चुका है और ऊढ़ा एवं अनूढ़ा करके दो भेद लक्षण सहित बता दिये जा चुके हैं। अब और भेद यहाँ पर दिये जाते हैं। परकीया के मुख्य छः भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) गुप्ता, (२) विदग्धा, (३) लक्षिता, (४) कुलटा, (५) अनुशयना और (६) मुदिता।

परकीया को अपने सुरत-चिह्नों को छिपाना पड़ता है। इस लिए उसे बहुत चातुर्य्य काम में लाना पड़ता है। यह जो पिछली सुरत के चिह्न छिपाती है वह भूत-गुप्ता कहलाती है। जो वर्तमान सुरत-चिह्नों को छिपाती है वह वर्तमान-गुप्ता कहलाती है। और जो आगे की पेशबन्दी करती है वह भविष्य-गुप्ता कहलाती है।

भूत-गुप्ता का उदाहरण इस प्रकार है:—

भलो नहीं यह केवरो, सजनी गेह अराम।
बसन फटैं कीटक लगैं, निसि दिन आठो जाम॥

यहाँ पर रति के चिह्नों की, जन्य कारणों द्वारा व्याख्या कर दी है।

मोतिन की माल तोरि, चीर सब चीर डार्‌यो,
फेरि नहिं जैहों आली दुःख विकरारे हैं।
देवकीनन्दन कहैं धोखे नाग छौनन के,
अलकैं प्रसून तेऊ नोचि निरवारे हैं॥
जानि मुख चंद्र कला चोंच दीन्हीं अधरनि,
तीनों ऐनि कुंजन में एकै तारतारे हैं।

ठौर-ठौर डोलत मराल मतवारे तैसे,
मोर मतवारे त्यों चकोर मतवारे हैं ॥
—देवकीनन्दन

× × × ×

छुटत कम्प नहिं रैन दिन, बिदित विदारति कोय।
अति शीतल हेमन्त की, अरी जरी यह तोय ॥

भूत-गुप्ता का बरवे में वर्णन देखिये—

अब नहिं तोहि पढ़ावों, सुगना सार।
परिगो दाग अधरवा, चोंच तुचार ॥ —रहीम

वर्तमान-गुप्ता का उदाहरण इस प्रकार से है:—

अलि हों जो गई जमुना जल को, सु कहा कहों बीर विपत्ति परी।
घनश्याम की कारि-घटा उनई, इतने ही में गागरि सीस धरी ॥
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो, कबि 'मण्डन' ह्वै के बिहाल गिरी।
चिरजीवहि नन्द को वारो अरी, गह बाँह गरीबनी ठाढ़ि करी ॥

× × × ×

चढ़त घाट बिचलो सु पग, भरी आन इन अंक।
ताहि कहा तुम तकि रही, या में कौन कलंक ॥

वर्तमान-गुप्ता का एक और उदाहरण देखिये:—

छूट जाय गैया कै बलैया चाट चाट जाय
कौन दुखदैया दैया सोच उर धारो मैं।
हौं ही जनवैया औ घरैया निज सैया तरै
कहों जो कन्हैया हास होयगो विचारयो मैं ॥
'ग्वाल' कवि हौले को अवैया निरदैया यही
आज या समैया ओट पैंया गहि पारयो मैं।

मैया को बुलाओ या कन्हैको करैगो हाल
दधि को चोरैया मैया पकरि पछार्‌यों मैं ॥
—ग्वाल कवि।

यहाँ पर वर्तमान-स्थिति की व्याख्या कर दी है—

भविष्य-गुप्ता का उदाहरण इस प्रकार है—

आजु ते न जैहों दधि बेचन दोहाई खाँउ,
मैया की, कन्हैया उतै ठाढोई रहत है।
कहै 'पद्माकर' त्यों सांकरी गली है अति,
इत-उत भाजिबे को दाउँ ना लहत है ॥
दौरि दधि-दान काज ऐसो अमनैक तहाँ,
आली बनमाली आइ बहियाँ गहत है।
भादों सुदी चौथ को लख्यौरी मृग अङ्क याते
झूठहु कलङ्क मोहि लगन चहत है ॥

नायिका जानती है कि उसे कलंक लगने वाला है और उस कलंक का वास्तविक आधार छिपा कर लोगों के इस विश्वास में, कि चौथ के चन्द्रमा को देखने वाले को कलंक लगता है, आश्रय लेती है।

कीच भरी कल क्यारिन मैं सुक सारिक तेन कछू भय पानौं।
कंटक वेलि बिसालन सों, तरु जाल बितान जहाँ उरझानौं ॥
संग न मोर सखी चलिहै, निज हाथनि हैं, चुनि नेम निभानौं।
प्रात - प्रसून गिरीश चढ़ावन, आज भटू मोहि बागहि जानौं ॥

विदग्धा

विदग्धा का अर्थ चतुरा का है। जो चतुराई से अपना कार्य्य करती है वह विदग्धा नायिका कहलाती है। जहाँ वचनों

वचनों की चतुराई से कार्य्य की सिद्धि होती है वहाँ नायिका वचन-विदग्धा कहलाती है, और जहाँ वचन के स्थान में क्रिया से काम लिया जावे वहाँ पर नायिका क्रिया-विदग्धा कहलावेगी।

इसका लक्षण इस प्रकार से है—

वचनन की रचनान से, जो साधे निज काज।
वचन विदग्धा नायिका, ताहि कहत कविराज॥
जो तिय साधे काज निज, करि कछु क्रिया सुजान।
क्रिया विदग्धा नायिका, ताहि लीजिये जान॥

वचन-विदग्धा का उदाहरण—

कल करील की कुञ्ज में, रह्यो उरझि मो चीर।
ये बलबीर अहीर के, हरत न क्यों यह भीर॥
कनकलता श्रीफल फरी, रही बिजन बन फूल।
ताहि तजत क्यों बावरे, अरे मधुप मत भूल॥—पद्माकर।

एक और उदाहरण देखिये—

हौं तो आज घर तें निकरि कर दोहनी लै,
खरक गही तो जान औसर दुहारी को।
दूरि रह्यो गेह उनै आयो अति मेह महा,
सोच है रसाल नई चूनरी की सारी को॥
हाहा रंग राखि लीजै ढीले जिन कीजै लाल,
ऐसो नहिं पैहो हाय औसर अवारी को।
आनि कै छिपैये सुन कुँवर कन्हैया दैया,
कहा घटि जैहै कारी कामरी तिहारी को॥

यहाँ व्यङ्ग द्वारा अभिलाषा प्रकट कर दी गई है। नीचे के दोहे में देखिये कि नायिका कितने विदग्ध शब्दों में अपनी अभिलाषा प्रकट करती है—

घाम घरीक निबारिये, कलित ललित अलि पुञ्ज।
जमुना तीर तमाल तरु, मिलति मालती कुञ्ज॥

इसमें यह दोहा उन उदाहरणों में आता है जहाँ पर कि व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ को दबा लेता है। साधारणतया तो इसमें नायक से दोपहर में घड़ी भर विश्राम लेने की प्रार्थना की जाती है, किन्तु इनके शब्दों द्वारा नायिका अपना अभीष्ट सिद्ध करती है। वह अपना सहेट स्थान बतला देती है। उस स्थान की उत्तमता का पूर्ण रूप से निश्चय करा देती है। यमुना का तीर होने के कारण वह शीतल है। तमाल तथा मालती के मिल जाने से अति सघन और अन्य लोगों की दृष्टि के लिवे दुर्भेद्य है। अलि के समूह ने उसकी सघनता को और भी वृद्धिङ्गत कर दिया है; और उनकी गुञ्जार से प्रेमालाप की ध्वनि अन्य पुरुषों तक न पहुँच सकेगी। अलि के मधुपान करने से एवं मालती और तमाल के मिलने से नायक-नायिका के मिलन की इच्छा प्रगट कर दी गई है।

स्वयं-दूतिका भी वचन-विदग्धा से मिलती जुलती है। वचन-विदग्धा और स्वयं-दूतिका दोनों ही अपनी वाक्-विदग्धता से लाभ उठाती हैं; किन्तु उन दोनों में थोड़ा अन्तर है। वह यह है कि वचन-विदग्धा अपने परिचित नाम से विदग्धा-वचनों द्वारा अपनी अभिलाषा प्रकट कर देती है। उसका चातुर्य इस बात में है कि उसकी बात को केवल नायक समझ ले और दूसरा न समझ सके। स्वयं-दूतिका का कार्य्य कुछ कठिन होता है। उसको अपरिचित मनुष्य को समझा कर उसका भय आदि

दूर करके उसको अभिलाषा पूर्ति के लिये प्रस्तुत करने का उद्योग करना पड़ता है। दूतत्व की वहाँ आवश्यकता है जहाँ परिचय नहीं होता। स्वयं-दूतिका का उदाहरण इस प्रकार है—

तीरथ नहान मेरे घर के गये हैं सब,
मेरे आइबे को हमें काहू सों न कहने।
गाढ़ो परे, ठाढ़ो ढिग देहै ना बटोही तोहिं,
लोग निरमोही ह्याँ परैंगी बातें सहने॥
साजिये रसोई ह्याँ बिराजिये 'प्रबीन-बेनी'
लाजिये न माँगत कछु जो तुम्हैं चहने।
द्वारे रामसाला है पिछारे बनमाला है,
हवेली परी आला है अकेली मोंहि रहने॥

क्रिया-विदग्धा का उदाहरण—

बैठी तिया गुरु-लोगन मैं रति सों अति सुन्दर रूप बिसेखी।
आयो तहाँ 'मतिराम' सुजान मनोभव सों बढ़ि कांति उरेखी॥
लोचन रूप पियोई चहैं अरु लाजनि जाति नहीं छबि पेखी।
नैनन नाय रही हिय-माल में, लाल की मूरति लाल में देखी॥

यहाँ पर नायिका अपने प्रियतम को दृष्टिभर देखना चाहती है किन्तु लाजवश उसकी ओर नहीं देख सकती अतएव उसने नीचे को निगाह डाल कर अपनी माला की मणि में प्रियतम का प्रतिबिम्ब देख लिया।

एक और उदाहरण देखिये—

सखी सुख दैन स्याम सुन्दर कमल नैन,
मिस के सुनाए बैन देखि पुरजन में।
सेनापति पीतम की सुनत सुधा सी बैन,
उठि धाई बाम धाम काम छाड़ि छिन में॥

छबि कैसी छटा काम कैसी घटा आई,
झांकि चढ़ि अटा पागी जोबन मदन में ।
तजि सीस बसन सुधारिबे को मिस करि,
कीनो पाय लागन सों लाग रहो मन में ॥

करि गुलाल सों 'धुंधरित', सकल ग्वालिनी ग्वाल ।
गोरी मीडन के सुमिस, गोरी गहे गुपाल ॥

इसमें नायिका का वैदग्ध्य इस बात में है कि अन्य उपस्थित लोगों के समक्ष में गोपाल का हाथ ग्रहण कर लिया और दूसरों के लिये अपने को अगोचर बना दिया ।

लक्षिता उसे कहते हैं जिसका कि प्रेम दूसरों पर लक्षित हो जावे । लक्षिता का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

होत लखाई सखिन को, जाको प्रिय सो प्रेम ।
ताहि लक्षिता कहत हैं, कवि कोविद करि नेम ॥

लक्षिता दो प्रकार की होती हैं । (१) हेतु-लक्षिता (२) सुरत-लक्षिता ।

(१) हेतु-लक्षिता—

जौन मनावत तो कहि 'तोष' सुतौन बनाय दियो विधि जोटैं ।
चन्द्रमुखी यह फन्द लख्यो, तबते मन मेरो अनन्द की मोटैं ॥
लालन को मुख लच्छि करै, दुरि मारती तीर कटाक्ष की चोट ।
भीरन तै निवहै न दगा भली भू-भज लेत क्यों भूत की मोटैं ॥
—"तोष"

(२) सुरत-लक्षिता—

नटि न सीस साबित भई, लुटी सुखन की मोह ।
चुप करिये चारि करत, सारी परो सरोह ॥

मो सों मिलवत चातुरी, तू नहिं मानत भेव।
कहे देत यह प्रगट ही, प्रगटो पूस पसेव ॥–बिहारी।

इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि "हेतुलक्षिता" में नायिका का केवल प्रेम ही अनुमान द्वारा लक्षित किया जाता है। 'सुरतिलक्षिता' में सुरति के चिह्न स्पष्ट होते हैं और उनके द्वारा उसकी सुरति सहज ही में लक्षित हो जाती है, वह छिपाने का चाहे जितना प्रयत्न करे। अँग्रेजी में एक मसल है "Love and smokc caunever be hidden" अर्थात् प्रेम और धुँआँ छिपाये नहीं छिपता। लक्षिता में प्रायः लज्जा, हर्ष और गर्व के भाव मिले हुए रहते हैं।

कुलटा

जो नायिका बहुत से नायकों को चाहती है उसे कुलटा कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

जो चाहति बहु नायकनि, सरस सुरति पर प्रीति।
ता सों कुलटा कहत हैं, कवि ग्रन्थन की रीति॥

इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

मोह मधुर मुसकानि सों, सबै गाँव के छैल।
सकल सैल, बन कुंज में, तरुनि सुरति की सैल॥
—मतिराम

इसका एक उदाहरण और देखिये:—

गैल में छैलन आवत जानि के, झांकि झरोखन रीझ रिझावै।
चंचल अंचल डारे रहै, अंगिराय अनूप-सरूप दिखावै॥
मोहति है मुरि के मुसकान में कोयल ज्यों कल बैन सुनावै।
लाइ टिको ललचाय चितै अट की नटकी गति मैन चलावै॥

कुलटा एवं गणिका दोनों ही बहु-नायकनिष्ठा होती हैं। उनमें भेद इतना ही है कि कुलटा अपनी काम-वासना के प्राबल्य के कारण बहु नायकों को चाहने लगती है। कुछ गणिकाओं में कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती जितनी कि धन की कामना होती है।

जो नायिका अपने संकेत-स्थान नष्ट होने से दुःखित होती है और भविष्य के संकेत निश्चित करने के लिये चिंतित होती है अथवा जो यह जान कर कि नायक संकेत-स्थल पर पहुँच गया तथा वह न पहुँच सकी यह जानकर जो दुःखित होती है, उसको अनुशयना कहते हैं। ऊपर की—व्याख्यानुकूल, अनुशयना तीन प्रकार की होती हैं।

(१) प्रथमानुशयना (२) द्वितीयानुशयना (३) तृतीयानुशयना।

प्रथमानुशयना का उदाहरण :—

सौत संयोग न रोग कछु, नहिं वियोग बलवन्त।
ननद दूबरी होत क्यों, लागत ललित बसन्त॥

—पद्माकर

वसंत ऋतु में पतझड़ हो जाने के कारण वन की सघनता नष्ट हो जाने की आशङ्का से दुःखित होती है।

द्वितीयानुशयना का उदाहरण :—

केलि करैं मधु मत्त जहँ, घन मधुपन के पुञ्ज।
सोच न कर तुव सासरे, सखी! सघन बन कुञ्ज॥—मतिराम

बेलिन सों लपटाय रही है, तमालन की अवली अति कारी?
कोकिल-केकी कपोतन के कुल, केलि करैं जहाँ आनन्द भारी॥

सोच करो जिन होतु सखी, मतिराम प्रवीन सबै नर-नारी ?
मंजुल बंजुल कुंजन में, घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी ॥

तृतीयानुशयना का उदाहरण :—

छरी सपल्लव लाल कर, लखि तमाल की हाल ।
कुम्हिलानी उर साल धरि, फूल-माल सी बाल ॥—मतिराम ।

नायक के हाथ में तमाल की पल्लवसहित छड़ी देख कर नायिका यह अनुमान करती है कि नायक सहेट-स्थल पर हो आया, इससे वह दुःखित होती है ।

मुदिता

जो अपने मन का-सा साज-सामान देख अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति की सुखाशा से मुदित होती है, वह नायका मुदिता कहलाती है ।

सुनत लखत चित चाह की, बात भांति अभिराम ।
मुदित होय जो नायिका, ता को मुदिता नाम ॥

प्रसन्न होना सौंदर्य का एक प्रधान अङ्ग है । प्रसन्नता अन्तरस्थ उमंग की सूचक होती है । वह उमंग सब परिस्थितियों को अनुकूल देख प्रकट हो जाती है ।

स्त्रियों के आचार नष्ट हो जाने के कई कारण होते हैं, उनमें से यौवन की प्रशंसा की इच्छा, विलास-प्रियता, दुष्ट-स्त्रियों की कुसङ्गति तथा पति से यथेष्ट प्रेम की प्राप्ति न होना यह मुख्य कारण हैं । जिस प्रकार स्त्रियाँ पुरुष को कुपन्थ में ले जाने के दोषी ठहराई जाती हैं उसी प्रकार वरन् उससे भी अधिक अंश में स्त्रियों को कुमार्गगामिनी बनाने के लिये पुरुष अपराधी हैं । स्त्रियाँ प्रारम्भ में इतनी अग्रसर नहीं होतीं जितने कि पुरुष । एक

बार पुरुषों द्वारा नैतिक-पतन हो जाने के पश्चात् उनकी स्वाभाविक लज्जा का ह्रास हो जाता है। कुलवती स्त्रियों को उपरोक्त कारणों से बचने का प्रयत्न करना चाहिये और पुरुषों को उनका आदर, हितचिन्तन एवं आवश्यकता पूर्ति का पूर्णतया ध्यान रखना चाहिये। स्त्रियों का कुलाचार जितना कि परदा और शासन के अभाव से नष्ट नहीं होता जितना कि पति की अवहेलना से। उपरोक्त कारणों के होते हुए अधिक विषयासक्ति-पूर्ण-साहित्य तथा अनियमित नाटक तथा सिनेमा आदिकों का भी दुष्ट प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों के अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि स्त्री वा पुरुषों में कामेप्सा का आधिक्य मस्तिष्क की एक बीमारी के कारण होता है। पुरुषों में यह बीमारी Saty. riasls (सेठीरिएसिस) और स्त्रियों में Nyxphornania (निनफोमेनिया) अर्थात् कामोन्माद कहलाती है। इस अवस्था में विषय-वासाना पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।

मुदिता के उदाहरण देखिये :—

वृन्दावन बीथिन बिलोकन गई ही जहाँ,
राजत रसाल वन तालरू तमाल को।
कहैं 'पद्माकर' निहारत बन्योई तहाँ,
नेहिन को नेम प्रेम अद्भुत ख्याल को॥
दूनो-दूनो बाढ़त सु पूनों की निशा में अहो,
आनंद अनूप रूप काहू ब्रज बाल को।
कुंजतें कहूँ को सुनो कंत को गमन लखि,
आगमन तैसो मनहरण गुपाल को॥

—पद्माकर।

सासु गई सदन सकारे तनया के इतै,
ननद नवेली हू प्रयाग जू के मेले में।
पति तो गयौई हुत्यो पहिले ही पूरब को,
टाँड़ो लादि वैभव विसेप के झमेले में॥
कहै 'चिरजीवी' आछो औसर विचारि उर,
उफनि मृगी लौं मैन मद के सुरेले में।
फूली फिरै गात ना समात कुच कंचुकी मैं,
कामिनि अकेली आज कुंजन अकेले में॥

—चिरजीवी।

मुदिता का नाम सार्थक है प्रायः अभिलाष पूर्ति के लिये सब चिरस्थायी सामग्री मन के अनुकूल नहीं मिलती और जब मिल जाती है तब आनन्द की सीमा नहीं रहती। मुदिता नायिका की वैसी ही हर्ष और उल्लासमयी मानसिक स्थिति होती है जैसी कि किसी निराश व्यक्ति को आशा की झलक प्राप्ति होने से। पति के बाहर जाने पर उप-पति के मिलने की आशा जन्य-प्रसन्नता का मतिराम जी इस प्रकार वर्णन करते हैं। निम्नोल्लि-खित दोहे में अश्रु सुख और दुख दोनों हो के अनुभाव बताए गए हैं। देखिये,

बिछुरत रोवत दुहुन कौ, सखि यह रूप लखै न।
दुख-अँसुवा पिय-नैन हैं, सुख-अँसुवा तिय-नैन॥

गणिका

गणिका और वारवधूओं की संस्था प्रायः प्रत्येक देश तथा काल में रही हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान सभ्यता के नियम तथा कानून के कठिन शासन में भी इसका

विस्तार दिन दूना रात चौगना बढ़ता जाता है। यूरोपीय देशों में जिस प्रकार बालिकाओं का क्रय-विक्रय-व्यवसाय (White slave traffic) बढ़ता जा रहा है यह अत्यन्त शोचनीय है। इसके व्यवसाय करनेवाले कानून को धोखा देने में बहुत पटु हैं। स्त्रियों के कुलाचार भ्रष्ट होने के कारण जो कुलटाओं के सम्बन्ध में बतलाए गए थे वही प्राय: गणिकाओं के सम्बन्ध में समझना चाहिये। उनके अतिरिक्त निर्धनता और सामाजिक बन्धन और दो मुख्य कारण हैं। जहाँ विलास-प्रियता की साधना एवं कभी कभी साधारण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी आने लगती है वहाँ पर सुन्दर स्त्रियों को अपने शरीर के व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य सहज उपाय नहीं रहता। समाज में निर्धन साध्वी स्त्रियों का यथोचित आदर न होने के कारण उनको गार्हस्थ्य जीवन से अश्रद्धा हो जाती है और वे कुमार्ग-गामिनी बन जाती हैं। यदि किसी परवशता के कारण कोई स्त्री आचार-भ्रष्ट हो गई तो हमारा समाज इतना उदार नहीं है कि उसको पश्चाताप करने पर समाज में मिलाकर उसकी भावी धर्म-रक्षा में सहायक बने। समाज के नेताओं को समाज से व्यभिचार उठाने के अर्थ धनाभाव के कारणों के निराकरण एवं कुल-स्त्रियों का आदर और गौरव बढ़ाने का उद्योग करना चाहिये। वेश्याओं के सुधार के सम्बन्ध में मुं० प्रेमचंद का 'सेवा-सदन' पढ़ने योग्य है। गणिकाओं में प्रीति, रस का उत्पादक नहीं होती वरन् रसाभास की। प्रीति का मूल्य केवल प्रीति हो सकती है। वह धन से नहीं खरीदी जा सकती। धन से खरीदी हुई चिरस्थायिनी नहीं हो सकती। प्रेम में जो

व्यक्तित्व का प्रश्न रहता है वह गणिका के सम्बन्ध में नहीं रहता। धन के साथ व्यक्तित्व का प्रश्न नहीं आता और न उसमें दोनों ओर से आत्म-समर्पण का आनन्द रहता है। अब गणिकाओं का साहित्यिक वर्णन देखिये :—

गणिका का लक्षण ऊपर दे चुके हैं गणिका और कुलटा दोनों ही के बहुनायक होते हैं, किन्तु गणिका के प्रेम का आधार केवल धन में ही होता है।

यथा गणिका का उदाहरण—

लाल कर चरन रदन-छद, नख लाल,
मोतिन की रदन रही है छबि छाइकै;
कवि 'मतिराम' मुख सुबरन रूप रहि,
रूप-खानि मुसकानि सोभा सरसाइकै॥
आनन को इन्दु जान, आँखें अरविन्द मान,
इन्दिरा रजनि-दिन रहति सिहाइ कै।
नायक नवल क्यों न देय धन-मन ऐसे ?
सुतनु को सुतनु अतनु-धन पाइकै॥

मतिराम,

तन सुवरन सुवरन वसन, सुवरन उकति उछाहु।
धनि सुवरन में ह्वै रही, सुवरन ही की चाहु॥

साहित्य में गणिकाएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं, देखिये:—

आप होय बस धन हित जो पति संग।
ताहि स्वतंत्रता भाखत बुद्धि उतंग॥
जन अधीन धन चाहे जो पति प्रीति।
जन आधीना भाखत सुकवि सप्रीति॥

बैठि रहै पति घर में धन हित बाल।
नियमा ताहि बखानत सुकवि रसाल ॥

एक उदाहरण और देखिये :—

तन सुबरन सुबरन बसन, सुबरन उकति उछाह।
धन सुबरन में ह्वै रही, सुबरन ही की चाह ॥

नायिकाओं के कई प्रकार से भेद किये गए हैं। उनमें-से मुख्य-मुख्य यहाँ पर दिये जाते हैं।

अन्य सम्भोगदुःखिता

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है :—

प्रीतम प्रीति प्रतीत जो, और तिया तन पाय।
दुखित होय सो दुःखिता, बरनत कबि समुदाय ॥

उदाहरण

बोलत न काहे एरी पूछे बिन बोलों कहा,
पूछति हौं कहां भई खेद अधिकाई है।
कहै 'पद्माकर' सुमारग ते गये आये,
साँची कह मोसों आजु कहाँ गइ आई है ॥
गई आई हों तो पास साँवरे के कौन काज,
तेरे लिये ल्यावन सुतेरिय दुहाई है।
काहे ते न ल्याई फिर मोहन बिहारी जू को,
कैसे बाहि ल्याऊँ जैसे वाको मन ल्याई है ॥

धनि धनि सखि मोहि लागि तू, सहे दसन नख देह।
परम हितू है लाल सों, आई राखि सनेह ॥
'दास'

खण्डिता में और अन्यसम्भोगदु:खिता में केवल इतना ही अन्तर है कि खण्डिता में नायिका पति को रति के चिह्न से अङ्कित देख कर मान करती है और अन्य-सुरति-दु:खिता, अन्य स्त्री में अपने पति के साथ सम्भोग चिह्न देख कर दु:खित होती है इसका दु:ख और क्रोध खंडिता से अधिक तीव्र होता है क्योंकि खंडिता प्रियतम पर इतना क्रोध नहीं कर सकती है जितना कि अपनी प्रतिद्वंद्विनी स्त्री पर। सम्भोग दु:खिता का एक और उदाहरण देखिये।

गई साँझ समै की बदी बदि के बड़ी बेर भई निसा जान लगी।
कवि मन्य जू जानी दगैलन छैलन छैल की छाती निदान लगी॥
अब कौन को कीजे भरोसो भटू निज बारिये खेतिये खान लगी।
अति सूधे बोलायबे की बतिया नहिं जानिबे काधों बतान लगी॥

मानिनी

जो नायिका अपने पति से रुष्ट हो कर मान करती है उसको मानिनी कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

कछू ईर्षा दोषतें, पिय सों रहै रिसाइ।
सबै नाइकन में सोई, मानवती ठहराइ॥

इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सो मनमोहन होत लटू मुख, जाके भटू! विधु की छबि छाजै;
खोल कै नैनन देखैं जो नेक हो, स्याम सरोज-पराजय साजै।
जो विहँसे मुख सुन्दर तो 'मतिराम' विहान को बारिज लाजै।
बोले अली मृदु मंजुल बोल तो, कोकिल-बोलनि को मद भाजै॥
—'मतिराम'।

धीरादि भेद में भी नायिका मानवती होती है किन्तु वह विभाग उपालम्भ और अपराधी पति के प्रति वाक्-दण्ड की तीव्रता पर। गर्विता दो प्रकार की मानी गई हैं। (१) प्रेम-गर्विता (२) रूप-गर्विता है। एक और भी मानी गई है और वह है गुण-गर्विता।

जो अपने पति के प्रेम पर विश्वास और गर्व रखती है वह प्रेम-गर्विता कहलाती है। वह अपने पति के प्रेम का गौरव रखती है। उस गौरव के वश वह यह नहीं समझ सकती कि उसका नायक उससे कोई अपराध करेगा। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है :—

> सपनेहू मन भामतो, करत नहीं अपराध।
> मेरे जिय में ही रही, सखी मान की साध॥

इसमें यह बात दिखाई है कि नायिका अपने प्रीतम में इतना विश्वास रखती है कि वह यह नहीं समझ सकती है कि पति उसके साथ कोई वास्तविक अपराध कर सकता है। नायिका का नाराज़ होना नायक के किसी अपराध के कारण नहीं हुआ वरन् उसके मन में मान रखने की आ गई थी।

रूपगर्विता

रूपगर्विता उस नायिका को कहते हैं जिसको रूप का गर्व हो। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है :—

> न्हातई न्हात तिहारई स्याम कलिन्दियो स्याम भई बहुतै है,
> धोखे हू धोय हों या में कहूँ तो यहै रंग सारिन में सरसै है।

सांवरे अंग को रंग कहूँ यह, मेरे सु·अंगन में लगि जैहै,
छैल छबीले छुओगे जो मोहिं तो, गात न मेरे गुराई न रैहै ॥

ज्ञातयौवना तथा रूपगर्विता में यह अन्तर है कि ज्ञातयौवना को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि उसका यौवनागम हो गया है एवं रूपाधिक्य के कारण उसे एक प्रकार का अभिमान हो जाता है। वह अपने रूप के आगे न तो नायक के रूप को कुछ समझती है और न अन्य नायिका के।

गुणगर्विता का देवजी ने इस प्रकार उदाहरण दिया है :—

आँखिन मैं पुतरी ह्वै रहै हियरा मैं हरा ह्वै सबै सुख लूटै।
अंगन संग बसै अंगराग ह्वै जीवते जीवन·मूरि न छूटै॥
'देवजू' प्यारे के न्यारे नरी गुन मो मन मानिक ते नहि टूटै।
और तियासों ततों बतिया करैं मो छलिया सों छिनौ जब छूटै॥

गुणगर्विता का एक और उदाहरण देखिये :—

हावनि भावनि भावनि भाव अनूप।
मोंहि लेहु पिय पल में कला सरूप॥

दश-विधि नायिका

नायिकाओं के दस और मुख्य भेद हैं वे इस प्रकार से हैं। ये भेद स्वकीया, परकीया, सामान्या सभी में पाये जाते हैं।

(१) प्रोषितपतिका (२) खण्डिता (३) कलहान्तरिता (४) विप्रलब्धा (५) उत्कण्ठिता (६) वासकसज्जा (७) स्वाधीनपतिका (८) अभिसारिका (९) प्रवत्स्यत्पतिका (१०) आगतपतिका।

जिस नायिका का पति विदेश चला गया हो उसे प्रोषित-पतिका कहते हैं। यह विभाग प्रवास से सम्बन्ध रखता है।

और नायिकाएँ प्रायः संयोग शृंगार से सम्बन्ध रखती हैं, यह वियोग से। प्रोषितपतिका के साथ ही प्रवत्स्यत्पतिका तथा आगत-पतिका का भी वर्णन कर दिया जावेगा। प्रवत्स्यत्पतिका की भाँति आगमिष्यत्पतिका भी एक नायिका मानी गई है। प्रोषित-पतिका वह है जिसका पति विदेश चला गया हो। प्रवत्स्यत्पतिका वह है जिसका पति विदेश जाने वाला हो। आगतपतिका वह है जिसका पति लौट आया हो। आगमिष्यत्पतिका वा आगम-पतिका वह है जिसका पति आने वाला हो।

पहले काल-क्रम से प्रवत्स्यत्पतिका का वर्णन किया जाता है। इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

होनहार पिय के विरह, विकल होय जो बाल।
ताही प्रच्छति प्रेयसी, बरनत बुद्धि विसाल॥

इसके उदाहरण इस प्रकार से हैं:—

जा दिन तें चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन ते वाके पियराई तन छाई है।
कहै "मतिराम" छोड़े भूषण, बसन, पान,
सखी सौं खेलनि, हँसनि बिसराई है॥
आई ऋतु सुरभि, सुहाई प्रीति वाके चित,
ऐसे में चलो तो लाल रावरी बड़ाई है।
सोवत न रैन दिन, रोवति रहति बाल,
बूझेते कहत मायके की सुधि आई है॥

तोषजी का उदाहरण बहुत ही उत्तम है। उसमें नायक-नायिका दोनों का ही वर्णन आ गया है। इधर नायिका के चित्त में भावी विरह का दुःख (वह मानों विरह के हाथ बिकी ही

जाती है) और उधर नायक को बाहर के काम का सङ्कोच है। बिना बाहर गये कार्य नहीं होता और बाहर जाने से घर में रोना धोना मचता है। ऐसी अवस्था में नायक जाल में फँसे हुए हिरण की भाँति हो जाता है। देखिये:—

चाह्यौ चल्यौ कहि 'तोष' सुप्रीतम तो हिय के दुःख जात न आँके।
छोर पिताम्बर को गहि कै कहि यों अँसुवा अँखिया भरि ताके॥
नाथ बिना तकसीर हहा हमैं बेचिये हाथ कहा बिरहा के।
बन्द भयो चलिबो हरि को हरिना ज्यों फँदो परि फँद फँदा के॥

नायक के सबेरे जाने की चिन्ता में एक नायिका हाथ मलती है। नायक पूछता है कि "हाथ क्यों मलती हो?" उत्तर देती है कि "आप की रेख मिट जावे।" देखिये:—

बात चली चलिबे की जहाँ, फिर बात सुहानी न गात सुहानी।
भूषन साज सकै कहि को, महाराज गयो छुटि लाज को पानी॥
दोऊ कर मीजति है बनिता, सुनि प्रीतम को परभात पयानी।
आपने जीवन को लखि अंत, सो आयु की रेख मिटावत मानी॥

प्रवत्स्यत्पतिका के सम्बन्ध में कुछ चुने हुए दोहे यहाँ पर दिये जाते हैं:—

सुन्यो सखिन ते ससि-मुखी, बलम जाहिंगे दूरि।
बूझयो चहति बियोगिनी, जिय ज्यावन की मूरि॥

ज्यों ज्यों लालन चलन की, आत घरी नियरात।
त्यों त्यों तिय मुख चन्द की, ज्योति घटत सी जात॥

सजन सकारे जाएँगे, नैन परैंगे रोय।
बिधिना ऐसी रैन कर, भोर कभी ना होय॥

बामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस ।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेश ॥

सब स्त्रियाँ ऐसी नहीं होतीं जो अपने पति के काम में बाधा डालें । वह अपने स्वार्थ के लिये अपने पति की हित-हानि नहीं करना चाहतीं, किन्तु इसके साथ उनको दुःख उतना ही होता है जितना कि अन्य स्त्रियों को । एक नायिका से नायक बिदा माँगने आया । वह कहती है कि यदि मैं कहूँ आप जाइये, तो यह प्रेम के विरुद्ध है । मेरा प्रेम तो यही चाहता है कि आप सदा मेरे पास ही बने रहें । यदि मैं कहूँ आप ठहरिये, तो आप के हित की हानि होती है । यदि मैं ऐसा कहूँ कि जैसा आपके मन में आवे, कीजिये तो उदासीनता प्रगट होती है तो इससे नाथ, आप ही बतलाइये कि मैं क्या कहूँ ? देखिये :—

जो हौं कहौं रहिए तो प्रभुता प्रगट होत
चलन कहौं तो हित हानि नाहिं सहनो ।
भावै सो करहु, तो उदास भाव प्राननाथ,
साथ लै चलहु कैसे लोक लाज बहनो ॥
'केशोदास' की सो तुम सुनहु छबीले लाल,
चलेही बनत जो पै नाहीं राज रहनो ।
जैसियै सिखाओ सीख तुम ही सुजान प्रिय,
तुम ही चलत मोंहि जैसो कछु कहनो ॥

प्रोषितपतिका

प्रोषितपतिका का इस प्रकार लक्षण दिया गया है :—

जाको पिय परदेस में, बिरह बिकल तिय होय ।
प्रोषितपतिका नायिका, ताहि कहत सब कोय ॥

इसके उदाहरण रस प्रकार हैं :—

बालम विरह जिन जान्यो न जनम भरि,
जरि-जरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफ राति।
बीजन डुलावति सखीजन त्यों सीतही में,
सौतिके सराय तन तापनि तरफराति॥
'देव' कहैं साँसनि सों अँसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति।
लोटि-लोटि परति करौट खटपाटी लै लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पै फरफराति॥

पत्रों का महत्व प्रोषितपतिका के सम्बन्ध में प्रायः वर्णित किया जाता है।

किसी मुग्धा प्रोषितपतिका का कैसा अच्छा वर्णन है। देखिये:—

भरति उसासन दृग भरति, करत गेह को काज।
पल पल पर पीरी परति, परी लाज के राज॥

विरहावस्था में सभी बातें एवं वस्तुएँ बुरी लगने लगतीं हैं। देखिये:—

वे ही कदम कलिंदजा, वे ही केतकि पुंज।
सखि लखिये घनस्याम बिन, सब में पावक पुंज॥

आगमिष्यत्पतिका

जिसका पति आने वाला हो उसको आगमिष्यत्पतिका कहते हैं। पति के आने की खबर पाते ही नायिका की अवस्था का देवजी ने क्या ही अच्छा वर्णन किया है।

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की,
सुनि कोरि-कोरि रस भामिनी भरति है।
मोरि-मोरि बदन निहारति बिहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनँद घरी-सी उघरति है॥
'देव' कर जोरि-जोरि बँदत सुरन गुरु,
लोगनि के लोरि-लोरि पायनि परति है।
तोरि-तोरि माल पूरे मोतिनि की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है॥

बाँह फरकने से जो पिय आगमन की शुभ सूचना हुई इससे नायिका कहती है कि पहिले बाँई भुजा से ही भेंट करूँगी।

बाम बाहु फरकत मिलै, जो हरि जीवन भूरि।
तो ताही सों भेंटि हौं, राखि दाहिनी दूरि॥

देखिये कौए तक की मिन्नत मनाई जाती है:—

पैजनी गढ़ाइ चोंच सोने में मढ़ाइ दैहौं,
कर पर लाइ पर रुचि सों सुधारि हौं।
कहै कवि 'तोष' छिन अटक ने लैहौं कबौं,
कञ्चन कटोरे अटा खीर भरि धरि हौं॥
ऐरे कारे काग तेरे सगुन संयोग आज,
मेरे पति आवैं तो वचन ते न टरि हौं।
करती करार तौन पहिले करौंगी सब,
आपने पिया को फिरि पीछे अङ्क भरि हौं॥

प्रतीक्षा में एक पल भारी पड़ जाता है उसका उदाहरण लीजिये:—

जदपि तेज रौहाल बल, पालकौ लगी न बार।
तउ गैंड़ो घर को भयो, पैंड़ो कोस हजार॥

घर के आते-आते बरामदे में जो अन्य लोगों के मिलने में देर हुई उस अधीरता का वर्णन सुनियेः—

रहे बरोठे में मिलत, पिय आनन के ईसु।
आवत आवत की कई, विधि की घरी घरी सु॥

अब आगतपतिका के वास्तविक मिलन का हाल देखियेः—

बिछुरे जिस संकोच यह, बोलत बैन न बैन।
दोऊ दौरि लगे हिये, किये निचौहे नैन॥

प्रान पियारो मिलो सपने में, परी जब नेसुक नींद निहोरे।
नाह को आइबो त्योंही जगाय, कहे, सखि बैन पियूष निचोरे॥
यों 'मतिराम' बध्यो जिय में, सुख बालि के बालम सों दृग जोरे।
ज्यों पट में अति ही चमकीलो, चढ़ै रंग तिसरी बार के बोरे॥

खण्डिता

जिसका पति अन्य किसी स्त्री के साथ रति करने आया हो और रति के चिह्नों को देखकर नायिका ने रति का अनुमान कर लिया हो और उसके ऊपर कोप प्रगट किया हो, ऐसी नायिका को खण्डिता कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार दिया है।

पिय-तन औरे नारि के, रति के चिह्न निहारि।
दुखित होय सो खण्डिता, बरनत सुकवि सुधारि॥

उदाहरण देखियेः—

खाये पान बीरीसी बिलोचन बिराजे आज,
अञ्जन अँजाये अधराधर अमी के हैं।
कहै 'पद्माकर' गुनाकर गुविन्द देखो,
आरसी लै अमल कपोल किनपीके हैं॥

ऐसो अवलोकि वेई लायक मुखारविन्द,
जाहि लखि चन्द्र अरविन्द होत फीके हैं।
प्रेम रस पागि जागि आये अनुराग याते,
अब हम जानी कै हमारे भाग नीके हैं॥

× × × ×

देवजी का एक उदाहरण देखिये:—

सेज सँवारि सुधारि सबै अंग आँगन के मग मै पग रोपै।
चँद की ओर चितौत गई निसि-नाह की चाह चढ़ी चित चोपै॥
प्रातहीं पीतम आये कहूँ बसि 'देव' कहीं न परै छबि मोपै।
प्यारे के पीक भरे अधराते उठी मनो कंपत कोप की कोपै॥

× × × ×

एक उदाहरण और देखिये:—

गात से गिरत फूले पलटे दुकूल सब,
कहू भाग जागे आज काहू बड़ भाग के।
अंजन अधर उर बीच नख रेख लाल,
जावक तिलक भाल लाग्यो दुति पाग के।
भौहैं अलसौहैं पल सोहैं पग पीक रंग,
राति जगे राते नैन भीजे अनुराग के।
लालन लजात सेज जम्हात विरुसात प्रात,
आलि उठि आये देखि देत पेंच पाग के॥

कलहान्तरिता

जो नायिका पति का अपमान कर अथवा उससे कलह करके पीछे से पश्चाताप करे वह कलहान्तरिता कहलाती है। जैसा कि नाम से प्रगट होता है कि (कलह के अन्तर जो रति

करे) यह भेद बहुत स्वाभाविक है। जहाँ प्रेमाधिक्य होता है वहाँ कलह की विशेष सम्भावना होती है। क्योंकि प्रेमाधिक्य के कारण दोनों ही एक दूसरे को अपने पथ पर चलाना चाहते हैं, यही कलह का मूल बन जाता है ऐसी ही कलह जो कि प्रेम-मूलक होती है रति अन्ता बन जाती है। इसका उदाहरण देखिये:—

बैरिनि जीभहि काटि करौं मन द्रोही को मींजि कै मौन धरौंगी।
जाने को 'देव', कहा भयो मोहि, लरी कहे लोक में लाज मरौंगी॥
प्रानपती सुख सर्वस वे उन सों, गुन रूप को गर्व करौंगी।
अञ्जुल जोरि निहारि गरे परि, हौं हरि प्यारे को पाँय परौंगी॥

विप्रलब्धा

विप्रलब्धा का लक्षण इस प्रकार है:—

आप जाय सङ्केत में, मिलै न जाको पीय।
ताहि विप्रलब्धा कहत, सोच करत अति जीय॥

उदाहरण:—

लख्यो न कन्त सहेट में, लख्यो नखत को राय।
नवल बाल को कमल सों, ज्यों सु बदन कुम्हलाय॥

× × × ×

सकल सिंगार साज संग लै सहेलिन को,
सुन्दरी मिलन चली आनन्द के कन्द कों,
कवि 'मतिराम' मग करति मनोरथनि,
पेख्यौ परजंक पै न प्यारे नंद नन्द कों।
नेह ते लगी है देह दाहन दहन गेह,
बाग को बिलोकि द्रुम बेलिन के बृन्द कों,

चँद को हँसत तब आयो मुख चन्द जब,
चन्द लाग्यो हँसन तिया के मुख चन्द कों ॥

उत्कण्ठिता

जो नायिका सङ्केत-स्थल में पहुँच कर नायक को न आया देख उसकी प्रतीक्षा करती है वह उत्कण्ठिता कहलाती है। उसके लक्षण और उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

आपु जाय संकेत में, पीव न आयो होय।
ताको मन चिन्ता करै, उत्का कहिये सोय ॥ मतिराम—
नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत, आये वन मालीन ॥ विहारी—

देवजी ने उत्कण्ठिता का बहुत ही अच्छा उदाहरण दिया है। देखिये:—

बास के किवार निसि नेसुक अबार भई,
हेरति सतार की निवारति सुदेहरी।
ऐके बाम सौति थाम सौध लेन धाई है,
पठाई चहुँ धाई एक ठाई द्वार देहरी ॥
झाँकति झरोखिन झुकति मुरझाति 'देव'
बेनी सुरझाव तिय लपटी सनेहरी।
जावक के रंग रपटी सी दपटी सी लपटी सी,
लालपटी झपटी सी काम केहरी ॥

× × × ×

मध्याउत्कण्ठिता का पद्माकर कृत एक उदाहरण देखिये:—

आए न कंत कहाँ यों रहे भयो भोर चहै निसि जाति सिरानी।
यों 'पद्माकर' बूझ्यो चहै पर बूझि सकै न सकोच की सानी ॥

धारि सकै न उतारि सकै न सु निहारि सिगार हिये हहरानी ।
सूल के फूलन के फर पै तिय फूल छरी सी परी मुरझानी ॥

वासकसज्जा

जो नायिका अपने नायक के स्वागतार्थ सब सामग्री सञ्चित कर रक्खे उसे वासकसज्जा कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है ।

साजि सैन भूषन बसन, सब की नजर बचाय ।
रही पौढ़ि मिस नींद के, दृग दुवार से लाय ॥

—पद्माकर ।

सब सिंगार सुन्दर सजै, बैठी सेज बिछाय ।
भयो द्रौपदी को बसन, बासर नाहिं बसाय ॥

—मतिराम ।

स्वाधीनपतिका

जिस नायिका के रूप-गुण के कारण उसका नायक उसके अधीन रहता है, वह स्वाधीनपतिका कहलाती है। उदाहरण देखिये :—

सुधा मधुर तेरौ अधर, सुन्दर सुमन सुगन्ध ।
पीव जीव को बंधु है, बन्धु जीव को बन्ध ॥

—मतिराम ।

तोषनिधि ने स्वाधीन पतिका का इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

आपुहिं बार पसारि सुधारि हमै अन्हवाइ दियो सुख दानी ।
नाइन के कर ते लै महावर मेरो लियो पग आपने पानी ॥

देन लगे कहि 'तोष' सो प्रीतम आइ गई ननदी अभिमानी।
तैसी कछु कहि जात नहीं अलि जैसी कछू हम आज लजानी ॥

× × × ×

स्वाधीनपतिका का एक और उदाहरण देखिये :—

फूलन सों बाल की बनाय गुही बेनी लाल,
भाल दीनी बेंदी मृगमद की असित है।
अंग-अंग भूषन बनाए ब्रजभूषन जू,
बीरी निज करसों खवाई कर हित है ॥
ह्वै के रस बस जब दैवे को महावर को,
सेनापति स्याम गह्यो, चरन ललित है।
चूम कर प्यारे को लगाय लई आँखिन सों
एहो प्रान प्यारे यह अति अनुचित है ॥

अभिसारिका

अभिसारिका का इस प्रकार लक्षण दिया गया है :—

पियहि बुलावै आप कै, आपहि पिय पै जाय।
तिनहि कहत अभिसारिका, जे प्रवीन कविराय ॥

मिलन हेतु प्राय: सहेट स्थान चुने जाते हैं। वहाँ पर या तो स्वयं नायिका जाती है या नायक को बुलाती है। ऐसी नायिका को अभिसारिका कहते हैं। नायिका जो सहेट स्थान में जाती है वह अपने को बड़े ख़तरे में डाल कर जाती है। उसे सदा यह भय लगा रहता है कि देख न ली जावे। इसमें कवि लोग इसी बात की चतुराई दिखलाया करते हैं कि नायिका कठिनाइयों के होते हुए भी सहेट स्थल में पहुँचने में सफल-मनोरथ हुई। अभिसारिका नायिका प्राय: परकीया होती है,

किन्तु स्वकीया अभिसारिका भी होती हैं। उनको भी लाज-वश इस बात का भय रहता है कि कहीं देख न ली जावें। पद्माकर का निम्नोल्लिखित पद्य देखिये :—

किंकिनि छोर छिपाये कहूँ, कहुँ बाजति पायल पाँयते नाई।
त्यों 'पद्माकर' पातहु के, खरके कहुँ काँपि उठै छबि छाई॥
लाजहिं ते गड़ि जाति कहूँ, पड़ि जात कहूँ गज की गति भाई।
वैसे की थोरी, किशोरि हरे हरे, या विधि नन्दकिशोर पै आई॥

अभिसारिका तीन प्रकार की मानी गई हैं।

(१) दिवाभिसारिका—जो दिन में अभिसार को जावे।
(२) कृष्णाभिसारिका—जो अँधेरी रात में अभिसार करे।
(३) शुक्लाभिसारिका—जो उजेली रात में अभिसार को जावे।

दिवाभिसारिका प्रायः दुपहरी के समय अभिसार करती है जिस समय अधिकांश लोग घर के भीतर रहते हैं। मतीराम जी दिवाभिसारिका का इस प्रकार का उदाहरण देते हैं।

सारी जरतारी की झलक झलकति तैसी,
केसर को अंगराग कीनो सब तन मैं;
तीखनि तरनि की किरन तैं दुगन जोति,
जगत जवाहर-जहति आभरन मैं।
कवि 'मतिराम' आभा अंगनि अंगारनि की,
धूम की-सी धार छबि छाजति कचन मैं;
ग्रीषम-दुपहरी मैं हरि कौं मिलन जात,
जानी जात नारिन दुवारि जुत बन मैं॥

कृष्णाभिसारिका का इस प्रकार उदाहरण दिया गया है:—

स्याम बसन मैं स्याम निसि, दुरी न तिय की देह ।
पहुँचाई चहुँ ओर घिरि, भौंर-भीर पिय-गेह ॥
—मतिराम ।

एक और उदाहरण देखिये:—

कारी सजि रही जाहि सारी कारे कोरन की
जामैं कारे रंगनि को बूटो दरसात है ।
कंचुकी हू कारी जाकी कारियै किनारी जामें
काम हूँ सु कारौ जो बिसेप छबि छात है ॥
कवि 'चिरजीव' कारी निसि में चली है आज,
कामिनी कन्हैया पै कृपा सों भस्यो गात है ।
कौन कहै करतूति कीरत किसोरी जू की,
कवि के हिए में कोउ आवति न बात है ॥

× × × ×

शुक्लाभिसारिका—

सफेदी में सफेदी छिप जाती है और शरीर की आभा चन्द्र की-सी-आभा होने के कारण नायिका दिखाई नहीं पड़ती, केवल सुगन्ध से पहिचानी जाती है । देखिये कविवर 'बिहारीलाल जी की क्या ही उत्तम उक्ति है ।

जुवति जोन्ह में मिल गई, नेकु न परति लखाय ।
सोंधे के डोरन लगी, अली चली संग जाय ॥

मतिराम जी का शुक्लाभिसारिका का उदाहरण देखिये:—

मलिन करी छबि जौन की, तन छबि सों बलि जाउँ ।
क्यों जैहौ पिय पै सखी, लखि जैहौ सब गाउँ ॥

मतिराम जी बिहारी लाल जी से एक नम्बर बढ़े हुए हैं

आलम कवि इन दोनों से ही बाजी मार लेते हैं। वह घूंघट में होकर भी मुख की ज्योति का प्रकाश होना बतलाते हैं। देखिये:-

जागन दे जोन्ह सीरी लागन दे रात जैसे,
जात सारी सेत में संघात की न जानि है।
अथेय की भीर परी साथ लीजै मो सी नारि,
आतुरी न होए, यह चातुरी की खानि है॥
घूँघट ते 'सेख' मुख ज्योति न घटैगी छिनु,
झीनो पट न्यारिये झलक पहिचानि है।
तू तो जानै छानी पै न छानी या रहैगी बीर,
छानी छबि नैनन की काको लोहू छानि है॥

× × × ×

बिहारीलाल जी तो नायिका के मन की द्युति को चन्द्र ज्योत्स्ना की द्युति में मिला देते हैं। यहाँ तक तो खैर ठीक है, किन्तु मतिराम जी तो और ऊँचे उड़ गये हैं। वह नायिका के तन की द्युति को चाँदनी की चमक से भी अधिक चमकदार बनाते हैं, जिससे कि उसके मन में आशंका होने लग जाती है कि कहीं वह देख न ली जाय। अपेक्षा से चाँदनी अँधियारी रात बन जाती है। बिहारीलाल जी के निम्नाङ्कित दोहे में शुक्ल और कृष्ण अभिसार को मिला दिया है। जाते-जाते रास्ते में ही चँद्रोदय हो गया ऐसी अवस्था का नायिका अपनी सखी से हाल कहती है।

अरी खरी सटपट परी, विधु आधे मग हेरि।
संग लगे मधुपनि लई, भागन चली अँधेरि॥

इस प्रकार शुक्लाभिसारिका में चन्द्रास्त हो जाने से अँधयारे

में मार्ग-प्रदर्शन के लिये नायिका की शुभ्र दन्तावलि की दीप्ति काम आती है साहित्य दर्पण में अभिसार के स्थान इस तरह बतलाए गए हैं।

क्षेत्रं वाटी भग्न देवालयो दूती गृहं वनम्।
माला पञ्चः श्मशानं च नद्यादीना तटी तथा॥
एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने।
स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्नेकुत्रचिदाश्रेय॥

अर्थात्—खेत, वाटिका, टूटा देवालय, दूती का घर, वन, शून्य स्थान श्मशान, और नदी इत्यादिकों का तट, यह अभिसार करने वाली स्त्रियों के विनोद के आठ स्थल हैं और जहाँ पर अंधकार हो वह भी इन्हीं स्थलों में माना गया है।

देखिये :—

छप्यो छपाकर छित छपो, तम ससि हरि न सम्हारि।
हँसति—हँसति चलि ससि मुखी, मुखते घूँघट डारि॥

अभिसारिकाओं के मुग्धा, मध्या, तथा प्रौढ़ा के सम्बन्ध से भी भेद किये गए हैं। लाज का न्यूनाधिक्य उनकी गति पर प्रभाव डालता है। मुग्धा थोड़ी दूर चल कर ही चन्द्रोदय होने के कारण लाज के वश रुक जाती है एवं प्रियतम को अपने ही पास बुलाती है।

केलि भवन नववेलि सी, दुलही उलहि एकंत।
बैठि रही चुप चंद लखि, तुमहि बुलावत कंत॥

मुग्धा अपनी सखी के साथ जाती है। सखी तो उसे तेज़ ले जाना चाहती है और नायिका लाजवश आडती हुई जाती है। इस विषय में एक उत्तम उक्ति है।

अली चली नवलाहि लै, पिय पै साजि सिंगार।
ज्यों मतंग अड़दार को, लिये जाति गड़दार॥

मध्या में लाज एवं मनोज बार-बार होते हैं। उसकी गति का इस प्रकार वर्णन दिया है :—

इक पग धरत सुमंद गति, इक पग परत अमंद।
चली जाति यहि बिधि अली, मन-मन करत अनंद॥
जोबन मद गज-मंद गति, चली बाल पिय गेह।
पगनि लाज आँदू परी, चढ्यो महावत नेह॥

प्रौढ़ा में मनोज लाज के ऊपर विजय पा जाता है। उसमें काम की अधिकता होती है। उसे सीढ़ी चढ़ना भी कोसों की मञ्जिल-सा-मालूम होने लगता है।

सजि सिंगार सेजहिं चली, बाल प्रान-पति प्रान।
चढ़त अटारी की सिढ़ी, भई कोस परमान॥

साहित्य दर्पणकार ने कुलीन, गणिका, दासी और अभिसारिकाओं के जाने का इस प्रकार ढंग बतलाया है:—

संलीना स्वेषु गात्रेषु, मूकीकृतविभूषणा।
अवगुंठनसंवीता, कुलजाभिसरेद्यदि॥
विचिन्तोज्वलवेषा तु, रणन्नूपुरकंकणा।
प्रमोदस्मेरवदना, स्याद्वेश्याभिसरेद्यपि॥
मदस्खलितसंलापा, विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
अविद्धगतिसंचारा, स्यात्प्रेष्याभिसरेद्यदि॥

अर्थात् यदि कुलीन स्त्री अभिसार करने को जाती है तो वह आभूषणों के शब्दों को बन्द कर के तथा चुपचाप घूंघट डाल कर चलेगी। यदि वेश्या अभिसार को जायगी तो विचित्र एवं

उज्ज्वल वस्त्र धारण करके तथा नूपुर कंकणादि को बजाती हुई आनन्द से मुस्कराती हुई जायगी। यदि दूती अभिसार करेगी तो वह मदोन्मत्त की-सी बातें करती हुई विलास से प्रफुल्लित रुक-रुक कर जावेगी।

नायिकाओं के अनेक भेद हैं, उन सबका यहाँ पर उल्लेख करना ग्रन्थ को अनुचित विस्तार देना होगा। इसके अतिरिक्त इस विषय के लिये हिन्दी-साहित्य समुद्र रूप हो रहा है और उसमें गोता लगाने से उत्तम-उत्तम रत्न मिल सकते हैं। अब अन्त में नायिकाओं के गुणानुकूल उत्तमा, मध्यमा और अधमा करके तीन भेदों का वर्णन करके और दो-चार शब्द नायिकाओं के सम्बन्ध में कह कर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है।

उत्तमानायिका

इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

> पिय हित कैं अनहित करै, आय करै हित नारि।
> ताहि उत्तमा नायिका, कविजन कहत विचारि॥

अर्थात् पिय चाहे हित करे चाहे अनहित करे, किन्तु स्वयं हित ही करने वाली उत्तमा नायिका कहलाती है। यह कुल-शील वाली स्त्रियाँ ही करती हैं। प्रेम की परिपूर्णता इसीमें है कि अपनी ओर से प्रेम में कमी न की जावे, सदा हित की चिन्ता करते रहें। दूसरी ओर से चाहे जैसा व्यवहार हो। इसीलिये एकाङ्गी प्रेम की प्रशंसा की है। जो प्रेम बदले पर निर्भर होता वह चिरस्थाई नहीं होता। प्रीतम के सब अपराध क्षम्य होते हैं।

उसकी एक मात्र चिन्ता रहती है कि वह किसी अवस्था में रहे, वह चाहे उसके हित के प्रतिकूल हो, किन्तु यदि नायक उसमें प्रसन्न हो तो वह भी प्रसन्न है। ऐसी नायिकाओं के लिये कदाचित कहा जावे कि वह नायकों के अवगुण की उपेक्षा कर उनको बिगाड़ देती हैं। यदि नायक बिलकुल लम्पट नहीं है तो 'तुम नीके रहो उनही के रहो' ऐसे शील और उदारता पूर्ण वचनों का नायक के ऊपर अच्छा नैतिक प्रभाव पड़ता है और वह सुधर भी सकता है। अब इस प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण लीजिये।

देखिये, मतिरामजी इसका इस प्रकार उदाहरण देते हैं:—

पिय अपराध अनेक हू, आँखिन हूँ लखि जाय।
तिय इकंत हू कन्त सों, मानो कहत लजाय॥

अब जरा बेनीप्रवीन जी का एक उदाहरण देखिये—

होत प्रभात ही 'बेनीप्रवीन' जू, आये महा उर भाल सदी है।
ऐसी कही हम देखी न लीजिये, बात हमारी न होत रदी है॥
लागी अँगोछन पोंछन अंग, कहै रज रावरे लाल लदी है।
ता दिन तें हमतें नहिं बोलत, नेकी किये अब होत बदी है॥

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोविन्द को,
श्रीयुत सलोने, श्याम सुखनि सने रहौ।
कहै 'पद्माकर' तिहारी छेम छिन-छिन,
चाहियतु प्यारे तन मुदित घने रहौ॥
बिनती इती है कै महेश हू मुँहै तौ निज,
पाइन की, पूरी परिचारिका गने रहौ।

याही में मगन मन-मोहन हमारो मन,
लगनि लगाय मन-मगन बने रहौ ॥

ऐसी नायिकाएँ अपनी सौत के प्रति बड़ा आदर भाव रखती हैं ।

जाको जावक सिर धर्यो, प्यारे सहित सनेह ।
हम को अंजन उचित है, तिन चरनन की खेह ॥

नायिका जानती है कि प्रियतम सौत के घर हैं, इससे बढ़ कर उसकी दृष्टि में कोई अपराध नहीं हो सकता, किन्तु उससे मिलने की इतनी प्रबल इच्छा है कि अपनी मान-मर्य्यादा छोड़ कर सौत के घर भी उससे मिलने को तैयार है । वैसे तो प्रियतम का मारना इतना नहीं सालता जितना कि सौत का बचाना, किन्तु दर्शनलाभ के हित इस भाव को भूल जाती है । देखिये:—

नैनन को तरसैये कहाँ लौं, कहा लौं हिये विरहागिनी मैं तैये,
एक घरी न कहू कलपैये, कहा लग प्रानन को कलपैये ।
आवै यही अब जी में विचार, सखी चलु सौतिहु के घर जैये,
मान घटै तो कहा घटि है, जु पै प्रान पियारे को देखन पैये ॥

देखिये सेवक जी क्या ही उत्तम भाव बतलाते हैं:—

आये सुख पावती न आये सुख पावती हैं,
हिय की न बात कछू 'सेवक' जतावतीं ।
कहूँ रहौ कान्ह जू सुहागिन कहावती हैं,
चाहती मैं यही और बात न बनावतीं ॥
जाके सुख पाये सुख पावो तुम प्यारे लाल,
वाहू सुख दीजिये न या में भरमावतीं ।
जामैं सुख पावो तुम सोई हम करैं यातें,
हम तौ तिहारे सुख पाये सुख पावतीं ॥

मध्यमा

पिय सों हित तें हित करै, अनहित कीजै मान ।
ताहि मध्यमा कहत हैं, कवि 'मतिराम' सुजान ॥

जो प्रियतम के हित करने पर ही हित करती है, अनहित करने पर नहीं वह मध्यमा कहलाती है। उसका दर्पण का-सा व्यवहार रहता है। यदि प्रीतम चाव से मिलते हैं तो वह भी चाव से मिलती है और यदि इसके विपरीत प्रियतम उदासीनता दिखाते हैं तो उसका भी उदासीन भाव हो जाता है। देखिये—

प्रिय सनमुख सनमुख रहति, विमुख विमुख ह्वै जाति ।
दरपन के प्रति-बिम्ब लों, तेरी गति दरसाति ॥
बिन सनेह रूखे परत, लहि सनेह चिकनाय ।
विष सुभाय ए वचन के, तिन में तू दरसाय ॥
आयो प्रानपति राति अनतैं बिताय बैठी,
भौहन चढ़ाय रँगी सुन्दरि सुहाग की ।
बालन बनाय पर्‍यो प्यारी के चरन आय,
छल सो छिपाई-छैल छबि रति-दाग की ॥
छूटि गयो मान लगी आप ही सँवारन कौ,
खिरकी सुकवि 'मतिराम' पिय-पाग की ।
रिस ही के आँसू रस आँसू भये आँखिन में,
रोस की ललाई सो ललाई अनुराग की ॥

देखिये, क्या ही अच्छा भाव! प्राण प्यारे के अनुनय करते ही रिस, रस में बदल जाती है और रोष की ललाई अनुराग की लालिमा में परिणित हो जाती है। उत्तमा तो मान करना जानती ही नहीं। मध्यमा मान करती है, परन्तु उसका

मान तभी तक है जब तक प्रियतम की ओर से कुछ ऐंठ बनी रहती है। जहाँ वह गई, उसका मान गया।

अधमा

इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

पिय सों हित हू के लिये, करै मान जो बाल।
तासों अधमा कहत हैं, कवि 'मतिराम' रसाल॥

जो स्त्री प्रियतम के हित करने पर भी मान करती है वह अधमा कहलाती है। ऐसे मान में वृथा आत्म-गौरव के और कुछ नहीं होता। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

आयो है सयानपन गयो है अयान मन,
नित उठि मान करिबे की टेब पकरी।
घर-घर मानिनी हैं मानती मनाए तैं वै,
तेरी ऐसी रीति और काहू में न जकरी॥
कवि 'मतिराम' काम रूप घनस्याम लाल,
तेरी नैन कोर ओर चाहैं एकटक री।
हा हा कै निहोरे हूँ न हेरति हरिन नैनी,
काहे को करत हठ हारिल की लकरी॥

ज्यों-ज्यों आदर सों ललन, पानिप देत बनाइ।
त्यों-त्यों भामिनि भौंह यों, खिन-खिन ऐंठत जाइ॥

नायक

सुँदर सूर सुसील सुलक्षन, साधु सखा मन वाचक कायक,
धर्म धुरन्धर धीर धराधम, दीन दयाल अदीन सहायक।
जोर जुवा जनवंत जसी, कहि 'तोष' जहान पै जाहिर लायक,
सायक आदि बहू दस बीधनि, जानत हैं तिहि जानिए नायक॥

जस प्रकार नायिका में आठ गुण माने गए हैं उसी प्रकार नायक में भी उपर्युक्त गुण माने गए हैं। नायकगण केवल विषय-वासना लम्पट नहीं होते वरन् उनमें सद् नागरिक होने के सब गुण प्रस्तुत होते हैं। जो यूरप के मध्य काल में Knights हुआ करते थे उनके भी प्राय: ऐसे ही गुण होते थे। वह भी दीनदयाल तथा अदीन-सहायक माने जाते थे। बिना गुणों के प्रेम स्थाई नहीं हो सकता।

साहित्य-दर्पण में ये गुण इस प्रकार दिखाए गए हैं :—

त्यागी कृती कुलीनः सु·श्रीको यौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्ते जो वैदग्ध्यशीलवान्नने ॥

अर्थात्, त्यागी, कृतज्ञ, कुलीन, लक्ष्मीवान तथा कीर्तिवान्, रूप, यौवन और उत्साह से युक्त, कार्य करने में कुशल, लोकप्रिय, तेजस्वी, विदग्ध अर्थात् कला-कौशल विशारद और वार्तालाप में चतुर, शक्तिवान् अर्थात् अच्छे स्वभाव वाला ऐसा नायक होता है।

नायक नायिकाएँ आलम्बन विभाव माने गए हैं। नायिका के लिये नायक आलम्बन विभाव है और नायक के लिये नायिका। जब नायिका आलम्बन होती है, नायक आश्रय होता होता है; और जब नायक आलम्बन होता है तब नायिका आश्रय हो जाती है। यद्यपि आलम्बन विभाव में नायक और नायिका दोनों ही बराबर मुख्यता रखते हैं और जिस प्रकार नायिकाओं के भेद हैं उसी प्रकार नायकों के भी उतने ही भेद हो सकते हैं, तथापि आचार्यों ने इस सम्बन्ध में थोड़े से ही भेदों से संतोष

कर लिया है। थोड़ी कल्पना से काम लेने पर उतने ही भेद बनाए जा सकते हैं। पहिला भेद तो नायिकाओं के स्वकीया, परकीया और गणिका के आधार पर है। जो स्वकीया का नायक होता है वह पति कहलाता है, जो परकीया का होता है वह उपपति और जो गणिका का होता है वह वैसिक होता है। देखिये :—

नायक त्रिबिध बखानि, निज तिय ते परतीय ते।
गनिका ते रति मानि, पति, उपपति, वैसिक कहैं॥

पति

नायिकाओं में स्वकीया को प्रधानता दी गई है और वह एक प्रकार से पूज्य मानी गई है। पतियों में भी पति ही श्रेष्ठ है। पतिव्रत धर्म की शास्त्रों में बड़ी महिमा है। यद्यपि पुरुषों के ऊपर वैसा उत्तरदायित्व नहीं रक्खा गया है जैसा कि स्त्रियों पर तथापि नैतिक दृष्टि से पुरुष भी एक पत्नीव्रत धारण करने के लिये इतना ही बाधित होना चाहिये जितनी कि स्त्रियाँ। जिस प्रकार सीता जी स्त्रियों में आदर्श रूप गिनी जाती हैं, उसी प्रकार एक पत्नी-व्रत के लिये श्रीरामचन्द्र जी भी आदर्श रूप माने जाते हैं। राजसूय यज्ञ करने के समय उनको दूसरी बार दार-ग्रहण का बहाना मिल सकता था, किन्तु मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी ने श्री जानकीजी की स्वर्णमयी प्रतिमा बनाकर एक पत्नी व्रत का आदर्श छोड़ा। केशवदासजी इस राजसूय यज्ञ में सीताजी की स्वर्ण-प्रतिमा बनाने का इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

राम—मैथली समेत तो अनेक दान मैं दियो।
गजसूय आदि दे अनेक यज्ञ मैं कियो॥
सीय त्याग पाप ते हिय सों हो महा डरों।
एक और अश्व-मेध जानकी बिना करौं॥
कश्यप—धर्म कर्म कछु की जई, सकल तरुनि के साथ।
ता बिन जो कछु की जई, निष्फल सोई नाथ॥
करिये युत भूषण रूप रई, मिथिलेश सुता इक सुवर्ण मई॥
ऋषिराज सबै ऋषि बोलि लिये, शुचि सों सब यज्ञ विधान किये॥

पति-पत्नी के सम्बन्ध में पारस्परिकता की आवश्यकता है। यदि पति अपनी पत्नी में सतीत्व को अपेक्षा करता है तो उसको भी एक पत्नीव्रत धारण करना आवश्यक है। ऐसा होने पर घर स्वर्ग-धाम हो सकता है। श्रीरामचन्द्रजी के एक पत्नीव्रत के सम्बन्ध में 'तोषनिधिजी' कहते हैं:—

दूजी तियान छूबो का पग त्राण बिना न धरैं बसुधा में,
जानकी को एक जानत कानन आनत आनि तियान सुना में।
नैनन ते सीय रूप सिवाय चितौतन भूलेहुँ चित्र की वा में,
टेकि लियो सो कियो कहि 'तोष' भए महि एक प्रिया व्रत दा में॥

श्रीरामचन्द्रजी को सब नायकों का सिरताज कहा है। और उनकी गुणावली इस प्रकार बताई गई है:—

सब नायक सिरताज यह, जनक सुतापति आज।
दिव्य भव्य अति अमित गुन, जा में नित्य विराज॥

एक कवित्त देखिये।

अति ही सुरम्य अंग लक्षन समेत चारु,
रुचिर समूह तेज बल के निधान हैं।

वय के समेत वह भाषन सुजान सत्य,
प्यारी सुभवाक और पंडित महान हैं ॥
बावदूक बुद्धिमान प्रतिभा समेत और,
चतुर विदग्ध औ कृतज्ञ दक्ष दाम हैं ।
प्रौढ़ व्रत देश काल पात्र विद शास्त्र चक्षु,
शुचि वसी धीर दम क्षमासील राम हैं ॥

स्वकीया स्त्री का प्रत्येक कार्य पति की प्रसन्नता में केन्द्रस्थ होता है; और उसका आनन्द अपनी चरमसीमा पर तभी पहुँचता है जब कि वह यह अनुभव करती है कि वह केवल अपने पति के गृह की ही अन्नपूर्णा देवी नहीं है वरन् उसके हृदय-मन्दिर की भी प्रेम प्रतिष्ठित अधिष्ठात्री देवी है ।

उपपति

उपपति का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है:—

परतिय को जो रसिक है, उपपति ताहि बखानि ।

उपपति के सम्बन्ध से नायिकाओं में खण्डितादि अनेक भेद आ जाते हैं । हम परकीया के सम्बन्ध में इनका वर्णन ही कर आये हैं । परकीया का प्रेम बड़ा ही कठिन और भयग्रस्त रहता है, किन्तु बहुत से लोगों का हृदय इतना निर्भीक हो जाता है कि उनको इसमें तनिक भी लज्जा नहीं रहती । कहा भी है "कामातुराणां न भयं न लज्जा" केशवदास जी ने भी परनारी को 'सनमारग मेटन की अधिकारी' कहा है, किन्तु स्त्रियाँ जितनी सन्मार्ग को मेटनेवाली हैं उतने ही पुरुष भी । लोगों ने पुरुषों के मार्ग से भ्रष्ट होने का पूर्ण भार स्त्रियों पर ही रक्खा है । धर्म ग्रन्थों में

प्रायः स्त्रियों की ही बुराई की गई है। वास्तव में पुरुषों का भी उतना ही दोष है वरन् कुछ अंश में वही अधिक दोषी हैं, क्योंकि स्त्रियों को लज्जा परित्याग करते कुछ देर लगती है, पुरुषों को नहीं। समाज ने स्त्रियों के साथ जो और अन्याय किये हैं, उनमें से एक यह भी है कि पुरुष अपने दोष को स्त्रियों के ऊपर मढ़ते हैं। स्त्री एवं पुरुष जो पतिव्रत या पत्नी-व्रत को भङ्ग करते हैं, दोनों ही निंद्य हैं, किन्तु मनुष्य, जो अपनी प्रकृति से बहुत दुर्बल है और उस दुर्बलता के कारण कुमार्ग में पड़ ही जाता है। साहित्यिक लोग मनुष्य की पूरी प्रकृति का वर्णन करते हैं और उसमें परकीया तथा उपपति दोनों का ही वर्णन आ जाता है। आचार्य्यों ने जो परकीया का वर्णन किया है वह अनेक चरित्र पर अवश्यम्भावेन लाञ्छन नहीं लाता। बहुत से लोग केवल काव्य प्रथा के अनुसार ही उनका वर्णन कर देते हैं। नैतिक दृष्टि को सदा ध्यान में रखना चाहिये किन्तु उसका वृथा आडम्बर नहीं बनाना चाहिये। परकीयाओं के वर्णन में भी नैतिक दृष्टि से जो बात निंद्य हो उसमें साहित्य का उत्तम भाव होना असम्भव वा असंगत नहीं है और जिस समय काव्य में इन विषयों का अध्ययन किया जाता है उस समय केवल साहित्यिक दृष्टि से किया जाना चाहिये। लोग यह अवश्य कहेंगे कि ऐसे साहित्य से मनुष्यों के नैतिक आदर्श पर कुप्रभाव पड़ता है। इस बात को मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि काव्य और कला का भी हमारे समय पर अधिकार है और उनसे जो हमारे मनका परिमार्जन, वैदग्ध्य, उत्साह तथा प्रोत्साहन होता है वह त्याज्य नहीं।

शृंगारी आचार्यों पर जो बहुत सा वृथा लाञ्छन लगाया जाता है उसके सम्बन्ध में प्रसंगवश कुछ विचार प्रकट करना अवश्य था। अब उपपति के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

कुञ्जन से आवति नवेली अलबेली चली,
सोभा अंग अंगन की आवत उदै भई।
'देवकी नन्दन' मुख छबि को विकास लसै,
चारों ओर चाँदनी प्रकास कर ह्वै रई॥
स्याम मुख भाखो तुम को हौ कित जैहो,
सुनि, बैन महा थाकी फिर वाही ठौर ठै गई।
ललन की ओर दग जोर कसि कोर तन,
तोर झकझोर चित चोर करि लै गई॥

पिय निज तिय हिय बसत यों, दुरिये परतिय नेह।
मधुप मालती छकत ज्यों, करत कमल में गेह॥

× × × ×

एक और उदाहरण देखिये—

अछिपे छिपे इन्दु से आनन को, छिपे के चख चोखो चितावनो है।
जिनकी महँगी मिल जाननि को मन सो कबहू ना रितावनो है॥
बंचि के गृह गाँव के लोगनि मैं 'चिरजीवी' मनोज हितावनो है।
परतीन के प्रेम पयोनिधि मैं बिसि कै हमैं बैस बितावनो है॥

वैसिक

वैसिक नायक का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

गनिका की रति होहि जेहि, जाने सकल जहान।
वैसिक नायक ताहि को, कहहि सकल सुज्ञान॥

गणिका की प्रीति बिलकुल धन पर निर्भर होने के कारण

पूर्णतया निंद्य है। उसमें विशेष साहित्यिक रस नहीं आता। वह सर्वथा पतन का कारण होती है। उससे प्रेम करनेवाले किसी प्रकार आदर नहीं पाते। उनको अन्त में पछताना ही पड़ता है। देखिये—

सुबरन बरनी लै गई, विहँसति धन मन साथ।
कहा करौं कैसे जियौं, हियो न कछु मो हाथ॥

नायकों के और चार भेद किये गए हैं। नीचे के सोरठे में उनके नाम और लक्षण दिये गए हैं।

निज तिय व्रत अनुकूल, सबते सम 'दक्षिण पुरुष'।
'शठ' सुघरो छन मूल, 'धृष्ट' निलज ढीठो महा॥

केवल अपनी स्त्री से जो प्रसन्न रहता है वह अनुकूल पति कहलाता है। केवल अनुकूल को यह आवश्यक नहीं है कि अन्य स्त्रियों से सम्बन्ध न रक्खे वरन् यह कि अपनी स्त्री को प्रेम करे और उससे प्रसन्न रहे इसका उदाहरण तोषनिधि ने इस प्रकार दिया है—

तेरे ही बोलत बोलि उठै, अनबोलत तौ अनबोल लियो है।
बैठि रहै तब बैठि रहै, जो चलै तो चलै सब संग दियो है॥
पान ते पान छुधा ते छुधा, कहि 'तोष' तिहारी ही जीय जियो है।
ब्याहति बालिसु काह कहौं तुम तौ निज नाह को छाँह कियो है॥

× × × ×

नारि पराई ते बोलिबे को कहै, क्यों हूँ न काहू को भूल हू हेरे।
मेरि लखे मनवेई औ मैं हूँ लियो, उनको लिखि चित्र हिये रे॥
बाँधि सकै उनको मन को, बँध्यो रैन दिना रहे मेरेई नेरे।
लेस नहीं उनमें अपराध को, मान की हौंसे रही मन मेरे॥

दक्षिण

जो सब नायिकाओं से एकसा प्रेम रखता है उसे दक्षिण नायक कहते हैं। ऐसे नायक के व्यवहार से नायिकाओं को ईर्षा और मान का अवसर नहीं मिलने पाता। प्रत्येक नायिका ऐसा ही समझती रहती है कि वही नायक की विशेषरूपेण प्रेयसी है। उदाहरण देखिये:—

वहि अन्तर गूढ़ अगूढ़ निरन्तर, काम कला कहि कौन गनै,
कहि 'केसव' हास-विलास सबै, प्रति धोस बढ़ै रस रीति सनै।
जिनको जिय मेरेई जीव जिये, सखि काम मनो वच प्रेम घने,
तिनको कहै आन बधू के अधीन, सु सापरतीत किधों सपने॥

दक्षिण को अनुकूल से कुछ चतुर होना पड़ता है, क्योंकि सबको बार-बार प्रसन्न रखना कुछ सहज कार्य्य नहीं है। ऐसे चातुर्य्य का नीचे एक उदाहरण दिया जाता है:—

निज-निज मन के चुनि सकै, फूल लेहु इकबार।
यह कह कान्ह कदम्ब की, हरष हलाई डार॥

—पद्माकर।

सब नायिकाओं को प्रसन्न रखने के सम्बन्ध में नीचे के दोहे में एक उत्तम उक्ति दी गई है:—

दक्षिण नायक एक तुम, मनमोहन ब्रज चंद।
फुलये ब्रज बनितान के, दृग इन्दीवर वृन्द॥

—मतिराम।

धृष्ट

जो नायक अपराध करता है और केवल एक ही बार अपराध नहीं करता वरन् बार-बार निर्लज्जता के साथ अपराध

करता है और टालने से भी नहीं टलता है वह नायक धृष्ट कहलाता है। वह अपनी धृष्टता करने में किसी प्रकार का भय तथा संकोच नहीं करता है। वह निस्सङ्कोच होकर अपराध करता है और अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न भी नहीं करता, उसके व्यवहार में यद्यपि धृष्टता है तथापि छल का अभाव है। वह धृष्टता, नायिका की अनुकूलता के भरोसे पर करता है और एक प्रकार से प्रेम का गर्व-सा रखता है। इसके उदाहरण इस प्रकार से दिए गए हैं:—

ठाने मजा अपने मन की, उर आनै न दोषहु दोष दिये को।
त्यों 'पद्माकर' यौवन के मद, पै मद है मधुपान पिये को॥
राति कहूँ रमि आयो घरै, उर मानै नहीं अपराध किये को।
गारि दै मारि दै टारत भावती, भावतो होत है हार हिये को॥

× × × ×

हाय कहा गारी गनत, कमल पात सम लात।
छिन-छिन करत गुनाह अरु, छिन-छिन हाहा खात॥

देखिये नायिका अपने धृष्ट पति से किस प्रकार कहती है:—

उति गैलनि मैं धिधिकारहू जात, तऊ उत ही छबि छैयत है।
तुम्हे देखिके आँखिन ते अपने हम, जीवत ही मरि जैयत है॥
'चिरजीवी' कहा लों कहै तुम ते, हम जाते सदा दुःख पैयत है।
तुम झूठ कहे नहिं लाजत हो, हमहीं उलटे ही लजैयत है॥

× × × ×

शठ

नायक अपराध करता है किन्तु नायिका के साथ छल का व्यवहार रख अपने दोष को छिपाने का प्रयत्न करता रहता है।

नायिका का वह वास्तविक भय नहीं करता है वरन् ऊपर से ऐसा दिखाया करता है कि वह नायिका का भय करता है और सदा उसके अनुकूल रहता है। उसके व्यवहार में छल की प्रधानता रहती है।

करि कन्द को मन्द दुचन्द भई, फिरि दाखन के डर दागति है।
'पदमाकर' स्वादु सुधातें सिरे, मधु तें महा माधुरी जागति है॥
गिनती कहा मेरी अनारन की, ये अंगूरन ते अति पागति है।
तुम बात निसीठी कहो रिस में, मिसरी ते मिठी वह लागति है॥

× × × ×

पाप पुराकृत को प्रगट्यो बिछुर्यो, तेहि राति मयी सुख घात है।
जीवन मेरो अधीन है तेरे ही, जीवन मीन की कौन सी बात है॥
'तोष' हिये मरु मैन विथा हरु, नातो पिया पल में पछितात है।
जो तुम ठानती मान अयानि तो, प्रान पयान किये अब जात है॥

—तोष।

× × × ×

एक उदाहरण और देखिये:—

कछु और करै कछु और कहै कछु और धरै न पिछानि परै।
कछु और ही देखै दिखावै कछू क्यों हियान मैं साच-सी मानी परै।
'चिरजीवी' चखाचखी मैं परि कै कछु रोष-सी जोति बनानी परै॥
कपटीन की कौन कहै करतूत अभूत अली नहिं जानि परै॥

× × × ×

नायकों के और भी चार भेद किये जा सकते हैं। वे इस प्रकार से हैं:—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः॥

अर्थात् धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त ये नायक के पहले चार भेद हैं।

धीरोदात्त का लक्षण इस प्रकार से है:—

धीरोदात्त गम्भीर अति, करुण सदृढ़ ब्रत क्षंत।
गूढ़ गर्व शुभ सत्य भृत, बिनई अकथ नवंत॥

साहित्य-दर्पण में इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः॥

अर्थात् जो अपनी तारीफ न करता हो, जिसमें क्षमा हो अर्थात् जो अपराध करने पर भी क्षमा कर देता हो, जो गम्भीर स्वभाववाला हो, स्थिर प्रकृतिवाला हो अर्थात् जो न सुख में सुखी और न दुःख में दुःखी; एक रस हो, जिसमें नम्रता हो, जिसमें आत्माभिमान हो, जो अपने वचन का पक्का हो "प्राण जाँय पर वचन न जाई" ऐसा नायक धीरोदात्त कहलाता है। श्रीरामचंद्रजी और युधिष्ठिर आदि धीरोदात्त माने गये हैं।

धीरोद्धत्त का इस प्रकार लक्षण है:—

अहंकार मत्सर कपट, क्रोध लोभता दम्भ।
धीरोद्धत्त वा को कहो, जो इन औगुन थंभ॥

साहित्य-दर्पण में इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः॥

अर्थात्, जो मायावी, प्रचण्ड, चपल, अहङ्कारी, शूर-वीर, और आत्मस्तुति करनेवाला हो वह नायक धीरोद्धत कहलाता है। भीमसेन धीरोद्धत माने गये हैं:—

धीरललित का इस प्रकार से लक्षण दिया गया है:—

नवतारुन्य समेत नित, हास कुसल बिन चिंत ।
अति विदग्ध प्यारी विवश, धीरललित बरनन्त ॥

साहित्य-दर्पण में इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ॥

अर्थात्—जो चिन्ता से रहित, कोमल स्वभाववाला, सदा नाच-गाने की कला* में मस्त हो, वह नायक धीरललित कहलाता

---

* कला चौसठ हैं । इनके नाम इस प्रकार से हैं—

(१) गीत, (२) वाद्य, (३) नृत्य, (४) नाट्य, (५) आलेख्य (चित्र कला), (६) विशेषकच्छेद्य (कागज अथवा केले आदि के पत्तों को कतर कर उन पर-सुन्दर चित्र-हाथी, घोड़ा, पशु पक्षी इत्यादि बनाना) (७) तंदुल कुसुम बलि विकार (चाँवल आदि के मंडन पूरने का हस्त कौशल), (८) पुष्पास्तरण (फूल बिछाने की कला), (९) दशन, (१०) वसन, (११) मणिभूमिका कर्म, (१२) उदकवाद्य (जलतरंगादि) (१३) शय्यारचन, (१४) तैरना, (१५) माली की कला, (१६) शिर गूँथने की कला, (१७) वेष बदलना, (१८) कर्ण पत्र भंग (फूल खोदने की कला), (१९) सुगंध युक्ति, (२०) भूषण योजन, (२१) इन्द्रजाल, (२२) हस्तलाघव, (२३) पाक-शास्त्र, (२४) निशान करने की कला, (२५) सीने की कला, (२६) भरत कला, (२७) वीणा डमरू वाद्य, (२८) प्रहेलिका, (२९) प्रतिमाला (हाज़िर जवाबी), (३०) दुर्वचक योग (ठग विद्या), (३१) वाचन, (३२) नाट्याख्यायिका दर्शन, (३३) काव्य समस्या पूर्ति, (३४) पट्टिकावेत्रबाणकला (हाथ के खेल तमाशे), (३५) तर्कवाद, (३६) सुतार (बढ़ई का काम), (३७) शिलावट, (३८) रौप्यरत्नपरीक्षा, (३९) धातुवाद, (४०) मणिरागज्ञान, (४१) आकर ज्ञान (रत्न तथा धातु सम्बन्धी कला), (४२) वृक्षायुर्वेद, (४३) मेष कुक्कुट लावक युद्धविधि, (४४) शुक सारिका प्रलापन, (४५) उत्साहन (चिपका

है। श्रीकृष्णचंद्र और रत्नावली के नायक वत्सराज धीरललित माने गए हैं।

धीरप्रशान्त का इस प्रकार लक्षण है:—

सकल नीति सक साधुता, सकल धर्म को धाम।
प्रीति रीति पालक सदय, धीरशान्त हैं राम॥

साहित्यदर्पण में इसका इस प्रकार लक्षण दिया है:—

सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीरशान्तः स्यात्॥

अर्थात्—नायक के जो सामान्य गुण हैं (अर्थात् त्यागी, (देनेवाला) कृतज्ञ, विद्वान, अच्छे कुलवाला, सम्पत्तिवाला, जिससे लोग प्रेम रखते हों, रूपवान, यौवन तथा उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर तथा अच्छे शीलवाला) उनसे युक्त और जो ब्राह्मण हो वह नायक धीरप्रशान्त कहलाता है। मालती-माधव के नायक माधव माने गए हैं।

नायकों के तीन और भेद माने गए हैं। विस्तार भय से उनका पूरा वर्णन नहीं दिया जाता है। वे तीन भेद इस

हुआ पदार्थ दूर करने की कला), (४६) मार्जुन-कौशल्य, (४७) अक्षर मुष्टिका कथन, (४८) अन्य देशीय भाषा ज्ञान, (४९) देश भाषा ज्ञान, (५०) शकुनकला, (५१) यंत्रमातृका, (५२) धारणमातृका (तौलने की कला), (५३) असंवाच्य मानसी काव्यक्रिया (चाहे जिस विषय पर काव्य बनाने की कला) (५४) अभिधान, (५५) छन्दोज्ञान, (५६) क्रिया विकल्प, (५७) चोरी कला, (५८) छलितक योग, (५९) द्यूतकला, (६०) आकर्ष क्रीड़ा, (६१) बाल क्रीडन कला, (६२) वैनायिकी कला (जादूगरों की ठगी को जान लेने की कला), (६३) कृषकिला, (६४) वैतालिक कला।

प्रकार से हैं:—

मानी, वचन-चतुर कह्यो, क्रिया चतुर पुनि जानि।
तीन भाँति औरे कहत, नायक सुकवि बखानि॥

नायकों को योग करने से अनेकों प्रकार के नायक बन जाते हैं।

नायिकाओं के अलङ्कार

साहित्य-दर्पण में यह अलङ्कार इस प्रकार बताए गए हैं:—

यौवने सत्त्वजास्तासामष्टविंशतिसंख्यकाः।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्य्यं च प्रगल्भता।
औदार्यम् धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः॥
लीलाविलासो विच्छित्ति विव्वोकः किल किञ्चितम्।
मातृपितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः॥
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम्।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादश संख्यकाः॥
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुसां भवन्त्यपि॥

अर्थात् नायिकाओं की यौवनावस्था में अट्ठाईस सात्विक अलङ्कार होते हैं। उनमें से भाव, हाव, हेला यह तीन अङ्ग कहलाते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध शरीर से है। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य यह सात प्रयत्नज होते हैं। ये यत्न अर्थात् संकल्प से नहीं प्राप्त होते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिञ्चित्, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तयन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल,

हसित, चकित तथा केलि यह अट्ठारह स्वभाव सिद्ध हैं; किन्तु यत्न से भी साध्य होते हैं।*

भाव का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया"

जन्म से निर्विकार चित्त में प्रथम विकार को भाव कहते हैं। बाल्यकाल में मन शुद्ध निर्विकार रहता है। एक अवस्था विशेष उत्पन्न होने पर यह विकार दिखाई पड़ने लगते हैं। जिस समय यह विकार उत्पन्न होने लगते हैं उस समय संसार और का और दिखाई पड़ने लगता है। देखिये:—

स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः।
सैवेयमबला किन्तु मनोऽन्यदिव दृश्यते॥

अर्थात् वही वसन्त ऋतु है, वही मलयानिल है और वही रमणी है, किन्तु मन और ही दिखलाई पड़ता है।

हाव

हाव का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु सम्भोगेच्छाप्रकाशकः।
भाव एवाल्पसंलक्ष्य विकारो हाव उच्यते॥

भ्रुकुटी तथा नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों द्वारा सम्भोगेच्छा को प्रकाशित करनेवाले भाव ही जब उनका विकार थोड़ा थोड़ा लक्षित होने लगता है, हाव कहलाते हैं।

---

* इन में से पहिले दश पुरुषों में भी हो सकते हैं, किन्तु यह सब नायिकाओं के ही अलङ्कार हैं।

भाव मन में रहते हैं। हाव वह भाव हैं जिनका कि भ्रुकुटी नेत्रादि द्वारा वाह्य व्यञ्जन होता है। हिन्दी आचार्य्यों ने हेला, लीला, विलासादि अलङ्कारों को हाव अन्तर्गत माना है, किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इनको स्वतन्त्र स्थल दिया है। इनके लक्षण जो हिन्दी आचार्य्यों ने दिये हैं वह लीलादि के जो संस्कृत आचार्य्यों ने लक्षण दिये हैं उनसे भिन्न नहीं। उनका वर्णन यहाँ पर साहित्य-दर्पण के क्रम से दिया जाएगा किन्तु लक्षण और उदाहरण, प्रायः भाषा के आचार्य्यों के ग्रन्थों से ही दिए जायेंगे।

हाव का हिन्दी में इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

होहिं जो काम विकार तें, दम्पति तन में आय।
चेष्टा विविध प्रकार की, ते कहिये सब हाय॥

जिन हावों का भाषा के आचार्य्यों ने वर्णन किया है वह प्रायः प्रौढ़ा नायिकाओं में होते हैं। वैसे और नायिकाओं में इनका अभाव नहीं है। देखिये देवजी क्या कहते हैं:—

पूरन रस भावन सहितु, तव मन प्रेम सुभाव।
मुग्ध मध्य प्रौढ़ान के, सहज होत रस हाव॥
तदपि प्रेम अति तरुन मद, प्रौढ़ा तिय न विसेखि।
चतुर चेष्टा हाव कहि, परत निरन्तर देखि॥

साहित्य-दर्पण में हाव का इस प्रकार उदाहरण दिया गया है:—

विवृरावती शैलसुतापि भावभङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्य्यस्तविलोचनेन॥

अर्थात् खिले हुए नये कदम्ब के फूलों के सदृश कोमल

अङ्गों द्वारा अपने मनोगत भाव को बतलाती हुई तिरछी कटाक्षों से शोभित मुखारविन्दवाली गिरितनया तिरछी खड़ी रही। यहाँ पर जो कदम्ब के फूल से उपमा दी गई है वह पार्वती जी के रोमाञ्च को सूचित करती है। उनका सब अङ्ग-विन्यास उनके मनोगत भाव को बतलाता है।

हेला

इसका साहित्य-दर्पण में इस प्रकार लक्षण दिया है:—

'हेलात्यंतसमालक्ष्य-विकारः स्यात् स एव तु'

अर्थात् जब भाव पूर्ण स्पष्टता के साथ दिखाई पड़ता है तब वह हेला कहलाता है। हाव में भाव, पूर्ण स्पष्टता से व्यञ्जित नहीं होता, किन्तु हेला में होता है। हेला का हिन्दी में इस प्रकार लक्षण दिया है:—

अमित ढ़िठाई नाह सन, प्रगटे विविध विलास।
ताहि कह्यो सु कवि मिलि, हेला नाम प्रकास॥

इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

छिनक चलत ठिठकत छनक, भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखत घटा, बिज्जु छटा-सी नारि॥

शोभा

शोभा का साहित्य-दर्पण में इस प्रकार लक्षण दिया है:—

"रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरंगभूषणम् शोभा प्रोक्ता"

अर्थात् रूप, यौवन, लालित्य, सुख, भोग आदि से युक्त सुन्दरता को शरीर की शोभा कहते हैं। सौंदर्य्य में केवल आकार मात्र का सौंदर्य्य नहीं गिना जाता वरन् यौवन, लालित्य

आदि सब सौंदर्य्य के अङ्ग माने गए हैं। यौवन-सम्बन्धी शोभा का साहित्य-दर्पण में इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

असम्भृतं मण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं कारणं मदस्य ।
कायस्य पुष्पवतिरिक्तमस्त्रं वाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥

अर्थात् जो अङ्ग-लता का बिना गढ़ा हुआ आभूषण है जो आसव के नाम से न पुकारा जाता हुआ मद का कारण होता है, पुष्प न होता हुआ कामदेव का अस्त्र है, उसी बाल्यकाल के पीछे आनेवाली अवस्था को पार्वती जी प्राप्त हुई।

यही शोभा जब कामदेव के विलास से पूर्ण हो जाती है तब यह कान्ति कहलाती है "सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः" कान्ति ही बढ़ कर दीप्ति कहलाने लगती है।

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ।

दीप्ति का साहित्य-दर्पण में इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

तारुणस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः ।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥

अर्थात्—चंद्रकला नाम की नायिका के वर्णन में नायक कहता है कि यह यौवन का विलास है। वृद्धिंगत लावण्य सम्पत्ति का हास है, जो कुछ पृथ्वी पर है उसका आभूषण है और नवयुवकों के मन को आकर्षित करने के हेतु वशीकरण मन्त्र है।

माधुर्य्य

इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता"

सब अवस्था में रमणीय होने का नाम माधुर्य्य कहलाता

है। साहित्यदर्पणकार ने माधुर्य में "अभिज्ञान शकुन्तला" से एक उदाहरण दिया है, जिसका पद्यानुवाद यहाँ पर दिया जाता है।

> सरसिज लगत सुहावनो, यदपि लियो ढ़कि पङ्क।
> कारी रेख कलङ्क हू, लसति कलाधर अङ्क॥
> पहिरे बलकल बसन यह, लागति नीकी बाल।
> यहा न भूषन होइ जो, रूप लिख्यो बिधि भाल॥

उपर्युक्त छंद में यह बात दिखलाई पड़ती है कि जो मधुर एवं रमणीय है वह सभी अवस्थाओं में रमणीय है। रमणीयता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह धन, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य में ही बढ़े।

प्रगल्भता

इसका लक्षण इस प्रकार है:—

"निः साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्"

अर्थात् निर्भयता का नाम प्रागल्भ्य है। तोषनिधि जी ने प्रागल्भ्य का इस प्रकार लक्षण दिया है:—

> प्रागल्भता प्रौढ़ान की, चातुरता जो होइ।

इसका उदाहरण देखिये:—

> साँझहि तें रति की गति जेतिक, कोक के आसन जे गिरा गावति।
> वारिज नैननि बारहिबार न, चूमिबे के मिस मोर छपावति॥
> केलि-कला के तरंगन सों हठि मोहनलाल को ज्यों ललचावति।
> अंक में बीत गई रतियाँ है तऊ छतियाँ हिये छोड़िन भावति॥

औदार्य्य

इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया :—

"औदार्य्यं विनयः सदा" अर्थात् सदा विनय भाव रखना औदार्य्य कहलाता है। तोषनिधि ने औदार्य्य का इस प्रकार लक्षण दिया है :—

> बूड़े प्रेम-समुद्र में, पार न पावत सोइ ।
> तन, धन, जोबन, लाज की, सुध बुध ताहि न होइ ॥

इस विनय का उदाहरण संस्कृत ही से दिया जाता है :—

> नो ब्रूते परुषां गिरं, वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं
> नोत्तसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसी ।
> कान्तागर्भग्रहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहि
> सख्यां वक्रमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥

अर्थात् मेरा अपराध स्फुट हो जाने पर भी वह न तो कठोर वचन कहती है, न भौंहें टेढ़ी करती है और न कानों से उतार कर आभूषण पृथ्वी पर फेंक देती है; केवल भीतर के झरोखे से बाहर की ओर देखती हुई सखी की ओर अश्रुभरी दृष्टि डालती है। इसमें यह दिखलाया है कि नायिका, नायक का अपराध होते हुए भी कुछ नहीं कहती और न किसी प्रकार कोप प्रदर्शित करती है, केवल अपनी सखी को अश्रुभरी दृष्टि से देखती है।

श्री सीताजी की विनय श्लाघनीय है जो वन वास देने पर भी जो श्री रामचन्द्र जी को दूषित नहीं ठहरातीं।

धैर्य

साहित्यदर्पणकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है :-

उक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला ॥

आत्मश्लाघा से भिन्न जो अचञ्चल मनोवृत्ति है उसे कहते हैं। धैर्य का तोषनिधि ने इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

कुल के डर सों परलोक सों लोक सों हौं न डरों बडरों सो डरो।
कहि 'तोष' वै हैं मनमोहन सो वह मो मन मूढ़ ढरो सो ढरो ॥
मुहि देखि जरो सो जरो जग में औ मरो सो मरो औ लरो सो लरो।
करि कौल करार टरौ न कबौ करि कौल करार टरो सो टरो ॥

लीला

लीला का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

अंगैर्वेषैरलङ्कारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि ।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ॥

अर्थात् अंगों से, वेष से, अलङ्कारों से एवं प्रेमपूर्ण वचनों द्वारा भी पति को दिखाते हुए प्रिय का अनुकरण करना लीला कहलाता है। लीला में नायिका, रूप और वेष धारण कर प्रेममय वचनों द्वारा नायक को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। इसमें एक प्रकार का हास्य लगा है। नायिका जब नायक का वेष धारण करती है तब एक प्रकार की विपरीतता आ जाती है जो कि हास्य का एक मुख्य लक्षण है। हास्य संयोग शृंगार का भी एक अङ्ग है। वह नायक और नायिका दोनों के मनोविनोद का कारण होता है।

देवजी लीला-भाव का इस प्रकार उदाहरण देते हैं:—

रच्यो कच मौर सुमोर पखा धरि, काक पखा मुख राखि अराल।
धरी मुरली अधराधर लै, मुरली सुर लीन ह्वै 'देव' रसाल ॥
पीतम्बर काछनी पीत पटी धरि, बालम वेष बनावति बाल।
उरोजन खोज निवारन को उर, पैन्ही सरोजमयी मृदु माल ॥

लीला के वियोग में स्मृति का एक उदाहरण देवजी से दिया जाता है:—

हौ भई दूलह के दुलही उलही सुख बेलि-सी केलि घनेरी।
मैं पहिरों पिय को पियरो पहिरी उनरी·चुनरी चुन मोरी ॥
'देव' कहा कहों कौन सुनैरी कहा कहै होत कथा बहुतेरी।
जे हरि मेरी धरै पग जे हरि ते हरि चेरि के रंग रचेरी ॥

प्रियतम में अपने को मिला लेना प्रेम की अतिशयिता है। प्रियतम का वेष धारण एक प्रकार से अपने में मिला लेना है। संयोग में दो का एक होना माना गया है। लीला हाव में इसका साङ्केतिक निरूपण होता है। इस बात को तोषनिधिजी ने भली प्रकार बतलाया है। वह कहते हैं कि नायिका को नायक बिना कल नहीं पड़ती, इसलिये वह उसकी नकल करती है।

मोर के पखौवन को मञ्जुल मुकुट माथे,
तैसिये लकुट कर कंजनि ढरति है।
कहै कवि 'तोष' तैसी काछिनी यौ काछिआछी,
तैसे ये कटाछनि ते मन को हरति है॥
गुहि-गुहि गुञ्जन की माला पहिरति त्योंही,
पति पट ओढ़ि बाल बासुरी धरति है।
पल बिछुरत कल कमल विलोचन के,
न कल परति ताते नकल करति है॥

विलास

इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ।
विशेषस्तु विलासः स्याद्‌दृष्टसन्दर्शनादिना ॥

प्रियजन के दर्शन से स्थान, आसन मुख और नेत्रादि क्रियाओं की विशेषताओं को विलास कहते हैं। विलास में जो क्रियाएँ एवं चेष्टाएँ होती हैं वह इस बात को द्योतक होती हैं कि नायिका पर नायक की उपस्थिति का प्रभाव पड़ा हुआ है। उसकी प्रत्येक क्रिया में कुछ विचित्रता झलकने लगती है। देवजी ने विलास का इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

सहर-सहर सोंधी सीतल समीर चलै,
घहर-घहर घन घोरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झर लायो 'देव',
छहर-छहर छोरी बंदन छहरिया ॥
हहरि-हहरि हँसि-हँसिकै हिंडोलै चढ़ै,
थहरि-थहरि तन कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत प्रीतम कौ पीत पट,
लहरि-लहरि होत प्यारी की लहरिया ॥

विच्छिन्न

जहाँ पर थोड़े ही अलङ्कार-आभूषणों से शोभा का साज हो जावे वह विच्छिन्न हाव कहलाता है। आज कल के समय में वेष की सादगी की बहुत प्रशंसा की जाती है, किन्तु सादगी भी सहज में प्राप्त नहीं होती। उसके लिये भी थोड़ी कला की आव-

श्यकता है। सादगी में बिलकुल लापरवाही नहीं होती और जो लापरवाही होती है वह भी एक कला है, फूहड़पन की लापरवाही नहीं, इसी सादगी की कला को विच्छिन्न हाव कहते हैं। जहाँ पर स्वाभाविक शरीर की शोभा होती है वहाँ पर आभूषणों की क्या आवश्यकता ? इसका साहित्य-दर्पण में इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

स्तोकाऽप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥

अर्थात् कान्ति को बढ़ाने वाली थोड़ी-सी वेष-रचना विच्छिन्न हाव कहलाती है। देवजी के निम्नलिखित छन्द में नायिका की स्वाभाविक शोभा ही का वर्णन किया है तथा अलङ्कारों को अनावश्यक बतलाया है।

छूटे छवानि लौं केस विराजत, बार बड़े तमतार हने से।
लोचन कञ्ज से खञ्जन से दुख, भञ्जन देखत जे कहने से ॥
कुन्दन सों तन जौवन जोति, जवाहर से पिय के लहने से।
रंग भरे तेरे अंग भटू, बिनही गहने लगते गहने-से ॥

वर्तमान छायावादी कवि श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्तजी का किसी स्मृतिवासिनी सरलतामयी दिव्य मूर्त्ति का वर्णन देखिये:—

बालिका ही थी वह भी।
सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन ही था आभूषण।
कान से मिले अजान-नयन,
सहज था सजा सजीला-तन।
सुरीले, ढीले, अधरों बीच,
अधूरा उसका लचका गान।

विकल बचपन को, मन को खींच,
उचित बन जाता था उपमान ॥

छपी सी, पी-सी मृदु मुसकान,
छिपी सी, खिची सखी-सी साथ ।
उसी की उपमा-सी बन, मान,
गिरा की धरती थी, धर हाथ ।

रंगीले, गीले फूलों-से
अधखिले-भावों से प्रमुदित ।
बाल्य सरिता के कूलों से,
खेलती थी तरङ्ग-सी नित ।
इसीमें था असीम अवसित ।

मोट्टाइत

इसका लक्षण इस प्रकार है:—

सुमत भामते की कथा, तन प्रगटत जेहुँ भाव ।
'मोट्टाइत' ता सों कहैं, सकल कविन के राव ॥

प्रेम के आवेग में सात्विक भाव स्वभावतः हो ही जाता है और उनसे नायिका की आन्तरिक दशा अनुमित होने लगती है, यह प्रायः नायक के मोह का कारण होता है । नायिकाएँ इसको छिपाने का प्रयत्न किया करती हैं जिससे कि उनकी हार प्रतीत न हो । यही मोट्टाइत हाव है :—

श्याम विलोकत काम ते, भयो कम्प तन आय ।
शीत नाम लै लाज ते, बैठि गई सिर नाय ॥

विव्वोक

इसका लक्षण इस प्रकार है:—

प्यारे को प्यारी जहाँ, करति निरादर जानि।
ताहि कहत विव्वोक है, कवि कोविद पहिचानि॥

विव्वोक में जो निरादर किया जाता है वह प्रेम का ही अंग है। इस निरादर से प्रेम की परीक्षा और चाह की दीप्ति की जाती है।

लगि-लगि बिहरि न साँवरे, विमल हमारो गात।
तुव तन की झाँई परै, लगि कलङ्क सो जात॥
बात होय सो दूर ते, दीजै मोहिं सुनाय।
कारे हाथन जिन गह्यो, लाल चूनरी आय॥
ज्यों-ज्यों छकि-छकि नेह ते, पगन परत है लाल।
त्यों-त्यों रूखी ये परति, कौतुक छके रसाल॥

मतिरामजी का उदाहरण देखिये:—

मानहु आयो है राज कछू चढ़ि, बैठे हो राखे पलास के खोढ़े।
गूँज गरे सिर मोर-पखा, 'मतिराम' हों गाय चरावत चोढ़े॥
मोतिन को मोरो हार भलो गहि, हाथन सों रहे चूनरी पोढ़े।
ऐसे ही डोलत छैला भए तुम्हें, लाज न आवत कामरी ओढ़े॥

चिरजीवी का दिया हुआ उदाहरण देखिये:—

गाय-गाय गोकुल-गलीन, गोप, गायन मैं,
गज-मद मत्त लों मताने विचरत हो।
मोर को मुकुट अरु गुञ्जन को हार गर,
उर में अधीशन को सानन धरत हो॥

कहै "चिरजीवी" छूछे छाछ के पिवैया छैल,
अमिय अलभ्यन के हौसिले भरत हो।
चेरिन के चाकर सुधाकर मुखीनन ते,
आप इतै बाद ही बराबरी करत हो॥

किलकिञ्चित

इसका हिन्दी में इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

डर अरु हर्ष सहास्य जहँ, होत एक ही संग।
किलकिञ्चित तासों कहत, जे प्रवीन रस रंग॥

किलकिञ्चित हाव में भावों की सबलता होती है। जहाँ प्रेम का आधिक्य होता है वहाँ विपरीत-से-विपरीत भावों का सम्मेलन होता है। प्रीति का भय भी होता है और उसमें साहस भी लगा रहता है। जिसके कारण परिहास करने की सामर्थ्य रहती है, क्योंकि प्रिय जन से कोई अनिष्ट की आशंका नहीं रहती। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

सकुचि न रहिये साँवरे, सुन गरबीले बोल।
चढ़त भौंह बिकसत नयन, बिहँसत गोल कपोल॥
सुनि पग धुनि चितई रतैं, न्हात दिये ई पीठि।
चकी झुकी सकुची डरी, हँसी लजीली डीठि॥

ललित:—

अंगन की सुकुमारता, चलनि चितौनि अनूप।
जहँ बरनत तहँ जानिये, 'ललित' कविन के भूप॥

अङ्गों का चाञ्चल्य और उनकी शोभा भावों की व्यञ्जका होती है। यद्यपि शोभा को साधारणतया बाह्य ही माना गया

है, तथापि बिना चित्त के उत्साह के शोभा नहीं आती है। ललित हाव में जिस शोभा का वर्णन किया जाता है वह प्रायः चित्त की उत्साह-सूचना करनेवाली होती है। देखिये :—

तजि सिंगार सुकुमार तिय, कटि लघु दृगनि दराज।
लखहु नाह आवत चली, तुम्हें मिलन तकि आज॥

मतिरामजी का उदाहरण देखिये:—

मंद गयंद की चाल चलै कटि, किंकिनि नूपुर की धुनि बाजै;
मोती के हारनि सों हियरो, हरिजू के, विलास हुलासनि साजै।
सारी सुही 'मतिराम' लसै मुख, संग किनारी की यों छबि छाजै;
पूरन चंद पीयूष मयूष, मनो परवेष की रेख विराजै॥

विभ्रम

प्रियतम के आगमनादि के हर्ष के वश नायिका का, शृंगार आदि के साधारण क्रम को भूल कर वस्त्रादि को उलटा-सुलटा धारण कर लेना विभ्रम हाव कहलाता है। इसमें प्रिय-जन के प्रति तल्लीनता और उससे मिलन का उतावलापन प्रकट होता है। विभ्रम का बिहारी-सतसई में अच्छा उदाहरण मिलता है।

रही दहेड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
फेरति करि उलटी दई, नई विलोव निहारि॥

इसका एक उदाहरण और देखिये:—

किंकिनि हारु कियो सजनी रजनी, में करै अति औगुन भारी।
'बेनी-प्रवीन' सुने सबही अबही, तै भली मति कै गति मारी॥
मौन रहै रति में इक तौ, त्यों करै विपरीति समैं किलकारी।
लंकन जोटन जो रस है, वरजोर उरोजन के सिरधारी॥

देवजी का उदाहरण इस प्रकार से है:—

स्याम सों केलि करी सिगरी निसि, सोवत प्रात उठी थहराइ कै।
आपने चीर के धोखे बधू पहिरो, पट पीत भटू भहराइ कै॥
बांधि लई कटि सो बनमालन, किंकिनी बाल लई ठहराइ कै।
राधिका की रसरंग की दीपति, संग की हेरि हँसी सहराइ कै॥

विहित

विहित हाव का लक्षण इस प्रकार है:—

लाज अकाज जहाँ करै, पिय मिलाप के हेत।
विहित हाव ताते सबै, कवि कोविद कहि देत॥

लाज को शोभा का अंग माना है। इसलिये जहाँ पर लाज स्वाभाविक भी नहीं होती, वहाँ पर लाज का भाव कृत्रिम रूप से धारण कर दिया जाता है। अकारण लाज में थोड़ी परिहास की मात्रा समझी जाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

आज सखी मोहित भए, मोहन मिले निकुञ्ज।
बन्यो न कछु मुख बोलिबो, अड्यो लाज को पुञ्ज॥

उपर्युक्त दोहे में तो सहज लाज का वर्णन है। निम्नोलिखित बिहारी कृत दोहे में ससंकल्प लाज का उदाहरण है। देखिये:—

त्रिबली नाभि दिखाय कै, सिर ढँकि सकुच सभाहि।
अली अली की ओर ह्वै, चली भली बिधि चाहि॥
देख्यो अन देख्यो कियो, अंग अंग सबै दिखाय।
पैठति सी तन में सकुचि, बैठी चितहिं लजाय॥

विहित का एक और उदाहरण देखिये:—

गोल कपोलनि कुण्डल मण्डित, आनन इन्दु अखण्डित है ज्यों।
डोलनि मंद अमोलनि बोलनि, रूप मनोहर आइ गयो ज्यों॥
'बेनी प्रवीन' लग्यो चक चौहट, चौहट माँझ बिलोकि सकै क्यों।
बाँधी मनौ पखियाँ अखियाँ ललकै, कलकै पलकै न खुलै त्यों॥

× × × ×

रूप साँवरो साँचु है, सुधा-सिंधु मैं खेल।
लखि न सकैं अँखियाँ सखी, परी लाज की जेल॥

× × × ×

बंसीबट के निकट जमुना के तट,
खेलति कुँअरि राधा सखिन के पुंज मैं।
रसिक कन्हाई आई बाँसुरी बजाई धुनि,
सुनि कै रही न मति गति मन लुंज मैं॥
चलि न सकति वृन्दावन की गलिन बीच,
विकल नलिन नैनी अलिन की गुंज मैं।
'देव' दुरि जाय अकुलाय सुसमित मुखी,
कुसमित बकुल कदंब कुलकुञ्ज मैं॥

कुट्टमित

कुट्टमित हाव का लक्षण इस प्रकार है:—

अधर उरूज केशन गहे, जहाँ रुख रूखो होय।
अन्तर सुख पावै तिया, हाव कुट्टमित सोय॥

केवल दिखावट के लिये जो 'नाहीं' आदि की जाती हैं, वह सब कुट्टमित भाव के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। यह सब प्रणय तथा रति के बढ़ाने के लिये होती हैं।

कर एँचत आवत इँची, तिय आपुहि पिय ओर।
झूठिहिं रूठि रहे छिनक, छुवत छरा को छोर॥
प्रीतम को मन भामती, मिलत प्रेम उत्कण्ठ।
बाहीं छुटे न कंठ ते, नाहीं छुटै न कण्ठ॥

तोषनिधि का उदाहरण इस प्रकार है:—

तेरी परतीति ना परति अब संमुख हूँ,
छैल जू छबीले मेरी छूजे जिन छतियाँ।
रात सपने में जनु बैठी मैं सदन सूने,
गोपाल तुम मेरी गहि लीनी बहियाँ॥
कहै कवि 'तोष' तब जैसो-तैसो कीन्ही अब,
कहत न बनि आवै तैसी हम पहियाँ।
तुम न बिहारी नेकु मानो मन हारी अरु,
कहि कहि हार रही नाही अरु नहियाँ॥

मतिराम का भी उदाहरण देखिये इसमें आन्तरिक और बाह्य निषेध दोनों स्पष्ट हैं।

सोने की सी बेली अति सुन्दर नवेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ।
'मतिराम' आँखिन सुधा सी बरसा सी भई,
गई जब दीठि वाके मुख चन्द पहियाँ॥
नेकु नीर जाय करि बातनि लगाय करि,
कछु मन पाय, हरि वाकी गहि बहियाँ।
चैनन चरित्र गई सैनन थकित भई,
नैनन में चाह करै बैनन में नहियाँ॥

मद

साहित्य दर्पण में इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"मदो विकारः सौभाग्य यौवनाद्यवले पजः"

अर्थात् सौभाग्य यौवनादि के गर्व से जो मनोविकार उत्पन्न होता है उसे मद कहते हैं। यौवनावस्था में बिना गर्व के भी एक प्रकार का मद रहता है। मद का उदाहरण तोषनिधि ने इस प्रकार दिया है:—

आन कढ्यो कहुँ खोरि में लाल, यों लाड़ली पोंरते पौरि कढ़ी है।
सीस खुले कटि में कसे अञ्चल, कञ्चुकि आछे उरोज मढ़ी है॥
नेक टरै न दुरै सो अरै है, अहीरिन के ढिग भीर बढ़ी है।
गूंग लों बैन सुनै न कहै, कुंगरै उहि मैन को जुंग बढ़ी है॥

बिहारी लालजी का उदाहरण देखिये:—

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेदकन जोति।
अरुन बदन छबि मद छकी, खरी छबीली होति॥

छवि के मद के साथ अरुन बदन की कैसी अच्छी संगति है, क्योंकि मद पीने से लाली आ ही जाती है।

तपन

इसका इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"तपनं प्रियविच्छेदं स्मरावे गोत्थचेष्टितम्"

प्रियतम के वियोग में जो कार्य की वेदनाजन्य चेष्टाएँ होती हैं, वह तपन कहलाती हैं। तपन का तोषनिधि ने इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

ज्यों-ज्यों गरजत घन संताप जाते रैनि,
चम्पा वरनी को लखि त्यों-त्यों लरजत हीउ।
ज्यों-ज्यों चहुँ ओर घोर सोर मोर दादुर को,
पौन की झकोर जोर त्यों-त्यों डरपत जीउ॥
कहैं तोप ज्यों-ज्यों बारिधारा को निहारै दार,
मार के पुकारती है हाय राम औ सीउ।
ज्यों-ज्यों पीउ पीउ करै पातकी पपीहा त्यों-त्यों,
तीय नाहि बूझति किते हैं रे पीउ॥

साहित्य-दर्पणकार ने तपन का इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते,
दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यत इतः क्षामा भुजावल्लरीम्।
किञ्च प्राणसमान ! काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं,
निद्रां वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि।

अर्थात्—वह रमणी गहरे श्वास लेती है, ज़मीन पर लोटती है, तेरे मार्ग को देखती है, देर तक रोती है, अर्थात् इधर-उधर भुजलताओं को फेंकती है स्वप्न में भी तुम्हारे सङ्गम को प्राणों के समान चाहती है, निद्रा को चाहती है। जिससे कि स्वप्न में ही तुम्हारे दर्शन हो जावें। किन्तु निर्दयी ब्रह्मा निद्रा भी नहीं आने देता।

यद्यपि तपन का संबंध वियोग से है तथापि प्रियतम को यह ज्ञान कि उसकी प्रियतमा उसके लिये कष्ट उठाती है बहुत ही संतोषप्रद होता है। और मिलन के सहायक ही नहीं वरन् मिलन के सुख को द्विगुणित कर देता है।

मौग्ध्य

मुग्धता भोलेपन को कहते हैं। अधिक चातुर्य्य शोभा में नहीं गिना जाता। भोलेपन की बिहारीलाल जी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं:—

ठोरी लाई सुनन की, कहि गोरी मुसक्यात।
थोरी-थोरी सकुच सों, भोरी-भोरी बात॥

भोलापन, डरपोकपन यह शोभा के अंग माने जाते हैं। जहाँगीर जो नूरजहाँ के ऊपर आसक्त हुआ था वह उसके भोलेपन पर ही मुग्ध हुआ था। यह भोलापन कृत्रिम रूप से भी दिखाया जाता है। मुग्धता की साहित्य-दर्पण में इस प्रकार परिभाषा की गई है:—

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रीतस्यापि हि वस्तुनः।
वल्लभस्य पुराप्रोक्तं मौग्ध्यं तत्त्ववेदिभिः॥

जानी हुई वस्तु को अनजानी की भाँति जो प्रिय-जन के सन्मुख पूछता है उसे तत्व के जाननेवाले मौग्ध्य कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है:—

के द्रुमास्ते क्व वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः।
नाथ, मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलं॥

एक नायिका अपने नायक से कहती है:—

हे नाथ मेरे कंकणों में लगे हुए मुक्ताफल कौन से पेड़ के फल हैं, कौन ग्राम में होते हैं तथा वह किसने लगवाए हैं?

मौग्ध्य का अज्ञान प्रियतमा का प्रियतम के ऊपर अत्यन्त निर्भरता, अकृत्रिमता और विश्वास का द्योतक होता है। इन्हीं

कारणों से भीरुता को भी गुण माना गया है। मौग्ध्य और भीरुता इस बात की भी द्योतक होती हैं कि प्रियजन में-से अभी शिशुता नहीं गई।

चकित

प्रियतम के आगे अकारण डरना चकित कहलाता है। डरना भी शोभा का अङ्ग माना जाता है। स्त्रियों को भीरु करके सम्बोधित करते हैं, भीरुता सुकुमारता-द्योतक होती है। चकित का इस प्रकार लक्षण दिया जाता है:—

"कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः"

अर्थात् प्रिय-जन के आगे अकारण ही डरना या घबराना चकित कहलाता है:—

भय के कारण जो मुख पर शोभा आ जाती है उसका उत्तर रामचरित्र में क्या ही उत्तम वर्णन दिया है।

बहु राछस चित्र विलोकत सो, भयभीत कछू कलकम्पन पाई।
श्रमसीकर मंजु बसीकर के कनि, कानि सों जासु बढ़ी रुचिराई॥
जन इन्दु मयूख विचुम्बित, सीतल, चन्द मनीन को हार सुहाई।
निजबाहु वही मम कंठ में डारि, करौ बिसराय प्रिया सुखदाई॥

चकित का भाव हरिश्चन्द्र से दिया जाता है। इसमें और भी भाव मिश्रित हैं:—

तू केहि चितवति चकित मृगी सी।
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो, क्यों अकुलात लखात ठगी सी॥
तन सुधिकर उघरत री आँचर, कौन ख्याल तू रहति खगी सी।

उतर न देत जकीसी बैठी, मद पीया कै रैन जगी सी ॥
चौंकि-चौंकि चितवनि चारहु दिसि, सपने पियु देखत उमगी सी ।
भूल बैखरी मृगछौनी ज्यों, निज दल तज कहुँ दूर भगीसी ॥
करत न लाज हार घर वर की, कुल मरजादा जात डगी सी ।
हरीचन्द ऐसिहि उरझी तौ, क्यों नहिं डोलत संग लगी सी ॥

केलि

केलि का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते"

अर्थात् विहार के समय कान्त के साथ क्रीड़ा को केलि कहते हैं। केलि के उदाहरण बिहारी से दिये जाते हैं:—

हँसि ओंठनि बिच कर उचै, किये निचौहे नैन ।
खरे ओर पिय के पिया, लगी बिरी मुख दैन ॥
नाक मोरि नाहीं ककै; नारि निहोरे लेय ।
छुवत ओंठ पिय आँगुरिन, बिरी बदन तिय देय ॥

कुतूहल

कुतूहल का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम् ।"

अर्थात् रमणीक वस्तु के देखने के लिये व्याकुल होना कुतूहल कहलाता है। इस प्रकार की व्याकुलता यह प्रकट करती है कि नायिका उदासीन नहीं है। वह संसार की बातों में रुचि रखती है। यह नायक की प्रसन्नता का कारण होता है।

प्रसादाधिकाऽऽलम्बितमग्रपाद,
माक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षा·
दलक्तकाङ्क्षा पदवीं ततान ॥

हसित

हसित का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

"हसितं तु वृथा हासो यौवनोद्भेद सम्भवः"

अर्थात् यौवन के आगम में अकारण हास्य को हसित कहते हैं। हँसना स्वास्थ्य-निर्द्वन्दता और निश्चिन्तता का सूचक होता है। बिहारी ने हसित का क्या ही अच्छा वर्णन किया है—

नेकु हँसोही बानि तजि, लख्यो परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंध में, परत चौंधि सी डीठि॥

देखिये निम्नोल्लिखित देव जी के छन्द से प्रकट होता है कि विना हँसी की हँसी संयोग श्रङ्गार के परस्पर प्रेम और सन्तोष में आही जाती है।

दुहूँ मुख चन्द ओर चितवैं चकोर दोऊ,
चितै चितै चौगुनो चितैनो ललचति है।
हाँसनि हँसत बिन हाँसी विहँसत मिले,
गातनि सो गात बात बातनि में बात है॥
प्यारे तन प्यारी पेखि पेखि प्यारी पिय तन,
पियत नखत नेकहू न अनखात है।
देखि न थकत देखि देखि ना सकत 'देव'
देखिबे की घात देखि देखि ना अघात है॥

उद्दीपन

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है उद्दीपन विभाव इसकी उत्पत्ति में सहायक होता है। शृंगार के उद्दीपन विभाव इस प्रकार बतलाए गये हैं।

जाके देखे अरु सुने, रस उद्दीपन होय।
उद्दीपन सुविभाव तिहि, कहहि सुकवि सब कोय॥
सखी दूतिका अरु सखा, नख-सिख-छवि इक अङ्ग।
षट-ऋतु पानी पौन हूँ, रहस राग औ रंग॥
सरिता बाग तड़ाग बन, चँद चाँदनीं लेय।
षट भूषन शोभा प्रभा, सुख दुख सब कहि देय॥
सविता कविता सौरभ हु, नृत्य वाद्य चित चाह।
यहि बिधि औरो जानिये, उद्दीपन कविराय॥

अर्थात् जिसके देखने और सुनने से रस का उद्दीपन होता है, उसे उद्दीपन विभाव कहते है। सखी, दूतिका, सखा, नख-सिख की छवि, षट-ऋतु, पानी, पवन, तड़ाग, वन, चन्द-चाँदनी, वस्त्रा-भूषण, शोभा, सूर्य, कविता तथा सुगन्ध इत्यादि ये सब उद्दीपन-विभाव कहे जाते हैं।

सखी का लक्षण और उसके प्रकार कवि 'चिरजीवी' से इस प्रकार बतलाते हैं।

जेहि नारी से नायिका, कछु न दुरावे भेद।
सखी सु चारि प्रकार की, वरनहिं सुकवि अखेद॥
प्रथम कही हित कारनी, दुतिय सु व्यंग विदग्ध।
अन्तरंग बहिरंगिनी, तृतिय चतुर्थ सु लब्ध॥

देवजी ने सखी का इस प्रकार लक्षण दिया है:—

बहु विनोद भूषन रचै, करै जो चित्त प्रसन्न।
पियहि मिलावै उभहि सों, रहै सदा आसन्न॥
पति सों देइ उराहनो, करै सदा अस्वास।
ऐसी सखी बखानिये, जाके जिय विस्वास॥

चारों प्रकार की सखियों के लक्षण 'चिरजीवी' से दिये जाते हैं:—

१. हितकारिणी—

छल तज करै हितार्थ जो, निज मन-बच-क्रम-काय।
ताहि सखी हितकारिनी, कहहिं सकल कविराय॥

'तोषनिधि' ने हितकारिणी का इस प्रकार लक्षण दिया है—

भूषन करि ढारति चमर, आरति लेति उतारि।
देति दिठौना दीठि उर, ईठ सुरूप निहारि॥

(२) व्यङ्ग विदग्ध:—

करै व्यङ्ग ते चतुराई, वाक्य न बूझ्यो जाय।
ताको व्यङ्ग विदग्ध सखि, कहहिं सकल कविराय॥

(३) अन्तरङ्ग:—

जा के गूढ़ क्रियान को, दुतिय न जाने भेद।
अन्तरङ्गिनी सखी तेहि, बरनहि बुद्धि अखेद॥

(४) बहिरङ्गिनी:—

जाकी क्रिया प्रकट रहै, सब समुझै अनयास।
बहिराङ्गनी सखी तिन्है, भाषहि बुद्धि विलास॥

सखी सखा और दूती, नायक-नायिकाओं के मिलन तथा उनके प्रेम-वर्णन एवं आनन्दोपभोग में सहायक होने के कारण, उद्दीपन विभाव माने गये हैं। सखी और दूती दोनों सहायक

हैं; किन्तु सखी का, बराबरी का दर्जा होता है। उसमें प्रेम का आधिक्य होता है। वह जो कुछ करती है नायिका के प्रेम से करती है। सखी प्रायः स्वकीयाओं की होती है तथा दूती परकीयाओं की। जो सखी छल को तज मन, वचन और काया से अपनी नायिका का हित करती है उसे हितकारिणी कहते हैं। व्यङ्गविदग्धा वाक्-चातुर्य से नायिका-विनोद और हित-साधन करती है। वह उससे हर प्रकार का हँसी-मजाक कर सकती है। अन्तरङ्ग सखी जो नायक-नायिका के उन गूढ़ रहस्यों एवं दाँव-पेंचों को जानती है, जो दूती को ज्ञात नहीं हो सकते। बहिरङ्ग सखी वही बातें जानती है जो कि सब जानते हैं। सखी को अपनी ओर मिला लेना मान-मोचन का एक उपाय माना गया है। इसको साहित्य की पारिभाषिक भाषा में भेद कहा है—

सखी के कार्य इस प्रकार बतलाए गए हैं:—

मण्डन अरु शिक्षा करन, उपालम्भ परिहास।
काज सखी के जानियो, औरो बुद्धि विलास॥

—मतिराम

मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास यह सखी के मुख्य कार्य हैं। हर प्रकार के बुद्धि-कौशल्य प्रकट करना यह तो उसका काम है ही। मण्डन श्रृंगार को कहते हैं। देखिये:—

तिय को होत सिंगार जो, षोड्स विधि मन लाय।
कहहिं सु मण्डन कार्य तेहि, सकल सुकवि समुदाय॥

केशवदासजी ने सोलह श्रृंगार इस प्रकार बतलाए हैं—

प्रथम सकल शुचि मज्जन अमल बास,
जावक सुदेश केश-पासनि सुधारिबो।

अङ्गराग भूषन विविध मुख बास राग,
कज्जल कलित लोल लोचन निहारिबो ॥
बोलनि हँसनि चित चातुरी चलनि चारु,
पल पल प्रति पतिव्रत परि पारिबो ।
"केशोदास" सविलास करहु कुँवरि राधे,
यहि बिधि सोलह सिंगारनि सिंगारिबो ॥*

मण्डन का 'बेनी-प्रवीन' ने इस प्रकार उदाहरण दिया है—

मञ्जन कै दृग अञ्जन दै मृग, खञ्जन की गति देखत भूली ।
'बेनिप्रवीन' अभूषन अम्बर, सो ओउ अंगन के अनुकूली ॥
राधे को आज सिंगार्यो सखी न, तिलोक की कोऊ तिया सम तूली ।
सोने की बेलि सुगंध समूह, मनो मुकता-मनि फूलन फूली ॥

शिक्षा—

सखी सिखावन देइ जो, तिय के ढिग कछु आय ।
शिक्षा कारज कहहिं तेहि, सकल सुमति हरषाय ॥

सखियाँ नायक नायिकाओं के परस्पर मिलन और मान-मोचन मे सहायक होती हैं । इस कार्य के लिये वह अनेक प्रकार

---

* सोलह सिंगार इस प्रकार से हैं:—

(१) शुचि-दंतधावन इत्यादि, (२) मज्जन-स्नान, (३) अमल-वास—स्वच्छ वस्त्र, (४) जावक-महावर, (५) केश-पाश सुधारना, (६) अंगराग-अङ्गों में विविध रङ्गों से कुछ चिह्न बनाना, अङ्गराग के अन्तर्गत पाँच और शृंगार हैं । (७) माँग में सिंदूर भरना, (८) गाल और ठोढ़ी पर तिल बनाना, (९) उरस्थल पर केशर लगाना, (१०) हाथों में मेंहदी लगाना, (११) पुष्प-भूषण, (१२) स्वर्ण-भूषण, (१३) मुख वास, इलायची, लवंगादि का देना, (१४) दाँतों को मिस्सी से रंगना, (१५) होंठों को ताम्बूल से रंगना, (१६) नेत्रों में कज्जल देना । —प्रिया-प्रकाश

की शिक्षा दे अपना कार्य सम्पादन करती हैं। कभी वे शिक्षा से काम लेती हैं और कभी उपालम्भ तथा परिहास से। नायक को रिझाने की विधि आदि शिक्षा में सम्मिलित है।

शिक्षा के उदाहरण:—

कत सजनी ह्वै अन मनी, असुँवा भरति ससंक।
बड़े भाग नन्दलाल सों, झूठहु लगत कलंक॥

—मतिराम।

लाज घट जैहैं गृह काज घट जैहै,
सुख साज घट जैहै रूपराज घट जायगो।
कानि घट जैहै मृदु बानि घट जैहै,
सकुचानि घट जैहै उर ज्ञान घट जायगो॥
रसिक बिहारी ढीठ छैल सब ही को छलै,
ताको छबि देख पति धर्म घट जायगो।
तन घट जैहै अरु मन घट जैहै,
अरी पनघट जैहै वाको पनघट जायगो॥

—'रसिक बिहारी'

मोंहि भरोसो रीझि है, उझक झाँकि इक बार।
रूप रिझावन हार वह, ये नैना टिझवार॥ बिहारी—

बारिही बैस बड़ी चतुरी हौ बड़े, गुन 'देव' बड़ी ये बनाई।
सुन्दरि हौ सुघरी हौ सलोनी हौ, शील भरी रस रूप सनाई॥
राज बहू बलि राज कुमारि, अहो सुकुमारि न मानौ मनाई।
नैसुक नाह के नेह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई॥

यह शिक्षा मान-मोचन के सम्बन्ध में है। वास्तविक में नायक का प्रेम, नायिका के सौंदर्य को बढ़ाता है। सौंदर्य वस्तुगत अवश्य है, किन्तु वह बहुत कुछ द्रष्टा के ऊपर निर्भर

है। तमाशाई ही तमाशे की शोभा को बढ़ाते हैं। किसी उर्दू कवि ने कहा है कि "वह तमाशा ही नहीं जिसका कोई तमाशाई नहीं" कविवर बिहारीलालजी ने नीचे के दोहे में प्रेम तथा सौंदर्य का सम्बन्ध दिखलाया है। देखिये:—

जद्यपि सुन्दर सुघट पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकाश करै तितौ, भरिये जितौ सनेह॥

उपालम्भ:—

पिय हित तिय, तिय हित पियै, सखि जु उराहन देइ।
उपालम्भ कारज तिन्हैं, सकल सुकवि लखि लेइ॥

उपालम्भ के कुछ उदाहरण:—

दया करि चितै चित हित को चुराय लियो,
फिरि हित चितये न यही सोच नित है।
दिलदार जन पर बस में बसे जे तिते,
तेसुक न चाव निसि-बासर चकित है॥
देखे टक लागे अन देखे पलकौ न लागे,
देखे अनदेखे नैना निमिष रहत हैं।
सखी है जु कान्ह तुम्हैं काहू कीन चिन्ता वह,
देखे दुखित अनदेखेहू दुखित है॥

—आलम।

पान की कहानी कहा पानी को न पान करै,
आहि कहि उठति अधिक उर अधिकै।
कवि 'मतिराम' भई विकल बिहाल बाल,
राधिके जिवाव रे अनंग अब राधि कै॥
याही को कहायो ब्रजराज दिन चार ही मैं,
कारी है उजारि ब्रज ऐसी रीति नाधि कै।

जैसे तुम मोहन विलोक्यो वाकी ओर तैसे,
बैरि हूँ सो बैरी न बिलोकै बैर साधि कै ॥
—मतिराम ।

इसमें उपालम्भ अन्तिम चार पंक्तियों में है। ब्रज-राज तो कहलाते हो, और ब्रज को उजार किये देते हो ?

चिरजीवी का दिया हुआ उदाहरण देखिये:—

जाके लिए धर्‍यो जग अजस-पेटारी सीस
लीनी अपवाद पै न एक छिन छाड़े साथ ।
तापै बिना काज आज रूठे से बनै हौ लला,
न जानै कहा धौ बसी उर में तिहारे नाथ ॥
कहै 'चिरजीवी' एती मानिए हमारी कही,
लाड़ली खड़ी है उतै उर लौं नवाये माथ ।
चलिए उतै ही अब खोलिए हिए की गाँस,
आपनोई सीचो कोऊ काटत न निज हाथ ॥

परिहास का लक्षण इस प्रकार से है:—

बिहँसि परै जब नायिका, जिहि सखि काज निहार ।
कहहिं काज परिहास तेहि, सकल सुकवि निर्धार ॥

यह कार्य प्रायः व्यङ्गविदग्धा का होता है। परिहास के उदाहरण देखिये:—

रूठि के सोय रहे अँगना पिय, चोवरि चूकि तिया गहरानी ।
सोवत बन्दन बेंदी दई गूंदि, 'बेनी प्रवीन' सखी बहरानी ॥
भोरहि आय उठे अलसात वै, आरसी सामुहै लै ठहरानी ।
कान्ह कछू सकुचे मुसकाय, हँसी लखि मन्दिर में महरानी ॥
—बेनी प्रवीन

लाय बिरी मुख लाल के, स्वै चलई जब बाल।
लाल रहै सकुचाय तब, हँसी सबै दे ताल॥

प्रभा तरोना लाल की, परी कपोलनि आन।
कहा छिपावत चतुर तिय, कंत दंत छित जानि॥

चन्दन लग्यो कपोल में, पोंछ डारिये बाल।
लोक लगेगी ठीक यह, लगत पीक सी लाल॥

दूती

दूती का लक्षण इस प्रकार से दिया गया है:—

जो नायक अरु नायकहि, देइ अवश्य मिलाय।
ता को दूती कहत हैं, सकल सुकवि मन लाय॥

और भी देखिये:—

मिलि न सकैं जे तिय पुरुष, तेहि चित हित उपजाय।
छल बल आन मिलावई, सो दूती ठहराय॥

साहित्य-दर्पण में दूती के गुण इस प्रकार बतलाये हैं:—

कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः।
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः॥

अर्थात् कलाओं में कुशलता, उत्साह, स्वामिभक्ति, दूसरों के चित्त की बातों को समझ लेना, अच्छी स्मृति, माधुर्य, वक्रोक्ति आदि में कौशल, वाक्पटुता यह सब दूतियों के गुण हैं। दूती का कार्य नायक नायिका को मिला देना है। दूती के जो गुण हैं वह सब कार्य-सिद्धि के हेतु परमावश्यक हैं। प्रेमियों के लिये रूठी हुई प्रेयसी को मनाना साम्राज्यों के उत्थान पतन से भी अधिक महत्व रखता है। इसीलिये उनको ऐसी सर्वगुणसम्पन्ना

दूती की आवश्यकता रहती है, जो उनसे भी अधिक संलग्नता से कार्य सम्पादन कर सके। इन्हीं गुणों के न्यूनाधिक्य के कारण दूतियों के उत्तमा, मध्यमा और अधमा रूप से तीन भेद किये गये हैं।

उत्तमा का लक्षण—

मोहै जो मृदु बोलिकै, मधुर बचन अभिराम।
ताहि कहत कविराज हैं, उत्तम दूती नाम॥

उत्तम दूती वही है जो बिना सिखाए ही, जिसने भेजा हो उसका कार्य पूर्ण करने में कोई कसर न रखती हो। इसका मतिराम जी क्या ही उत्तम उदाहरण देते हैं। देखिये:—

तिय के हिय के हनन कौ, भयो पंचसर वीर।
लाल तुम्हैं बस करन कौं, रहे न तरकस तीर॥

एक और उदाहरण देखिये, कैसी वकालत करती है—

जा दिन ते देखे 'मतिराम' तुम ता दिन तै,
बढ़ी रहै मुसकानि काके जियराई पर।
भावत न भोजन बनावत न आभरन,
हेतु न करत सुधा-निधि सियराई पर॥
चलौ उठि देखो बड़े भाग हैं तिहारे अब,
राखो घटि राधिकै कन्हाई हियाराई पर।
दूनी दुति छाई देह आई दुबराई पिय,
राई लौन वारिये तिया की पियराई पर॥

मध्यमा का लक्षण—

रीझि रही रिझवार वह, तुम ऊपर ब्रज नाथ।
लाज सिन्धु की इन्दरा, क्यों कर आवे नाथ॥

मध्यमा दूती वह है जो सिखा देने पर भी थोड़ा सा नमक-मिर्च लगा कर हित साधन करे। उसमें इतनी बुद्धि तो नहीं होती कि वह अपने आप ही यथायोग्य संदेसे को कह दे। किन्तु भेजे हुए संदेसे को भली-भांति कह देगी।

मध्यमा दूती का उदाहरण देखिये—

चार ही द्योस को चैन इतै यह, जोबन काहे जोगावति अङ्क है।
फेर तो अङ्क हू लागे बिना ह्वैहै, पङ्क सखी सो कथा निरशङ्क है॥
याते तुम्हें 'चिरजीवी' कहै उतै, कान्ह बेहाल परयो परजङ्क है।
मान लै मेरी कही ए भटू इहि, बैस में काहे को लेति कलङ्क है॥

अधमा दूती का लक्षण—

अधम दूतिका जानिये, बचन कहत सतराय।
ग्रन्थन को मत देखि कै, बरनत सब कविराय॥

अधमदूती वह है जो वैसा ही कह दे जैसा उसे बतलाया जावे, उसमें अपनी ओर से न कुछ घटावे न बढ़ावे। मौका देख कर वह कार्य सम्पादन करने में सर्वथा असमर्थ रहती है। अपनी बुद्धि का कुछ भी उपयोग नहीं कर सकती। यद्यपि संदेसा भेजनेवाली या वाला अपनी अज्ञानता के कारण कुछ भूल कर दे तो वह भूल सुधारी नहीं जायगी। इसका उदाहरण इस प्रकार से है—

जोबन मण्डित आपनै, अजौ न जानत गात।
तो चित में अति चटपटी, निपट अटपटी बात॥

उत्तमा ने नायिका को कामासक्त बतलाया किन्तु उसी के साथ कामदेव पर व्यङ्ग कर दिया कि वह कमज़ोर पर ही

वीरता दिखाता है। न्याय तो यह था कि नायक को उतना ही तंग करता और उसकी सखी इतनी विरह-व्याकुल न रहती। इस बात को उसने कितने विदग्धतापूर्ण शब्दों में कहा "लाल तुम्हें बस करन को, रहे न तरकस तीर"। मध्यमा, बात को स्पष्ट कह देती है। यद्यपि उसमें नायक का पक्ष कुछ घटता है। वह रीझ रही है, वह रिझवार है किन्तु लाज के वश अपना भाव नहीं प्रकट करती है। उसने नायिका की विवशता दिखाई और साथ ही साथ उसको लाज-सिन्धु की लक्ष्मी कह कर, उसकी प्रशंसा भी कर दी। अधमा, नायिका की तारीफ तो थोड़ी करती है किन्तु बुराई बहुत। नायक की रुचि पर आश्चर्य प्रकट कर नायिका को अयोग्य सिद्ध करती है। उत्तमा, दूती बन कर काम नहीं करती वरन् अपनी ही ओर से काम करती है। वह अपनी ओर से नायक को नायिका का ज्ञान करा देती है। मध्यमा भी करती ऐसा ही है किन्तु वह उत्तमा, की बराबर नायिका के पक्ष की श्रेष्ठता नहीं बतला सकती। अधमा एक प्रकार से बेगार सी टालती है। वह कर्तव्य मात्र करती है और ऐसा करने में कभी कभी कार्य को बिगाड़ देती है। वह यह कहने में भी सङ्कोच नहीं करती है कि वह भेजी हुई आई है। इतना ही नहीं कि उसको गर्व के मद में चूर बता कर और यह कह कर कि तेरी ऐसी नायिका उसके घर पानी भरती है, नायिका के अभिमान को आघात पहुँचाती है और अपने भेजे हुए नायक का भी पक्ष गिरा देती है। इधर तो नायिका से कहती है कि गरूर न कर उधर यह भी कहती जाती है कि नायक बहुत दीन है देखिये, नीचे का उदाहरण।

बार बार पठई सम्हार नँदनन्द मोको,
तोको ना सुबूझ आई अबलों सोहाई का।
यौवन गरूर के सरूर में भई है चूर,
दूर कर आली ऐसी उकति अघाइ का॥
कहै 'चिरजीवी' तोसो कान्ह की कहूँ मैं कहा,
जोपै तोपै दीन ह्वै परे हैं मन भाइ का।
मान लैरी मान तजि मान को सयानी इतै,
पानी भरैं प्यारी केती तेरे ऐसी नाइका॥

दूतियों के तीन भेद और किये गये हैं। उनका नामोल्लेख ही पर्याप्त होगा:—

हिता हितै की अहित, हिताहिता सो जानि।
अहितै अहिता कहत हैं, उदाहरन में मानि॥*

दूती के कार्य:—

स्तुति अरु निन्दा विनय पर, विरह निवेदन मानि।
पुनि प्रबोध संघटन षट, दूती कारज जानि॥

स्तुति प्रशंसा को कहते हैं। स्तुति का उदाहरण इस प्रकार से है:—

करपूर की दीप सिखाइ दवै चँपै चाँदिनी चन्द रहै नित शङ्क मैं।
अलबेले उरोज लसैं उर पै धसैं प्रान लौं जोपै लगै कहुँ अङ्क मैं॥
'चिरजीवी' सुहाग भरी पिय की धनु मैन लजै तुम्हरे भ्रुव बङ्क मैं।
लुटि लेति हौ लाखन को मन बुद्धि लजाति सी बैठी प्रिया परजङ्क मैं॥

---

* (१) हितवान (२) अहितवान (३) हिताहितवान।

और देखिये:—

दयति देह छबि गेह की, किहि विधि बरनी जाय।
जैसे चपला गगन ते, छिति पर फरकति आय॥
मुख ससि निरखि चकोर अरु, तन पानिय लखि मीन।
पद पंकज देखत भंवर, भये नयन रस लीन॥

निन्दा का लक्षण इस प्रकार से है:—

तिय की निन्दा कर जबै, दूती साधे काज।
निन्दा कारज करहि तेहि, कवि कविता कविराज॥

निन्दा का उदाहरण इस प्रकार से है:—

जानिके झूठहि रोगी बनै तो, कहो कोऊ कैसे करै उपचार है।
जागत ही रहे सोय सखी तिन्है, कैसे जगावै कोउ गुनवार है॥
क्यों 'चिरजीवी' कहै उन सों जो, सुनै कितनो न करै एकबार है।
आय रहै घर में दबकी औ, झँकायो करै नित कान्ह को द्वार है॥

इस निन्दा में नायिका को यह बतला दिया जाता है कि तेरी यह दशा तेरे ही हठ के कारण है। तू हठ छोड़ दे तो तेरी यह व्यथा की दशा दूर हो जावे।

विनय का लक्षण इस प्रकार से है:—

तिय सों बिनती करि जबै, दूती साधै काज।
ताहि विनय कारज कहै, सकल सुमति कविराज॥

इसका उदाहरण इस प्रकार से है:—

बड़ भागिनी रूप की राशि प्रिये, अनरीति हिये ते बहाइये जू।
अब प्रीति के पन्थ महानिधि में, अबला अपने चित लाइये जू॥
'चिरजीवी' तुम्है कर जोरे कहै, जनि लाड़ले को बिसराइये जू।
इन नैन के बानन मार्यौ जिन्है, तिन्है रूप सुधा सो जिआइये जू॥

विरह निवेदन—इसका लक्षण इस प्रकार से है:—

नायक विरह कहै जबै, तिय पिय दूती जाय।
विरह निवेदन काजे तेहि, कहहि सकल कविराय॥

यह कार्य दोनों ओर से होता है, नायिका का विरह नायक पर और नायक का नायिका पर। नायक का विरह-निवेदन देवजी से दिया जाता है:—

वरुणी बघम्बर में गूदरी पलक दोऊ,
कोये रोते बसन भगौंहे बेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि हू जागी भौंहे,
धूम सिर छाये विरहा नल बिलखियाँ॥
आँसु वा फटिक माल लाल डारी सेवी पेन्हि,
भई है अकेली तज चेली संग सखियाँ।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये संयोगिन ये,
जोगिन ह्वै बैठो वियोगिन की अँखियाँ॥

विरह-निवेदन के बिहारी के भी अच्छे उदाहरण हैं, देखिये:—

जो वाके तन की दसा, देख्यो चाहत आपु।
तो बलि नेकु विलोकिये, चलि औचक चुपचाप॥
कहा कहौं वाकी दसा, हरि आनन के ईस।
विरह ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस॥

बिहारी—

एक उदाहरण और भी देखिये:—

कहा कहौं वाकी दसा, जब खग बोलत राति।
'पीव' सुनत ही जियत है, कहाँ सुनत मरि जाति॥

पद्माकरजी का एक उदाहरण देखिये:—

दूरहि ते देखति बिथा मैं वा वियोगिनी की,
आई दौरि भाजि ह्यां इलाज मढ़ि आवेगी।
कहैं पद्माकर सुनो हो घनस्याम ताहि,
चेतत कहूँ जो एक आहि कढ़ आवेगी।
सर सरतानि को न सूखत लगेगो देर,
ऐती कछु जुरुमिन ज्वाल बढ़ि आवेगो।
ताके तन ताप की कहौं मैं कहाँ बात मेरे,
गात ही छुए ते तुम्हें ताप चढ़ि आवेगी॥

एक दूती की और उक्ति देखिये:—

महिला सहस्र भरिते तव हृदये सुभग! सा अमान्ति।
अनुदिनमनन्यकर्मा अंग तनु मयि तनू करोति॥

अर्थात् तेरे हृदय में बहुत सी महिलाओं को स्थान मिल चुका है, वहाँ बड़ी भीड़ है। भीड़ में प्रविष्ट होने के लिए दुबले-पतले आदमी की ज़रूरत है। इसीलिये वह अपने पतले शरीर को और भी पतला कर रही है, जिससे तेरे हृदय में स्थान मिल जावे। क्या ही उत्तम उक्ति है!

प्रबोध का अर्थ है जतला देना या बतला देना। इसका लक्षण इस प्रकार से है:—

तियहि प्रबोध जु दूतिका, साधै अपनो काज।
तेहि प्रबोध कारज कहैं, सकल सुकवि सिरताज॥

इसका उदाहरण इस प्रकार से है:—

मन्द सो करत मुख-चंद चन्द हू को जाको,
चामीकर बरन बिसेष छवि छाइका॥

काढ्यौ सो परत कुच कञ्ज कञ्चुकी ते जाके,
केश कमनीय राजैं सुकटि सोहाइका ॥
कहैं 'चिरजीवी' नेकु डर्‌यौ ना डराये वाके,
भौंहनि मरोरि जो डरावै सुखदाइका।
होय के निशङ्क भूरि भरियो सुअङ्क आज,
आवेगी अनोखी ओ अनङ्ग भरी नाइका ॥

संघटन का लक्षण इस प्रकार से दिया जाता है:—

तिय पिय को जु मिलाय दै, दूती छल बल साध।
काज संघटन कहहिं तेहि, कविगन बुद्धि अगाध ॥

कविवर बिहारी से कुछ संघटन की युक्तियों का उदाहरण दिया जाता है:—

हरि-हरि बरि-बरि करि उठत, करि-करि थकी उपाय।
वाको जुर बलि वैद्य जू, तो रस जाय सुजाय ॥
वे ठाढ़े उमदाहु उत, जल न बुझे बड़वागि।
जाही सों लाग्यो हियो, ताही के उर लागि ॥

× × ×

सोने की सी डार सुकुमार वारे हैं सेबार,
सुन्दर सुवरन की भूठी समानी है।
मोतिन को माल मोती बेसर को लेत हाल,
मोतिन से दसन मुख मोती को सो पानी है ॥
ल्याई हो बुलाय के बलाय लेउ लाल बाल,
देखत हो भलो मेरो मानि हौ मैं जानी है।
नैन सुख दैन चित चैन होत सुनै बैन,
ऐन मैन मैनका कि मैन ही की रानी है ॥

गोरी को जु गुपाल को, होरी के मिस लाय।
बिजन साँकरी खोर में, दोऊ दियो मिलाय ॥

क्या अच्छी उक्ति है ! और भी देखिये:—

रमनी रमन मिलाय सो, दूती रहत बराय ।
घन दामिनि को जोरिकै, ज्यों समीर रहि जाय ॥

× × ×

यह बिनसत नग राखि के, जगत बड़ो जस लेहु ।
जरी विषम जुर ज्याइये, आय सु-दरसन देहु ॥—बिहारी

× × ×

दूती का कार्य सहायता देने का ही है। उसके सहारे जब प्रेम पक्का हो जाता है फिर उसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। दूती का कार्य प्रायः वियोगावस्था में ही रहता है। कविवर बिहारी ने ठीक ही कहा है कि जब तक प्रेम की डार पक्की नहीं होती तभी तक दूती रूपी नीचे के ढाँचे (कलाबत्तू) की आवश्यकता रहती है, फिर वह अनावश्यक हो जाती है। देखिये:—

कालबतू दूती बिना, जुरै न आन उपाय ।
फिर ताके टारै बिना, पाकै प्रेम लदाय ॥

दूतियों का जाति-भेद के आधार पर भी विभाग किया गया है लेकिन उसमें कोई विशेषता नहीं। विशेषता केवल इतनी है कि उनको अपने व्यवसाय (मालिन, धोबिन) के मिस नायिका के गृह में प्रवेश का सुअवसर मिल जाता है। उनका यहाँ पर विस्तार-भय से वर्णन नहीं किया है। स्त्रियाँ अपने लिए स्वयं भी दूतपन का काम करती हैं। उनको 'स्वयंदूतिका' कहते हैं। उनका भी दो एक उदाहरण पेश करते हैं। स्वयं दूतिका—

देखिए यह गुलाब कवि की उक्ति है:—

अब दोय घरी दिन शेष रह्या, पथ जात 'गुलाब' सुठीक नहीं ।
नजदीक न ग्राम उजार महा, मग लूटत लोग अथै दिन हीं ॥
इहि ठाँ बहुधाम सरै सब काम, तमाम मिले वर वस्तु सही ।
तुम जाहु न जाहु करौ जु रुचै, सुदया धारि मैं हित बात कही ॥

× × × ×

बसो पथिक या पौर में, यहाँ न आवे और ।
यह मेरो, यह सास को, यह ननदी को ठौर ॥

सखा

लक्षण:—

सखा को नर्म सचिव भी कहते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार है:—

जो नायक अरु नायिकहिं, देइ मिलाय सुजान ।
ताको सखा सम्हारि उर, कविजन कहैं बखान ॥

प्रकार:—

पीठमर्द विट चेट पुनि, बहुरि विदूषक होय ।
चार प्रकार सखा यही, कहहिं सुकवि सब कोय ॥

पीठमर्द:—

अवसि छोड़ावै मान जो, तिय को कौनिहु यत्न ।
पीठमर्द ताको कहै, सखा सुकवि गुन-रत्न ॥

एक पीठमर्द की उक्ति सुनिये:—

नँदनन्द की रीति कहै को अली, बिगरे जस हैं सो सुनैयत हैं ।
निज गाँव की ग्वारी गुवालिनी हूँ, पै लुदै जो सुने सरमैयत हैं ॥
चिरजीवी चलो उठो मान तजो, सजो भूषन ये जो बनैयत हैं ।
तुम्हरे ही विलोकत चन्दमुखी, हम कैसो उन्है सरमैयत हैं ॥

नायक को शर्मा देने के लिए तो नायिका मान छोड़कर अवश्य ही जायगी। इसी मानसिक परिस्थिति का सखा लाभ उठाता है।

विट का लक्षण—

काम उदीपन करन मैं, जो सब कला प्रवीन।
ताहि सखा विट कहत हैं, सकल सुमति रसलीन॥

एक विट की उक्ति देवजी से सुनिये—

बैठि कहा धरि मौन वधू, रंग भौन तुम्हैं बिन लागत सूनो।
चातिक लौ तुमही रटै देव, चकोर भयो चिनगी करि चूनो॥
साँझ सोहाग की माझ उदै करि, सौति सरोजन को बन लूनो।
पावस ते उठि कीजिये चैत, अमावस ते उठि कीजिये पूनो॥

विट लोग यह जानते हैं कि कौन से उद्दीपन नायिका के मन को फेर कर मान-मोचन करा सकते हैं। वे उन उद्दीपनों के उपस्थित करने में चतुर होते हैं। पावस का आगमन प्रायः मान-मोचन करा देता है। इसलिये वह मलार राग गाकर पावस की स्मृति करा देता है और मान-मोचन हो जाता है। देखियेः—

धन्य राग रागिनी प्रभेद गुनिगन धन्य
धन्य सुर ग्राम जाते जड़ चित चोवै है।
धन्य ताल अकथ अनेक मुर्छन धन्य
धन्य तन्त्र विधि जो सब जग जोवै है॥
कहै चिरजीवी रूठी बाल को विलोकि छोरौ
अलाप्पौ जो सबेही मन भोवै है।
सुनिकै मलार लागी पूछन सखा सों एरे
आजकाल्ह निसि मैं कन्हैया कहाँ सोवै है॥

चेटक का लक्षण:—

दुहुन मिलावै युक्ति सो, व्यर्थ न होवै काज ॥
ताको चेटक सखा कहि, करहिं ख्याति कविराज ॥

चेटक की उक्ति का उदाहरण:—

तुमने चुराई कहाँ बाँसुरी गुपाल जू की,
जो सुनि हमारो हियो आग भयो जात है।
सदा के जु चोर सो हैं तोहू को कहत चोर,
आजलौं न सुन्यो एसो अजस अघात है ॥
कहै चिरजीवी ताते तोसू हों कहत प्यारी,
सुनिकै हमारी उठै औसर नसात है।
चलिकै न पूछै इतै जड़ सी खड़ी है कहाँ,
पूछे बिन बात केती साची होइ जात हैं ॥

नायक को चोर बताकर नायिका को अपना सावपना प्रमाणित करने के लिए नायक के निकट जाने को उत्तेजना दी गई है। वहाँ तक पहुँचने की ही आवश्यकता थी।

विदूषक लक्षण:—

सकल नकल करि विविध विधि, हास्य करै सञ्चार।
ताहि विदूषक सखा कहि, बरनहि सुकवि उदार ॥

विदूषक का कार्य हास्य-विनोद से दम्पति का चित्त प्रसन्न रखना है। विदूषक अपने हास्य से विरह को भी सह्य बना देता है। शकुंतला के पाठकों को माडव्य का स्मरण होगा ही। मान में भी मानिनी को हँसा कर विदूषक मान-मोचन में सहायक बनता है और अपना सखात्व सार्थक करता है।

विदूषक की कृति का चिरजीवी से उदाहरण दिया जाता है।

रूप बनि नारी को मनावन प्रिया को बाल,
आयो उठि प्रात ही सो आनँद खुदै भयो।
लाग्यौ कहै कम्पित कुशल बुद्धि नागरी सो,
लाल सुन प्यारी आज हमते जुदै भयो॥
कहै चिरजीवी ऐसी बैन सुनते ही बाल,
घूँघट उघारि हँसी मङ्गल मुदै भयो।
सुषमा को साज सारे सुख को समाज आज,
मानो सुधा श्रोत सो सुधाकर उदै भयो॥

नखशिख

प्रथक प्रथक प्रति अङ्ग की, छबि नख-सिख परयन्त।
जह वां वरन्यौ जाय तेहि, कह नख-सिख बुधवन्त॥

नखशिख पर हिन्दी कवियों ने बहुत लिखा है। यहाँ तक कि ब्रजभाषा इसके लिये बदनाम हो गई है। जरा वर्तमान काल के प्रतिभाशाली छायावादी कवि श्रीयुत सुमित्रानन्दन पंत जी की व्यङ्गोक्तियों को देखिये:—

"शृंगारप्रिय कवियों के लिये शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर नायिका के अङ्ग प्रत्यङ्ग से लिपट गई। बाल्य-काल से वृद्धावस्था पर्यन्त—जब तक कोई 'चंद्र—बदनि मृग-लोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कह दे—उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी-ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्वव्यापी अनु-

भूति! ऐसी प्रखर प्रतिभा! एक ही शरीर यष्टि में समस्त ब्रम्हाण्ड को देख लिया।"

'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का नियम साहित्य में भी लागू होता है। जब कोई चीज़ 'अति' को पहुँच जाती है तभी उसके प्रतिकूल ज़ोरदार आवाज़ उठाने की जरूरत पड़ती है। जो बात नायिका-भेद के सम्बन्ध में कही गई थी, वही यहाँ पर कहना अनुपयुक्त न होगा। माना कि जिस सूक्ष्मग्रीच्चणी प्रतिभा ने नायिका में ही सारा सौर-चक्र देख कर पत्रा को अनावश्यक कर दिखाया, रति-कार्य को संग्राम रूप मान उसमें पीछे रहने वाले बालों को दण्ड-विधान में ला बन्धन में डाला, दृष्टि को 'किबलनुमा' कहा अथवा विरहिणी के नेत्रों की बिरूनियों को वाघाम्बर बना योग का साज सजा दिया, शरीर को 'अनुपम बाग' के रूप में देखा और उसमें 'शुक', 'मीन', 'खञ्जन', 'सर्प' 'पर्वत', और 'तड़ाग', सब कुछ पाया! यदि विज्ञान की ओर झुकती तो क्या न कर डालती? किन्तु इसके लिये थी साधनों की आवश्यकता! प्रत्येक वस्तु के लिये उपयुक्त देश और काल की आवश्यकता रहती है। वह समय विज्ञान का न था। कवि अपने समय से थोड़ा आगे अवश्य जाता है। किन्तु वह अपनी परिस्थिति के बाहर नहीं जा सकता। आजकल की दृष्टि से प्राचीन कला में बुद्धि का दुरुपयोग हुआ, किन्तु अब उसको न पढ़ना उस दुरुपयोग को पराकाष्ठा तक पहुँचा देना है। यदि जिस किसी रुपये से प्रयोगशाला बन सकती उस रुपये से देव-मन्दिर अथवा सुरम्य उद्यान बनवा डाला तो उस मन्दिर या उद्यान की ओर न देखना उस रुपये की बिलकुल ही बरबादी

करना है। ताज महल में उपयोगिता नहीं, केवल सौंदर्य ही है, किन्तु लोग उसे देखने के लिये दूर-दूर से जाते हैं। बस, इसी प्रकार प्राचीन नख-शिख साहित्य का अनुशीलन है। नख-शिख पर और कुछ लिखे जाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु जो कुछ लिखा जा चुका है उसको अतीत के सागर-तल में विलीन होने देना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं। यहाँ यह बात उन्हीं लोगों के लिये है, जिनको कि साहित्यानुशीलन के निमित्त अवकाश है।

नख-शिख वर्णन का साहित्य में क्या स्थान है, और उसको उद्दीपन विभाव में क्यों रक्खा है; इस पर कुछ कहना आवश्यक है। जब नायक-नायिकाओं को आलम्बन में रक्खा है तो क्या उनके वर्णन में उनका नख-शिख नहीं आजाता? फिर, इसको उद्दीपन में क्यों माना? इसमें समुद्र और तरङ्ग का सा हिसाब है। समुद्र की तरङ्ग है न कि तरङ्ग का समुद्र। इसी प्रकार नायिकाओं के नख-शिख होते हैं न कि नख-शिख की नायिकाएँ। नायक आलम्बन है, क्योंकि उसके आधार पर रस की स्थिति है। नायिका का पूर्ण स्वरूप नायक के प्रेम के आधार पर होता है। किसी अङ्ग का सौंदर्य आकर्षण को बढ़ावे, चित्त को प्रसन्न करे, मन को वशीभूत कर ले, किन्तु वह नायिका का स्थान नहीं ले सकता। अकेला अङ्ग स्थान-भ्रष्ट-राजसत्व की भाँति शोभा नहीं देता। नख-शिख को आलम्बन का सहायक उद्दीपन रूप मान कर यह बात बतलाई गई है कि सौंदर्य एक वस्तु है। वह अङ्गों का समूह नहीं है। प्रत्येक अङ्ग की शोभा से भी सौंदर्य कुछ ऊँचा है। प्रत्येक अङ्ग

की शोभा सौन्दर्य को बढ़ावे, किन्तु उसका समूह नहीं है; वह समष्टि है, अंगी है, व्यष्टियों तथा अङ्गों का समूह नहीं। प्रत्येक अङ्ग की समता मिल भी जाती है किन्तु अङ्गी की समता नहीं मिलती। कविवर कालिदास जी ने बिरही यक्ष से क्या ही ठीक कहलाया है:—

श्यामास्वङ्गं चकितहिरणीप्रेक्षिते दृष्टिपातान्
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥

राजा लक्ष्मण सिंह कृत इसका पद्यानुवाद देखिये :—

मिले भामा तेरो सुभग तन श्यामा लतन में।
मुखाभा चन्दा में चकित हिरणी में दृग मिले॥
जलोर्मी में भौंहें चिकुर बरही की पुछन में।
न पै हों काहू में मुहि सकल तो आकृति मिले॥

अङ्ग-अङ्ग की शोभा मन को लगाए रखने में सहायक होती है। इसी हेतु नख-शिख उद्दीपन में रक्खे गए हैं। चिरजीवी ने इस समस्या को उठाया है और उसका इस प्रकार समाधान किया है :—

सकल अङ्ग बरनन किये, नारि अलम्बन होय।
बिस्तर या संक्षेप ते, कहत सुकवि सब कोय॥
एक अङ्ग बरनन किये, नख चख कर पद आदि।
उद्दीपन तेहि कहत हैं, सकल सुकवि प्रतिपादि॥

नख-शिख को उद्दीपन मान आचार्य्यों ने एक शास्त्रीय सिद्धान्त का तो अवश्य समर्थन किया, किन्तु उससे साहित्य

को एक हानि अवश्य पहुँची। वह यह कि लहरों में समुद्र खो गया, अङ्गों में अङ्गी विलीन हो गया। नख-शिख का वर्णन बहुत होने लगा, किन्तु साधारण सौन्दर्य्य का वर्णन बहुत कम हो गया। चन्द्रानन, खञ्जन गञ्जन नयन, विषधरवेणी बिम्बाधर, मुक्ता विनिन्दित दन्त, शुकनासिका, कपोत ग्रीवा, सिंह कटि, रम्भोरु और हंस गति चरणों के समूह में नायिका का सौन्दर्य्य खोजे भी नहीं मिलता। हाँ, उन लोगों की रुचि और सूझ का अवश्य पता मिल जाता है। ऐसे थोड़े ही छन्द हैं, जिनमें सौंदर्य्य का साधारण वर्णन मिले।

कविवर 'बिहारी' के निम्नलिखित दोहे में छबि का एक आदर्श मिलता है।

> अंग-अंग छबि की लपट, उपटति जात अछेह।
> खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह॥

"खरी पातरीहू तऊ लगै भरीसी देह" में शृंगार का सार रख दिया है। सौंदर्य्य का यह परिमाण न केवल शारीरिक सौन्दर्य्य पर ही लागू होता है वरन् प्रत्येक प्रकार के सौंदर्य में घटाया जा सकता है। पतले पन में सुन्दरता नहीं, और न मोटे पन में, सुन्दरता केवल "खरी पातरी हू लगै भरी सी देह" में है। थोड़े में बहुत सान्त में अनन्तता में ही सौंन्दर्य्य है। यदि सान्त वस्तु में उसका छोर दिखाई पड़ने लगे तो उसमें सुन्दरता नहीं रहती। सुन्दरता भी प्रीति की भाँति तिल-तिल नूतन होने की अपेक्षा रखती है। सौन्दर्य्य के अगाध सागर का पार नहीं मिलता। नेत्र ज्यों-ज्यों उसमें बूड़ते हैं त्यों-त्यों प्यासे ही रहते हैं। कविवर बिहारीलाल ने ठीक ही कहा है।

"त्यों त्यों प्यासेई रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाय,
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाय।

सौंदर्य्य निरीक्षण में कभी पूर्णता नहीं आती। सूरदास जी की सखी का मन गोविन्द का रूप निहारते निहारते नहीं थकता और वह विधाता की चूक पर पछताती है। सौंदर्य्य का यही प्रभाव है।

विधातहि चूक परी मैं जानी।
आज गोविन्दहुँ देख देख हौं, इहै समुझि पछितानी।
रचि-पचि सोच सँवारि सकल अँग, चतुर चतुरई ठानी॥
दीठि न दई रोम रोमनि प्रति, इतनहि कला नसानी।
कहा कहौं अति सुख दुइ नैना, उमँगि चलत भरि पानी॥
सूर सुमेर समाइ कहाँ धौं, बुधि बासिनी पुरानी।

और देखिये:—

सखीरी सुन्दरता को रंग।
छिन-छिन माहँ परत छबि औरे, कमलनयन के अंग॥
परमित करि राख्यो चाहति हौ, तुमहिं लागि डोलै संग संग।
चलत निमेष विशेष जानियत, भूलि भई मति भंग॥
स्याम सुभग के ऊपर वारौं, आली कोटि अनंग।
'सूरदास' कछु कहत न आवै, गिरा भई गति पंग॥

सौन्दर्य्य का सागर अनन्त अवश्य है किन्तु यदि वह अनन्तता मरुभूमि के रज-कणों की भाँति बिखरी रहे तब वह सौन्दर्य्य का कारण नहीं होती। जब वह अनन्तता संगठित हो सान्त में दिखाई दे, तभी वह नेत्रों के अभिराम का कारण बन सकती है। कृषता में सौन्दर्य्य तभी प्रतीत होता है जब

उसमें क्षण-क्षण पर छबि की छटायें दिखाई पड़ती हैं। स्थूलता में सौन्दर्य्य नहीं, क्योंकि वहाँ पर संगठन का अभाव हो जाता है। थोड़े में बहुत व गागर में सागर व सान्त में अनन्त तथा एक में अनेक की स्थिति में ह सौन्दर्य्य का रहस्य है। केवल एक-रसता में नीरसता, कोरी अनेकता में विरोध व संघर्षण है। जब वह अनेकता एक में संगठित हो जाती है तभी साम्य वा सौन्दर्य्य की उत्पत्ति होती है। वही नेत्रों को सुख देती है और वही मन को मुग्ध करती है। उसी के आगे संसार नतमस्तक होता है। सौन्दर्य्य में एक में अनेकता के अतिरिक्त दो गुण और आवश्यक हैं। एक यह कि वह प्रसन्नता का कारण है और दूसरा यह कि उसके आगे मनुष्य नतमस्तक हो अपने व्यक्तित्व को छोड़ने को तैयार हो जाता है। यह सब बातें एक दूसरे से कार्य्य कारण रूप में बँधी हुई हैं। रूप की व्याख्या करते हुए देव जी कहते हैं:—

> देखत ही जो बन रहे, सुख अँखियन को देय।
> रूप बखाने ताहि जो, जग चेरो कर लेय॥

इस दोहे में रूप के विषय में तीन बातें कही गई हैं।

(१) जिसको देखता ही रहे।

(२) जो आँखों को सुख दे।

(३) जो जग चेरो कर लेय।

पहली बात के सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं, रूप की पिपासा तृप्त नहीं होती। सच्चे सौन्दर्य में प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ नवीनता उत्पन्न होती रहती है। उसमें पूर्णता की अपूर्णता रहती है। जिस वस्तु में किसी बात की कमी नहीं, जिधर देखो

उधर कुछ न कुछ मिल जाता है, इसीलिये उसमें हमेशा 'और' लगा रहता है। जहाँ पर किसी बात की कमी प्रतीत हुई वहीं पर गति स्थगित हो जाती है। वहाँ पर आगे बढ़ने के लिये एक खाई उपस्थित हो जाती है किन्तु जो वस्तु सर्वाङ्गपूर्ण है, उसमें रुकने की जरूरत नहीं। दुखद वस्तु भी नए रूप धारण कर सकती है, किन्तु उसमें नेत्र स्वयं खोजने को नहीं दौड़ते। सौन्दर्य में नेत्र रूप के अवलोकन में विवश हो जाते हैं। देखिये देवजी क्या कहते हैं ?

धार में धाय धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसीं न अँधेरी।
री ! अँगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरी न, घिरीं नहिं घेरी॥
"देव" कछू अपनो बसुना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

इस छंद में देवजी ने अपनी साहित्यिक दृष्टि, रस-परिज्ञान अर्थगाम्भीर्य और शब्द-योजना-कौशल का पूर्ण परिचय दिया है। देखिये, रूप सागर में गोता लगानेवाली आँखों के विषय में कहते हैं कि रूप की "धारा में धाय" अर्थात् दौड़कर, धीरे धीरे, डरते डरते, नहीं, वरन् एकदम दौड़कर धस गईं। धसी से यह बतलाया है कि वह गिरी नहीं वरन् जान-बूझकर धस पड़ीं। धसीं भी कैसे ? निर्धार होकर ! जो वस्तु किसी आधार पर होती है वह थोड़ी रुकावट के साथ जाती है। जैसे किसी चीज़ के नीचे से आधार हटा लिया जावे तब वह बिना रोक-टोक नीचे ही चली जाती है। पहिले तो जान बूझकर धरती थी, क्योंकि प्रेम करने में मनुष्य स्वतंत्र होता है किन्तु एक बार आसक्ति हो जाने पर फिर मनुष्य विवश हो जाता है। इसीलिये

कवि कहता है कि जाकर वहाँ फँस गईं। पानी में जो वस्तु गिरती है वह एक बार ऊपर आती है, किन्तु मेरी आँखें ऐसी गिरीं कि ऊपर नहीं आईं। वह गहरे में गिरीं, उथले में नहीं गिरीं, जो उनके निकलने की आशा होती। इससे यह भी बतला दिया कि रूप का सागर अथाह है। जिस प्रकार घोड़ों को पकड़ कर लौटाया जाता है। उनके लौटाने का उद्योग किया गया, वह फेरे से भी नहीं फिरीं। जानवरों को घेर कर नियम वा बंधन में रखते हैं, किन्तु वह घेरने से हाथ में नहीं आतीं बेचारे अपनी पूर्ण विवशता बतलाते हैं। लाल के दर्शन के आनन्द के कारण एक बार देखा, फिर चेरी बन गईं। आँखें रूप के मधु में डूब गईं। रूप का माधुर्य शहद-सा मीठा होता है। कवि ने मधु-मक्खियों से उपमा देकर अपनी गहरी पैठ का परिचय दिया है। मक्खियाँ स्वयं ही शहद का निर्माण करती हैं तथा स्वयं ही उसमें फस जाती हैं। इस प्रकार रूप का माधुर्य बहुत कुछ दृष्टि की रुचि और प्रेम के ऊपर निर्भर है; किन्तु एक बार उसमें पड़ जाने पर फिर शहद में पर-सनी हुई मधु का मक्खी की भाँति विवश हो जाती हैं। मधु की मक्खी मकड़ी की भाँति सब कुछ अपने भीतर ही से नहीं निकाल लेती। पुष्प में मधु होता है, किन्तु जब तक मधु-मक्खी उसे इकट्ठा न करे और उसको मधु का रूप न दे तब तक मधु नहीं बनता। इसी प्रकार रूप रूपवान वस्तु में होता है, किन्तु जब तक प्रेमी उसको प्रेम की दृष्टि से न देखे तब तक वह मधु नहीं बनता। ऐसे ही रूप के मधु में जब आँखें फँस जाती हैं तब मधु सने हुए पत्तवाली मधुमक्षिका की-सी दशा हो जाती है। सार यह है कि आँखें जहाँ रूप की

ओर झुकीं फिर वहीं की हो रहती हैं। रूप के समुद्र का अन्त नहीं मिलता और नेत्रों का उसमें से निकलना कठिन हो जाता है।

दूसरी और तीसरी बात आँखों को सुख देना और जग को चेरी कर लेना रूप के साथ लगा हुआ है। यदि सुख न हो तो जानबूझ कर भी कोई सौन्दर्योपासक होने का कष्ट क्यों उठावे। यह सुख स्वाभाविक है। लोग इस सुख को लक्ष्य नहीं करते, वरन् सौन्दर्य्य को ही ध्यान रखते हैं। परन्तु सुख की आवृत्ति स्वाभाविक रूप से हो ही जाती है। यही सौन्र्य्य में नेत्रों को फँसाये रखता है। यही सौन्दर्य्य का मधुर और माधुर्य्य है। सच्चा सौन्दर्य्य वही है जिसके आगे मनुष्य स्वाभाविक रूप से नतमस्तक हो सके। सच्चा सौन्दर्य्य मनुष्य में सात्विक वृत्ति को उत्पन्न कर देता है, हिंसा के भाव दूर हो जाते हैं और उपासना बुद्धि जाग्रत हो जाती है। मनुष्य सौन्दर्य्य के आगे कृत अकृत दास बन जाता है। सौन्दर्य्य के प्रभाव से जो मनुष्य में सात्विक बुद्धि उत्पन्न होती है उसका शकुन्तला नाटक में अच्छा उदाहरण मिलता है। जिस समय महाराज दुष्यन्त महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँच गये और शकुन्तला के रूप का प्रभाव पड़ गया तब उनके हृदय से हिंसा के सब भाव दूर हो गये और वह शिकार के सम्बन्ध में अपने मंत्री के साथ विरोध करते हुए कहते हैं :—

भैंसन देहु करन रँगरेली। सींग पखारि कुण्ड बिचकेली॥
हरिनयूथ रूखन तर आवें। बैठि जुगार करत सुख पावें॥
सूकर वृन्द डहर में जाहीं। खोद निडर मोथा जर खाहीं॥
सिथिल प्रत्यञ्चा धनुष हमारो। आज त्यागि स्रम होइ सुखारो॥

रूप के आगे लोगों के स्वभावतया नतमस्तक होने के साहित्य में बहुत अच्छे-अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

ऊपर सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में जो विवेचना की गई है उसका सार एक बार फिर बतला देना अनुपयुक्त न होगा। सौन्दर्य्य के विचार में चार बातें सम्मिलित हैं।

(१) सान्त में अनन्तता और एक में अनेकता।

(२) आकर्षण—अर्थात् उसकी ओर देखते ही रहना।

(३) प्रसन्नता देने की शक्ति

(४) अपने सामने नतमस्तक कराने और अपना चेरा बना लेने की शक्ति।

पाठकों के लाभार्थ यहाँ पर सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में दो एक पाश्चात्य दार्शनिकों का मत दिया जाता है।

(1) Beauty is the Perfect recognised through the senses. Boumgarten.

अर्थात् सौन्दर्य इन्द्रियों द्वारा 'पूर्ण' को पहिचानना है

बोमगार्टन।

(2) Beauty is that which gives most pleasure, and that gives us most pleasure which gives us the greatest number of ideas in the shortest time. Hemsterhuis.

अर्थात् सौन्दर्य्य वह है जो अधिक से अधिक प्रसन्नता दे और वह चीज़ अधिक से अधिक प्रसन्नता देती है जिसमें न्यूनातिन्यून समय में अधिक से अधिक विचार उत्पन्न हों।

हेम्सटर ह्विस।

(3) Beauty in its subjective meaning is that which in general and necessarily, without reasonings and without practical advantage, pleases. In its objective meaning it is the form of a suitable object in so far as that object is perceived without any conception of its utility. nt.

कंट के मत से सौन्दर्य्य वह है जो बिना उपयोगिता के प्रसन्नता दे। जहाँ पर उपयोगिता आ जाती है वहाँ प्रसन्नता सुन्दर वस्तु के लिये नहीं रहती वरन् उसकी उपयोगिता के लिये होती है किन्तु वास्तविक सौन्दर्य्य वह है जो स्वयं अपने ही कारण प्रसन्नता दे। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि दार्शनिक सौन्दर्य्य का मूल आधार उपयोगिता में ही मानते हैं। उनका कहना है कि सौन्दर्य्य स्वास्थ्य का ही रूपान्तर है। स्वास्थ्य की उपयोगिता है इसी लिये सौन्दर्य्य भी वाञ्छनीय है और प्रसन्नता देता है। कंट

(४) Beauty is the perception of the finite in the finite. Schelling.

सौन्दर्य्य सान्त में अनन्त का दर्शन है।

शैलिङ्ग।

(५) Beauty is the shining of the idea through matter. Hegel.

सौन्दर्य्य विचार का भौतिक पदार्थों द्वारा प्रकाशित होता है। हैगिल।

(६) Beauty consists in variety in unity.

Consin.

सौन्दर्य्य अनेकता में एकता है। कौंजिन।

(७) सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में एक पूरा शास्त्र है जो कि Aestheties (सौन्दर्य्य विज्ञान) के नाम से कहा जाता है आजकल क्रोची (Croce) इस शास्त्र के प्रधान आचार्य हैं, उनका मत है कि किसी विचार के पूर्णतया व्यंजित होने को सौंदर्य्य कहते हैं। प्रत्येक वस्तु कुछ विचार व्यञ्जित करती है। जो वस्तु जिस विचार को व्यञ्जित करती है यदि वह विचार सफलता के साथ व्यञ्जित होता है तो वही वस्तु सुन्दर है।

अब कुछ नख-शिख के उदाहरण साहित्यिक परम्परा की पूर्ति के अर्थ दिये जाते हैं।

मुख—देखिये सौन्दर्य्य की कैसी प्रभा सबकी आँखों में चकाचोंद पैदा कर लेती है।

मुख देखन को पुर बधू जुरि आई नँद नन्द।
सब की अँखियाँ ह्वै गईं घूँघट खोलत बन्द॥

चिरजीवी ने अपने लक्ष्मीश्वर विनोद में नख-शिख का वर्णन करते हुए आश्रम का क्या ही उत्तम वर्णन दिया है।

शोभा के सुबारि को सरोबर पवित्र कैधों,
पूरित लखात आठोयाम रस खेली को।
मदन महीपति के अवलोकिवे को मुकुर,
विराजै, कैधों विभव सकेली को॥
कहै चिरजीवी चित कुमुद गुपाल जू को,
चन्द बिनु अङ्क राजै रञ्जन सहेली को।

सब सुख झेली मद कीरति अकेली मेली,
कैंधौ मञ्जु आनन अनूप अलबेली को ॥

मतिरामजी श्री राधिका जी के मुख का वर्णन करते हुए चन्द्रमा के कलंक की व्याख्या कर देते हैं, देखिये:—

सुन्दर-वदनि राधे सोभा को सदन तेरो,
बदन बनायो चारि-वदन बनाय कै।
ताकी रुचि लेवे को उदित भयो रैनपति,
मूढ़ मति निज कर राख्यो बगराय कै ॥
कवि 'मतिराम' ताहि निशिचर चोर जानि,
दीनी है सजाय कमलासन रिसाय कै।
राति दिन फेर्यो अमरालय के आस पास,
मुख में कलंक मिस कारिख लगाय कै ॥

अलक—अलकों की उपयोगिता बतलाता हुआ कवि कहता है:—

मुखहिं अलक को छूटिबो अबस करै दुतिमान।
बिन विभावरी के नहीं जगमगात सितभान ॥

अलकें अपनी प्रतिकूलता के कारण मुख की दुति को द्विगुणित कर देती हैं। केशों का वर्णन देखिये:—

सहज सचिक्कन स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि बिथुरे सुथरे बार ॥

नेत्र—नेत्रों का हिन्दी में बहुत विशद वर्णन आया है। एक हिन्दी कवि की नयनों के अर्थ पर क्या ही अच्छी उक्ति है—

आय लगत बेचत मनहि, रसनिधि कर बिनदाम ।
नैनन में नय नाहिं ये, यातै नय—ना नाम ॥

ज़रा कवि ने नेत्रों के साथ सख्ती की है, रोना तो बेचारे नेत्रों को ही पड़ता है। नेत्रों की अनेक भाव प्रदर्शन योग्यता बतलाते हुए एक कवि ने नेत्रों का ही पंचामृत बना दिया है—

रिस रस दधि सक्कर जहाँ, मधु मधुरी मुसकान ।
घृत सनेह छबि पय करैं, दृग पंचामृत पान ॥

नेत्रों की शक्तियाँ देखिये और इसी में उनकी सफेदी, श्यामता और लाली की भी व्याख्या पाइये:—

अमी हलाहल मद भरे, सेत-स्याम-रतनार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ॥

देखिये, नयनों की कुटिल गति की बिहारी लाल जी क्या ही अच्छी व्याख्या करते हैं :—

संगति दोष लगै सबै, कहै जु सांचे बैन ।
कुटिल बंक भ्रू-संगते, भये कुटिल गति नैन ॥

इसमें भौंहों की वक्रता का भी वर्णन आ गया और नेत्रों की कुटिल गति की व्याख्या हो गई।

नेत्रों के सत्यभाव व्यंजित कर देने की शक्ति पर ज़रा ध्यान दीजिए। इसमें मुख से भी उनका दर्जा बढ़ गया।

झूठे जानि न संग्रहे, मन मुँद निकसे बैन ।
याही ते मान किये, बातन को विधि नैन ॥

मतिराम की नेत्रों की चञ्चलता के सम्बन्ध में एक उक्ति देखिये :—

चंचलता तो चखन की, कही न जाइ बनाइ।
जिन्हैं चाहि चंचल महा, चितौ अचल ह्वैजाई॥

अब ज़रा वर्तमान युग में आकर वर्तमान कवि श्री निराला जी के नेत्रों के सम्बन्ध में निराली उक्ति देखिये :—

मदभरे ये नलिन—नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं।
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी,
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं॥
या पथिक से लोल लोचन! कह रहे-
हम तपस्वी हैं सभी दुख सह रहे।
गिन रहे दिन ग्रीष्म वर्षा शीत के,
काल ताल तरङ्ग में हम बह रहे?
मौन हैं, पर पतन में उत्थान में,
वेणुवर—वादन—निरत–विभु गान में।
है छिपा जो मर्म उसका, समझते,
किन्तु तो भी हैं उसी के ध्यान में।
आह! कितने विकल जन-मन मिल चुके,
खिल चुके, कितने हृदय हैं हिल चुके।
तप चुके वे प्रिय व्यथा की आँच में,
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।
क्यों हमारे ही लिये वे मौन हैं?
पथिक! वे कोमल कुसुम हैं—कौन हैं?

अब ज़रा नवीनता से प्राचीनता में आ जाइये! वास्तव में सूर तुलसी कभी प्राचीन नहीं होते। देखिये:—

अतिहि अरुन हरि नयन तिहारे।
मानहु रति रस भये रगमगे, करत केलि प्रिय पलक न पारे ॥
मंद-मंद डोलत संकित से, सोभित मध्य मनोहर तारे।
मनहुँ कमल संपुट मँह बीधे, उड़ि न सकत चंचल अलिवारे ॥
झलमलात रति रैन जनावत, अति रस मत्त भ्रमत अनियारे।
मानहुँ सकल जगत जीतन को, काम बान खरसान सँवारे ॥
अटपटात अलसात पलक पट, मूंदत कबहूं करत उघारे।
मनहु मुदित मरकत मनि आंगन, खेलत खंजरीट चटकारे ॥
बार-बार अवलोकि कुरुखियन; कपट नेह मन हरत हमारे।
सूर श्याम सुखदायक लोचन, दुख मोचन लोचन रतनारे ॥

नासिका—नासिका के अर्थ पर एक कवि की उक्ति है, देखिये—

छाकि छाकि तुव नाक सों यों पूँछत सब गाउँ।
किते निबासिन नासिकै लियो नासिका नाउँ ॥

विहारी जी की एक उक्ति सुन लीजिए—

बेधक अनियारे नयन बेधत कर न निषेद।
बरबस बेधत मो हियो तो नासा को बेध ॥

अधर—अधर की मधुराई के सम्बन्ध में केशवदास जी का निम्नलिखित छन्द देखिये—

पियत रहै अधरानि को, रस अति मधुर अमोल।
तातें मीठो कढ़त है, बाल बदन तें बोल ॥

खारिक खात न दारिम दाखहु माखन हूँ सह मेरी इठाई।
केशव ऊख महूखहु दूषत आई हौ तो यहँ छाँड़ि जिठाई ॥
तो रदनच्छन को रस रंचक चाखि गये करि केहूँ ढिठाई।
ता दिन ते उन राखि उठाय समेत सुधा वसुधा की मिठाई ॥

कवि लोग अधरों की स्वाभाविक लाली की अधिक प्रशंसा किया करते हैं। देखिये—

> बन्धु जीव को दुखद है, अरुन अधर तव बाल।
> दास देत यह क्यों डरै, पर जीवन दुख जाल॥

बन्धु जीव दुपहरिया के फूल को कहते हैं। जब बन्धु जीव तेरे अधरों की अरुणाई से लज्जित हो पीड़ित होता है, तब अन्य लोगों का कहना क्या है? (जो तेरे बन्धु नहीं है।)

अधर का अर्थ लगाते हुए अधर की प्रशंसा में नीचे का दोहा देखिए:—

> जोभा अधरन तरुनि के, सोभा धरत न कोय।
> याही विधि इनको पर्यो नाम अधर बिच जोय॥

दशन—दशनों की उज्ज्वलता और छोटेपन की अधिक प्रशंसा की जाती है।

> मोल लेन को जगत जिय, विधि जौहरी प्रवीन।
> राखे बिद्रुम के डवा लै, द्विज मुकुत नवीन॥

इसमें दाँतों के साथ ओष्ठों की प्रशंसा आ गई। नीचे के दोहे में ताम्बूल रञ्जित दन्तों की शोभा का काव्य-मय कारण सहित वर्णन दिया है।

> दसन झलक में अरुनता, लखि आवत मन माँह।
> परी रदन पै आय के, अधर रङ्ग की छाँह॥

दाँतों की दीप्ति का वर्णन देखिये:—

> फूली फुलवारी रही उपमा न जात कही
> कहा धौं सराहौं तातें जोति अधिकानी है।

आलम कहत है री मोतिन की पाँति खरी,
हीरन की काँति छबि देख के लजाती है ॥
दाड़िम दरकि के न इनके समान भए,
रवि के किरन कैसी चमक बखानी है।
तनिक हँसन के दसन ऐसे देखियत,
दीपन न छत्र मानो दामिनी डरानी है ॥

भुज—पश्चिमी देशों में लोग भुजाओं के सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान देते हैं। इसी कारण वहाँ की स्त्रियाँ भुजाओं का खुला रखना अपने शृङ्गार का अङ्ग समझती हैं। सुना जाता है जर्मन सम्राट ने अपनी पूर्व पत्नी की भुजाओं का नमूना प्लास्टर ऑफ पेरिस का बनवाया था। अपने यहाँ भी साहित्य में भुजाओं के अच्छे अच्छे वर्णन आते हैं। पार्वती जी का महेश के गले में बाहों को डालने के सम्बन्ध में महाकवि कालिदास कहते हैं:—कामदेव ने अपनी हत्या का बदला लेने के लिये पार्वती जी की भुजाओं का पाश तैयार किया है। क्या ही उत्तम युक्ति है।

देखिये, केशवदास जी श्री राधिका जी की भुजाओं का क्या ही उत्तम वर्णन करते हैं।

केशो दास, गोरे गोरे गोले काम शूल हर,
भामिनी के भुज भले भामँ के उतारे हैं।
सोभा सुख बरसत माखन से परसत,
दरसत कंचन से कठिन सुधारे हैं ॥
बलया बलित देखि देखि रीझे हरिनाह,
मानो फाँसिबे को पास से बिचारे हैं।

मलिन मृणाल मुख पंक में दुराये देखि,
देखो जाय छाती माँहि छेद कै कै डारे हैं ॥

कमल नाल से ही बाहुओं की उपमा दी जाती है। वह बिचारा लज्जा के मारे कीचड़ में छिप गया और ईर्षा के कारण अपने हृदय में अनेकों छेद कर लिये।

जरा चिरजीवजी का भी वर्णन देखिये:—

वाछित हिये के सब फल के फलनिहारे,
कीरत अपार रसकानन के कुञ्ज हैं।
शोभा के सरोवर सिंगार रस सिरताज,
दीसत सबेही मानो मनमथ के धुज हैं ॥
कहै चिरजीवी क्लेश हरन पिया के जामैं,
जो हर स्वरूप राजैं यौवन के जुज हैं।
कंठलागे जाके तीनो महारुज ऐमे कीरति,
किशोरी प्रान प्यारीजू के भुज हैं ॥

करों का वर्णन देखिये :—

पावै जो परस ताको होत है सरस भाग,
पावन दरस जाकी जानो अनुसार है।
रमनीय बेखन की लीला धर पेखन की,
ललित सुरेखन की प्रगटी पसार है ॥
बहि क्रम बूढ़ी चित चिन्ता गूढ़ी करि,
रचनाऊँ ढूंड़ी विधि विविध विचार है।
कथन कथेरी लोक चौदहो मथेरी पर,
तेरी या हथेरी की न पाई अनुहार है ॥

जिस प्रकार अधरों की लाली का वर्णन किया जाता है उसी प्रकार कवि लोग पैरों की भी लाली का वर्णन करते हैं। अधर की नैसर्गिक लाली के कारण जिस प्रकार यह नहीं मालूम होता कि पान खाए हैं या नहीं, उसी प्रकार पैर के लिये कहा जाता है कि महावर लगा है या नहीं। यह लाली वर्णन की उज्ज्वलता तथा शारीरिक स्वास्थ्य की सूचक होती है। एड़ी के सम्बन्ध में बिहारीलाल जी का यह दोहा देखिये:—

पाय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिर-फिरि जानि महावरी, एडी मीड़त जाय॥

चरणों की लाली के विषय में एक और उत्तम उक्ति देखिये:—

कहत थकिये चरन की, नई अरुनई बाल।
जाके रङ्ग रंगि स्याम जू, विदित कहावत लाल॥

काव्य प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य्य ने पदों में कमल, श्री की स्थिति का क्या ही उत्तम कारण दिया है। देखिये:—

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौंदर्यदर्पः।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षात्
लग्ना मन्ये, ललित तनुते पादयोः पद्मलक्ष्मीः॥

अर्थात् "चन्द्रमा मेरा सहज वैरी है, वह रात्रि में मेरे विकास को नहीं चाहता और कमल-दल सदृश नयनी रमणी ने अपने मुख की द्युति से चन्द्र की द्युति को मंद कर दिया है।" "हे ललिताङ्गी, मैं समझता हूँ कि मानों कमलश्री उपर्युक्त विचार से हर्षित हो तेरे चरणों में प्रवेश कर रही है।"

क्या ही उत्तम भाव है। मुख एवं चरणों की एक ही साथ प्रशंसा हो गई। भाल, चिबुक, ग्रीवा, कुच, त्रिवली, जङ्घादि, नखशिख के सम्बन्ध में कवि लोग प्रायः सब ही अङ्गों का वर्णन करते हैं। उन सब का वर्णन करना पुस्तक को अनावश्यक विस्तार देना होगा। इस सम्बन्ध में दीप्ति, अङ्गवासादि का वर्णन किया जाता है। उद्दीपन सामग्री में आभूषण भी रक्खे जाते हैं किन्तु हम अलङ्कारों के सम्बन्ध में पहले ही कह आये हैं कि आभूषण गौण हैं। आभूषण कभी-कभी सौन्दर्य के सहायक होते हैं, किन्तु उस का स्थान नहीं लेते। इसलिये यहाँ पर बेसर, कंकण आदि का वर्णन नहीं किया जाता।

प्राकृतिक शोभा

वन, उपवन एवं तड़ागादि उद्दीपन सामग्री में माने गये हैं। हमारे यहाँ प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उद्दीपन सामग्री में ही आ जाता है। वैसे इनको भी पृथक् वर्ण्य-विषयों में माना है। इन विषयों का वर्णन कवि करता है और चित्रकार भी। किन्तु इनके वर्णन में समानता रहते हुए भी थोड़ा भेद रहता है। कवि वास्तव में वस्तु का वर्णन नहीं करता, वरन् वस्तु का जो अपने ऊपर प्रभाव पड़ता है, उसका वर्णन करता है। चित्रकार भी वस्तु की नक़ल उतारने में कुछ अपने मानसिक भावों का समावेश कर देता है। चित्रकारी फोटोग्राफी की भाँति नकल नहीं है। चित्र में चित्रकार के भाव झलकते रहते हैं किन्तु चित्र में वस्तु की वास्तविकता अधिक रहती है। मन की छाप रहती अवश्य है, किन्तु कम। काव्य में मन की छाप अधिक रहती है। प्राकृतिक

दृश्यों का वर्णन जो कुछ होता है वह मनुष्य के सम्बन्ध में ही होता है। कवि जो कुछ कहता है मनुष्य के सम्बन्ध में ही कहता है। यदि कोई वस्तु उसको प्रभावित नहीं करती तो उसके लिये उस वस्तु का होना अथवा न होना दोनों ही बराबर हैं। प्रभावित होना ही उसके लिये सत्ता की कसौटी है; और उस प्रभाव का यथार्थ वर्णन कर देना ही सच्ची कविता है।

काव्य में सभी प्राकृतिक दृश्य कुछ न कुछ मानव सम्बन्ध प्राप्त कर लेते हैं। जब वृन्दावन का वर्णन किया जायेगा तो वृन्दावन के कारण नहीं वरन् भगवान की विहारस्थली होने के कारण और उनकी अनुपस्थिति जो उनके प्रिय स्थल होने के कारण स्मृति दिलाते हैं, वर्णन का हेतु होता है। हिमालय का जो वर्णन होता है वह शिवजी के सम्बन्ध में। यद्यपि वर्तमान काल में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उसके ही कारण किये जाने का उद्योग किया जाता है तथापि उनमें भी मानवी हित की छाप रहती है। हमारे कहने का यह अर्थ न समझा जाय कि प्रकृति के हेतु प्रकृति सम्बन्धिनी कविता की ही नहीं जाती। प्रायः कवि लोग प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए मानव-भावों का समावेश कर देते हैं। मानव भाव उसमें न आवें तो वह कविता ही नहीं। ऐसी अवस्था में तो वह यंत्र से खींचा हुआ चित्र रह जाय। वन उपवनादि उद्दीपन माने गए हैं तथा स्वतंत्र रूप से भी वर्ण्य विषय माने गए हैं। कविवर केशवदास जी की कविप्रिया में कवि के वर्ण्य-विषय देखिये। उससे पता चल जायगा कि प्राचीन कवियों ने प्राकृतिक वर्णनों को कितना ऊँचा स्थान दिया है।

वर्षा का वर्णन भी संयोग और वियोग शृंगार के सम्बन्ध में होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी वर्षा का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा ॥

यहाँ पर दो एक उद्दीपन रूप प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन दे कर आगे षट् ऋतुओं का वर्णन दिया जायगा। चाँदनी और पवनादि का भी वर्णन इनके सम्बन्ध में आजायगा। कविवर कालिदास जी कृत हिमगिरि की वसन्त शोभा का वर्णन देखिये :—

सद्य प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
विवेशयामास मधुद्विरेफा नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥

× × + ×

बालेन्दुवक्राण्यविकाशशोभां वादूबभुः पलाशान्यति लोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥
लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकंप्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूत प्रवालोष्ठमलंचकार ॥
मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणाम् रजः कणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः।
मदोद्धताः प्रात्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपुत्रमोक्षाः ॥
चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं च कूज।
मनस्विनी मानविधातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्थ ॥

इनका महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत पद्यानुवाद देखिये :—

कोमल पत्तों की बनाय झट, पक्षपंक्ति लाली लाली,
आम मञ्जरी के प्रस्तुत कर, नये विशिख शोभा शाली।

शिल्पकार ऋतुपति ने उन पर, मधुप मनोहर बिठलाये ;
काम नाम के अक्षर मानो, काले काले दिखलाये ॥

बाल चन्द्र सम जो टेढ़ी है, जिनका अब तक नहीं विकाश,
ऐसी अरुण वर्ण कलियों से, अतिशय शोभित हुआ पलाश ।
मानों नव वसन्त नायक ने, प्रेम विवश होकर तत्काल ;
वनस्थली को दिये नखों के क्षत, रूपी आभरण रसाल ॥

नई वसन्ती ऋतु ने करके, तिलक फूल को तिलक समान,
देकर मधुप मालिका रूपी, मृदुकज्जल शोभा की खान ।
जैसा अरुण रङ्ग होता है, बाल सूर्य में प्रातःकाल ;
तद्वत नवल-आम-पल्लव-मय, अपने अधर बनाये लाल ॥

रुचिर चिरौंजी के फूलों की, रज जो उड़ उड़ कर छाई,
हरिणों की आँखों में पड़ कर, पीड़ा उसने उपजाई ।
इससे वे अन्धे से होकर, मरमरात पत्ते वाले ;
कानन में, समीर सम्मुख, सब, भागे मद से मतवाले ॥

आम मञ्जरी का आस्वादन, कोकिल ने कर बारंबार,
समय कण्ठ से किया शब्द जो, महा मधुरता का आगार ।
"हे मानिनी कामिनी ! तुम सब, अपना मान करो निःशेष ;
इस प्रकार मन्मथ महीप का, हुआ वही आदेश विशेष ॥"

× × × × × ×

अब जरा पं० श्रीधर पाठक जी कृत हिमाचल की वन-श्री का वर्णन देखिये:—

चारु हिमाचल आँचल में एक साल विशालन कौ वन है ।
मृदु मर्मर शालि झरैं जल-स्रोत हैं पर्वत-ओट हैं निर्जन है ॥
लपटे हैं लता द्रुम गान में लीन प्रवीन विहंगन को गन है ।
भटक्यो तहाँ रावरो भूल्यो फिरै, मद बावरो सौ अलि को मन है ॥

भारत में बन ! पावन तूही, तपस्वियों का शुभ आश्रम था।
जग तत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा वनवास की थी तब और प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

× × × × × ×

ज़रा कण्व के आश्रम का वर्णन देखिये, कितना स्वाभाविक है :—

रूखन तर मुनि अन्न पर्‌यो। एक कोठरतें यह जु गिर्‌यो है॥
कहूँ धरी चिक्कन शिल दीसें। इन्गुदिफल जिनपै मुनि पीसें॥
रहे हरिन हिलि ये मनु वन तें। नेक न चौंकत बोल सुनन तें॥
सोहत रेख नदी तट बाटा। बनी टपकि जल बलकल पाटा॥
पवन झकोरति है जलकूला। विटप किये जिन उज्ज्वल मूला॥
नवपल्लव दीखत धुंधराए। होत धुँआ जिन ऊपर छाये॥
उपवन अग्र भूमि के माहीं। कटि के दाभ रहे जहँ नाहीं॥
चरत फिरत निधरक मृग छौना। जिन के मन शंका नैकोना॥

अब ज़रा मुद्राराक्षस से मन्त्रि-प्रवर चाणक्य के आश्रम का वर्णन देखिये :—

कहुँ परे गोमय शुष्क कहुँ सिल परी सोभा दै रहौ।
कहुँ तिल कहूँ जव रासि लागी बटत जो भिक्षा लहौ॥
कहुँ कुस परे कहुँ समिधि सूखत भार सों ताके नयो।
यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैसो झुकि गयौ॥

अब ज़रा वन उपवन से जनकपुर की सुन्दर फुलवारी की शोभा देखिये :—

तालन तमालन के तैसेहि लतानन के,
रुचिर रसालन के जाल मनभाये हैं।

हेम आलबालन के रजत देवालन के,
आलम लोकपालन के लोभन लजाये हैं॥
दिल देवबालन के देखते विहाल होत,
षट-ऋतु कालन के फूल फल छाये हैं।
और महिपालन के बालन की बातैं कौन,
रघुराज कोशलेश लालन लुभाये हैं॥

अब उस वाटिका के पक्षियों के मधुर कलरव का वर्णन सुन लीजिये :—

कीरन की भीर कामनीन ते सहित सोहै,
कूंजि रहे भौंर गन मुनि मन हारने।
कोकिला कलापैं चित चोरत अलापैं परैं,
मनकी कलापै थापैं थिरता अपारने॥
भनैं 'रघुराज' केकी कूकैं सुनि खूकै चित,
करत चकोर चारि वोरहु विहारने।
पिक की पुकारैं त्यों पपीहा की पुकारैं, हिय,
हारैं बेशुमारैं पेखि-पेखि देवदारने॥

अब ज़रा पूर्ण जी का वाटिका-वर्णन देखिये :—

हाँ हाँ देखो कैसी बनी फुलवारी।
सोभा अपार छा रही, हाँ हाँ देखो॥
सुमन-सुहावन रंग मन-भावन, हिय हुलसावन सोभा पावन।
कुँजन कुँजन छावत गुंजन भंवर भीर मतवारी,
हाँ हाँ देखो।
चातक केकी कीर कपोती, लाल चकोरी सावक मैना।
चाव से डोलैं, भाव किलोलैं, भाव से बोलैं सुन्दर बैना॥
सुबीना ऐसी बाजै, सारङ्गी ऐसी छाजै, सो माधुरी अबाजैं लागै प्यारी।
हाँ हाँ देखो।

शीतल सुगन्ध वारी, डोलती समीर न्यारी, मन्द मन्द मोदकारी श्रमहारी सो द्रुमन लचाय रही, सुमन बिछाय रही, बेलिन झुलाय रही। अहा हा! वाह वा! देखौ सोभा, अहा! कैसी प्यारी प्यारी। हाँ हाँ देखो।

आलम कृत जमुना निकुञ्ज वर्णन देखिए:—

अरविन्द पुंज गुंज डोर भौंर ही व्रती,
हिलोर ओर थोर ज्यो निशा चलत चाँदनी।
निकुंज फूल मौल वेलि छत्र छाँह से धरे,
तटी कलोल कोक पुंज शोक संक दंदनी॥
आलम कवित्त चित्त रास के विलास ते,
प्रकास वन्दना करी विलोक विश्व वन्दनी।
समीर मन्द मन्द केलि कन्द दोष दन्द यों,
अनन्द नन्द नन्द के विराजे हंस नन्दनी॥
लता प्रसून डोल बोल कोकिला अलाप केलि,
लोल कोक कण्ठ त्यों प्रचण्ड भृङ्ग गुञ्ज की।
समीर वास रास रङ्ग रास के विलास वास,
पास हंस नन्दिनी हिलोरि केलि पुञ्ज की॥
आलम रसालवन गान ताल काल सो,
विहंग वाय बेगि चालि चित्त लाज लुञ्ज की।
सदा बसन्त हन्त सोक ओक देवलोक ते,
विलोकि रीझि रही पाँति भाँति सो निकुञ्ज की॥

देखिये भारतेन्दु बाबू ने गङ्गा जी का क्या ही अच्छा वर्णन किया है:—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति॥

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इम आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सबके मन भावत।
दरसन मज्जन पान विविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरि–पद–नख–चन्द्रकान्त–मनि–द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमण्डल मंडन भव खण्डन सुर-सरवस॥
शिव-सिर–मालति–माल भगीरथ–नृपति–पुण्य-फल।
ऐरावत–गज–गिरि–पति–हिम–नग–कण्ठहार कल॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जलमात्र उधारन।
जगनित धारा रूप धारि सागर सञ्चारन॥

× × × ×

सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई।
गङ्गा छवि 'हरिचन्द्र' कछू बरनी नहिं जाई॥
तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै पनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप, बरन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख सहत॥
कहूँ तीर पर जल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत निज सोभा।
कै उमगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥

कै करिके कर बहु पीय कों, टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै, चलति मिलन मन मोहई॥

× × ×

कविरत्न पं० सत्यनारायण कृत प्रातश्री का वर्णन देखिये:—

जय जय जग-आशा रूप उषा! प्रतिभा अनूप,
जागृति मय पुण्य-प्रभा प्रिय प्रकासिनी।
शीतल सुरभित समीर सरल, सुमति-सुखद, धीर,
बर बहाय मृदुल-मृदुल मुद-बिकासिनी।

× × ×

हृदय-कमल-कोष अमल समुदित दल नवल-नवल,
कोमल कर रुचिर खोल रुचिर विलासिनी।
द्विज-गन करि करि कलोल गावत श्रुति-सुखद बोल,
बोलत सुर सरस मनहु मंजु भाखिनी॥

सूर्योदय का वर्णन देखिये:—

बीत गई सिगरी रजनी चहुँओर से फैल गई नभ लाली।
कोक वियोग मिट्यो परिपूर उदै भयो सूर महा छबिसाली॥
बोलि उठे बन बागन में अनुराग भरो चहुँधा चटकाली।
सुन्दर स्वच्छ सुगन्ध सने मकरन्द झरै अरविन्द तें आली॥

कविवर निराला जी कृत संध्या सुन्दरी का निराला वर्णन देखिये:—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे,

तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उनमें हास-विलास।

× ×   × ×   × ×

व्योममण्डल में—जगतीतल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में।
सौंदर्य-गर्विता-सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में॥
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में।
उत्ताल तरङ्गाघात—प्रलय—घन—गर्जन—जलधि—प्रबल में॥
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल—अनल में।
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द—सा। "चुप चुप चुप"॥
है गूँज रहा सब कहीं,

और क्या है? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला वह एक पिलाती
सुलाती उन्हें अङ्क पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने।
अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से—
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

❀ ❀ ❀

चंद्रोदय का वर्णन देखिये:—

कोक कोकनद विरह तम, माननि कुलटनि दुख्य।
चन्द्रोदय तें कुबलयनि, जलधि चकोरनि सुख्य॥

❀ ❀ ❀

और भी:—

हरत किसोरन जो चकोरन को ताप कर,
कुमुद कलाप मुकुली कर सुछन्द भो।
मानिनीन हू के मन दरप दलित कर,
कन्दरप कन्दलित कर जग बन्द भो॥
मुदत कमल अवलीकर तिमिर,
धवली कर दिसान कवली कर अनन्द भो।
अम्बुध अमित कर लोकन मुदित कर,
कोक अमुदित कर समुदित चन्द भो॥

गोस्वामीजी कृत चन्द्रोदयक वर्णन देखिये :—

पूरब दिसा विलोकि प्रभु, देख्यो मुदित मयङ्क।
कहत सबहि देखहु ससिहिं, मृग-पति सरिस असङ्क॥

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

जमुना में चंद्र के बिम्ब का भारतेन्दु कृत वर्णन देखिये :—

परत चंद्र प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरङ्ग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥

कै रासि रमन में हरि मुकुट आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति वा प्रतिबिम्ब लखात है॥

× × ×

कबहुँ होत सत चँद कबहुँ प्रकटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्बरूप जल में बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै।
कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत कलोलै।
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती॥

× × ×

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥
कै कालिन्दी-नीर तरङ्ग जितै उपजावत।
तितने ही धरि रूप मिलन हित तिनसों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार-जल उच्छरत।
कै निसि-पति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत॥

षड्ऋतु

ऋतुओं का विषय ज्योतिष से सम्बन्ध रखता है। हमको जो कुछ गर्मी सर्दी मिलती है वह सूर्य्य से मिलती है। गर्मी सर्दी का न्यूनाधिक्य सूर्य्य की पृथ्वी से निकटता एवं दूरी पर निर्भर रहता है। हम इस विवाद ग्रस्त विषय में न पड़कर कि सूर्य्य पृथ्वी के चारो ओर घूमता है अथवा इसके विपरीत पृथ्वी चारों ओर घूमती है, यह बतलाना चाहते हैं कि दोनों की ही गति का एक ही प्रकार है और दोनों कल्पनाओं के अनु-

कूल जो सूर्य्य चन्द्र ग्रहण तथा ताराओं का, उदय एवं अस्त के सम्बन्ध में भविष्य फल बतलाया जाता है वह प्रायः एकसा होता है। हम पृथ्वी पर रहते हैं और पृथ्वी की चाल को देख नहीं सकते! हमको सूर्य्य ही चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसी आधार पर हमारे ज्योतिष के अधिकांश आचार्यों ने सूर्य्य को चलता हुआ माना है। चाहे सूर्य्य चले चाहे पृथ्वी, यदि गति का प्रकार एक सा है तो सूर्य्य तथा पृथ्वी का अन्तर वही रहेगा और ऋतुओं का आगमन एक ही समय पर होगा। सूर्य्य अथवा पृथ्वी की चाल वृत्ताकार नहीं है। यदि ऐसा होता तो पृथ्वी और सूर्य्य का अन्तर हर समय बराबर रहता। यह मार्ग (Eliptical) क्रान्त वृत्ताकार है। इस मार्ग के बारह विभाग किये गये हैं। एक एक विभाग राशि कहलाता है। राशि बारह हैं। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ तथा मीन। यह नक्षत्र-समूहों के आकार के नाम हैं। सूर्य्य एक एक मास में एक एक राशि में रहते हैं। इसी राशि-चक्र को सत्ताईस नक्षत्रों में भी विभाजित किया है। नक्षत्रों के नाम इस प्रकार से हैं। १ अश्विनी २ भरणी ३ कृत्तिका ४ रोहिणी ५ मृगशिरा ६ आर्द्रा ७ पुनर्वसु ८ पुष्य ९ आश्लेषा १० मघा ११ पूर्वाफाल्गुनी १२ उत्तराफाल्गुनी १३ हस्त १४ चित्रा १५ स्वाती १६ विशाखा १७ अनुराधा १८ ज्येष्ठा १९ मूल २०- पूर्वाषाढ़ २१ उत्तराषाढ़ २२ श्रवणा २३ धनिष्ठा २४ शतभिषा २५ पूर्वाभाद्रपद २६ उत्तराभाद्रपद २७ रेवती। इन सत्ताईस नक्षत्रों में बारह राशियां हैं अर्थात् सवा दो नक्षत्रों में एक राशि पड़ती है। इसकी तालिका इस प्रकार से है।

मेषराशि—अश्विनी, भरणी और कृत्तिका-नक्षत्र का प्रथम एक पाद।

वृषराशि—कृत्तिका के शेष तीन पाद, रोहिणी और मृगशिरा नक्षत्र के प्रथम दो पाद।

मिथुनराशि—मृगशिरा के शेष दो पाद, आर्द्रा और पुनर्वसु के तीन पाद।

कर्कराशि—पुनर्वसु का शेष पाद, पुष्य और आश्लेषा।

सिंहराशि—मघा, पूर्वाफाल्गुनी, और उत्तराफाल्गुनी का प्रथम पाद।

कन्याराशि—उत्तराफाल्गुनी के शेष तीन पाद, हस्त और चित्रा के प्रथम दो पाद।

तुलाराशि—चित्रा के शेष दो पाद, स्वाती और विशाखा के प्रथम तीन पाद।

वृश्चिकराशि—विशाषा का शेष पाद, अनुराधा और ज्येष्ठा।

धनराशि—मूल, पूर्वाषाढ़ और उत्तराषाढ़ का प्रथम एक पाद।

मकरराशि—उत्तराषाढ़ के शेष तीन पाद, श्रवण, धनिष्ठा के प्रथम दो पाद।

कुम्भराशि—धनिष्ठा के शेष दो पाद, शतभिषा और पूर्वा-भाद्रपद के प्रथम तीन पाद।

मीनराशि—पूर्वाभाद्रपद का शेष पाद, उत्तरा भाद्रपद और रेवती।

सूर्य्य को अपने पथ पर पूरा चक्कर लगाने में एक वर्ष लगता है। इसके बारह भाग बारह महीने कहलाते हैं। ये सूर्य्य के महीने सब बराबर दिनों के नहीं होते हैं। सूर्य्य-सिद्धान्त के

अनुकूल सूर्य का एक एक राशि में ठहरने का काल इस प्रकार दिया गया है।

राशि			
१. मेष	३०	५६	७
२. वृषभ	३१	२५	१३
३. मिथुन	३१	३८	४१
४. कर्क	३१	२८	३१
५. सिंह	३१	१	७
६. कन्या	३०	२६	२९
७. तुला	२९	५३	३६
८. वृश्चिक	२९	२९	२५
९. धन	२९	१९	४
१०. मकर	२९	२६	५३
११. कुम्भ	२९	४९	१३
१२. मीन	३०	२१	१२'५

चन्द्रमा एक मास में २७ नक्षत्रों में चक्कर लगा लेते हैं और जब वह चक्कर पूरा हो जाता है तब एक मास पूरा होता है। महीनों के नाम निम्न लिखित बारह नक्षत्रों पर पड़े हैं।

१ विशाखा नक्षत्र से वैशाख मास २ ज्येष्ठा नक्षत्र से ज्येष्ठ मास अर्थात् जेठ का महीना। ३ पूर्वाषाढ़ नक्षत्र से आषाढ़ का महीना। ४ श्रवण नक्षत्र से श्रावण का महीना। ५ पूर्वाभाद्रपद

नक्षत्र से भाद्रपद का महीना अर्थात् भादों का महीना। ६ अश्विनी नक्षत्र से आश्विन मास अर्थात् क्वाँर का महीना। ७ कृत्तिका नक्षत्र से कार्तिक का महीना। ८ मृगशिरा नक्षत्र से मार्गशीर्ष मास अर्थात अघहन का महीना। ९ पुष्य नक्षत्र से पौष मास अर्थात् पूस का महीना। १० मघा नक्षत्र से माघ का महीना। ११ उत्तरा फाल्गुनी से फागुन का महीना और १२ चित्रा नक्षत्र से चैत्र-मास अर्थात् चैत्र का महीना, होते हैं। प्रायः इन्हीं नक्षत्रों या इनसे एक इधर या उधर नक्षत्रों में पौर्णमासी पड़ती है।

मास चार प्रकार के माने गए हैं। वर्ष के चार प्रकार के माप अथवा मान माने गए हैं। सौरमान, चंद्रमान, सावनमान और नक्षत्रमान। इन्हीं के अनुकूल चार प्रकार के महीने होते हैं—१ सौर मास जिसका कि राशियों से सम्बन्ध है। २ चंद्रमास जो कि चंद्रमा की कलाओं पर निर्भर होता है। इसके दिन तिथि कहलाते हैं, चंद्रमा २७ दिन १९ दण्ड १७ पल ४२ विपल में रविचक्र की परिक्रमा करता है और १३ अंश १० कला १४ विकला उसकी दैनिक गति है। सावन मास यह दिनों की गणना के ऊपर निर्भर है। ४ नक्षत्रमास यह नक्षत्रों की गणना के ऊपर निर्भर होता है। सौरमान के अनुकूल एक वर्ष ३६५ $\frac{८२७}{३२००}$ इतने सावनमान के दिवस के बराबर होता है। चंद्रमान के अनुकूल एक वर्ष ३६० दिन का होता है किन्तु यह दिवस सावनमान के दिवस से कुछ छोटा होता है अर्थात् $\frac{१०५११४४३}{१०६८६६६०}$ के बराबर होता है। इस हिसाब से चंद्रमान का वर्ष प्रायः ३५४ दिनों का होता है। सावनमान वर्ष ३६० दिनों का होता है। वास्तव में सभी वर्ष अपने

अपने दिवस के मान से तीन सौ साठ दिनों के होते हैं किन्तु दिन की घटीबढ़ी से दिनों की संख्या न्यूनाधिक हो जाती है।

ऋतुएँ छः मानी गई हैं। दो दो मास की एक एक ऋतु मानी गई है। सौर मान के अनुकूल जब सूर्य्य दो राशियों में चल लेते हैं तब एक ऋतु होती है। यह ऋतुएँ इस प्रकार से हैं।

शिशिरे मकरे कुम्भे वसन्ते मीनमेषयोः।
वृषभे मिथुने ग्रीष्मे वर्षाः कर्कटसिंहयोः॥
शरद् कन्यातुलयोश्च हेमन्तो वृश्चिके धनुः।

उत्तरायण

ऋतु	राशि	प्रधान देवता
शिशिर	मकर कुंभ	नारद
वसन्त	मीन मेष	अग्नि
ग्रीष्म	वृषभ मिथुन	शूद्र

दक्षिणायन

ऋतु	राशि	प्रधान देवता
वर्षा	कर्कट सिंह	विश्व देवाः
शरद	कन्या, तुला	प्रजापति
हेमन्त	वृश्चिक धनु	विष्णु

चंद्रमान के अनुकूल ऋतुएँ इस प्रकार हैं:—

चैत्रवैशाख वसन्त ऋतु, ज्येष्ठआषाढ़ ग्रीष्म ऋतु,
श्रावणभाद्रपद वर्षा ऋतु, आश्विन कार्तिक शरद ऋतु,
मार्गशीर्ष पौष हेमन्त ऋतु; माघ फाल्गुन शिशिर ऋतु।

कालिदास आदि ने सौर मान के अनुकूल शिशिर से आरम्भ करके ऋतुओं का वर्णन किया है। हिन्दी आचार्यों ने प्रायः चंद्रमा के अनुकूल वसन्त से आरंभ करके ऋतुओं का वर्णन किया है।

भाव प्रकाश के कर्त्ता आयुर्वेदाचार्य श्रीभावमिश्र का ऋतुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार से मत है। देखिये —

चयकोपसमा यस्मिन् दोषाणाम् सम्भवन्ति हि।
ऋतुषट्कं तदाख्यातं रवे राशिषु संक्रमात् ॥
ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः प्रावृण्मिथुनकर्कटौ।
सिंहकन्ये स्मृता वर्षाः तुलावृश्चिकयोः शरत् ॥
धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः।
मेषवृषौ रविणा संक्रान्तौ, एवं मिथुनकर्कटाविस्यादि ॥ अन्येतु–
शिशिरः पुष्पसमयो ग्रीष्मो वर्षा शरद्धिमाः।
माघादिमासयुग्मैः स्युर्ऋतवः षट् क्रमादमी ॥
गङ्गाया दक्षिणे देशे वृष्टेर्बहुलभावतः।
उभौ मुनिभिराख्यातौ प्रावृड्वर्षाभिधावृत् ॥
उत्तरायणमाद्यैस्तैः परैः स्याद्दक्षिणायनेम्।
आद्यमुष्णं बलहरं ततोऽन्यद्बलदं हिमम् ॥

अर्थात् मेषादि राषियों में सूर्य के घूमने से छः ऋतुएँ होती हैं कि जिनमें दोषों की वृद्धि, कोप एवं शांति होती है। मेष और वृष की संक्रान्ति को ग्रीष्म; मिथुन और कर्क की संक्रान्ति को प्रावृट् और सिंह तथा कन्या की संक्रान्ति को वर्षा, तुला और वृश्चिक की संक्रान्ति को शरद्; धन तथा मकर की संक्रान्ति को हेमन्त और कुम्भ एवं मीन की संक्राति को वसन्त ऋतु कहते हैं। और किन्हीं का मत है कि शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद तथा हेमन्त ये छः ऋतुएँ क्रम से माघ आदि दो दो महीनों के क्रम से होती हैं। गङ्गा से दक्षिण देश में वृष्टि अधिक होती है इस कारण मुनियों ने प्रावृट् और वर्षा ये दोनों ऋतुएँ अलग अलग कही हैं तथा गङ्गा के उत्तर देश में शीत अधिक

होने से हेमन्त और शिशिर दो ऋतु पृथक् पृथक् मानी जाती हैं इस हिसाब से शिशिर को स्थान नहीं मिलता। पहिली तीन ऋतुएँ उत्तरायण और दूसरी तीन ऋतुएँ दक्षिणायन हैं। उत्तरायण ऋतुओं का प्रभाव गरम तथा बल को हरने वाला होता है और दक्षिणायन ऋतुओं का प्रभाव शीतल तथा बल को बढ़ाने वाला होता है।

इस मत से बसन्त ऋतु एक मास पहिले आजाती है। साधारण लौकिक रीति में भी फाल्गुन में वसन्त ऋतु आजाती है। फाल्गुन को मधुमास भी कहते हैं।

अब इन ऋतुओं का साहित्यिक ग्रन्थों से वर्णन दिया जाता है:—

षट-ऋतुओं का वर्णन करना इस बात का द्योतक है कि बाह्य पदार्थों का आन्तरिक पदार्थों पर कितना प्रभाव पड़ता है। मनुष्य का प्राकृतिक सौन्दर्य्य से प्रभावित होना प्रकृति और पुरुष की एकता का प्रमाण है। ऋतुएँ छः मानी गई हैं।

ऋतुओं के नाम।

है वसन्त ग्रीषम बहुरि, पावस शरद हिमन्त।
शिशिर सहित ऋतु षट सकल, जानि लेहु मतिवन्त॥

१. चैत्र, वैषाख } वसन्त—बरनि वसन्त सुपुष्प अति, विरह विदारन वीर।
कोकिल कलरव कलित वन, कोमल सुरभि समीर॥

२. ज्येष्ठ, आषाढ़ } ग्रीष्म—ताते सरल समीर मुख, सूखे सरिता ताल।
जीव अबल जल थल विकल, ग्रीषम सफल रसाल॥

३. श्रावण, भाद्रपद } पावस—वर्षा हंस पयान बक, दादुर चातक मोर।
केतकि पुष्प कदम्ब जल, सौदामिनि घनघोर॥

४. आश्विन कार्तिक	शरद्–	अमल अकास प्रकास ससि, मुदित कमल कुल कास। पंथी पितर पयान नृप, सरद सु केशव दास॥
५. मार्गशीर्ष पौष	हेमन्त—	तेल तूल तांबूल तिय, ताप तपन रतिवन्त। दीह रयनि लघु दिवस पुनि, सीत सहित हेमंत॥
६. माघ फाल्गुन	शिशिर—	शिशिर सरस मन बरनिए, केशव राजा रंक। नाचत गावत रैन दिन, खेलत हँसत निशंक॥

वसन्त वर्णन

जिस प्रकार रसों में शृंगार को प्रधानता दी गई है उसी प्रकार ऋतुओं में वसन्त को श्रेष्ठता दी गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है "ऋतूनामहम् कुसुमाकरः" इसे ऋतु-राज भी कहते हैं। इसमें प्रकृति अपनी काया पलटने की तैयारी करती है। प्रकृति की उत्पादन शक्ति, वृक्ष और लतागुल्मो में नवरस-जीवन का सञ्चार करती है। वह शक्ति जीर्ण जर्जरित पत्तों की अरुचिकर भार को उतारकर बाहर कर देती है और प्रकृति को नूतन पल्लवों के कोमल शृंगार से सज्जित कर फलों की आशा में कुसुमों से प्रफुल्लित कर देती है। अब उसके साहित्यिक वर्णन देखिये।

बागन में चारु चटकाहट गुलाबन की,
ताल देत तालिया तुलैन तुक तंत की।
गुञ्जत मलिन्द वृन्द तान की उपज पुंज,
कलरव गान कोकिलान किलकंत की।
गोकुल अनेक फूल फूले हैं रंगे दुकूल,
झूमे आम और हाव भाव रसवन्त की।
लहरे तरुन तनु छहरे सुगन्ध मंद,
नाचत नटी लों आवै बैहर वसन्त की।

पद्माकरजी के अनुप्रासमय वसन्त वर्णन में वसन्त की व्यापकता देखिए।

कूलन मैं केलि मैं कछारन मैं कुँजन मैं,
क्यारिन मैं कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पद्माकर पराग हूँ मैं पान हूँ मै,
पानन मैं पीक मैं पलाशन पगंत है॥
द्वार मैं दिसान मैं दुनी मैं देश देशन मैं,
देखो दीप दीपन मैं दीपत दिगंत है।
वीथिन मैं ब्रज मैं नवेलिन मैं बेलिन मैं,
वनन मैं बागन मैं बगरो वसन्त है॥

❀ ❀ ❀

वसन्त ऋतु में सब ही पदार्थ और को और एक नया रूप धारण कर लेते हैं। देखिये।

औरे भांति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलैं,
औरे भांति शब्द पपीहानन के ह्वै गये।
औरे भांति पल्लव लिये हैं वृन्द वृन्द तरु,
औरे छबि पुञ्ज कुञ्ज कुञ्जन उनै गये॥
औरे भांति शीतल सुगन्ध मन्द डोलै पौन,
'द्विज देव' देखत न ऐसे पल ह्वै गये।
औरे रति औरे रंग औरे साज औरे संग,
औरे बन औरे छन औरे मन ह्वै गये॥

अब पूर्णजी की वसन्त सम्बन्धिनी शोभा और उसकी मादकता का वर्णन सुन लीजिए।

वाटिका बिपिन लगो छावन रँगीली छटा,
छिति से सिसिर को कसाला भयो न्यारो है।

कूजन किलोल सों लगो है कुल पंछिनके,
'पूरन' समीरन सुगन्ध को पसारोहै ॥
लागत वसन्त नव सन्त मन जागो मैन,
दैन दुख लागो बिरहीन बरियारो है ।
सुमन निकुंजन मैं, कुञ्जन के पुञ्जन मैं,
गुञ्जत मलिन्दन को वृन्द मतवारो है ।

कविवर बिहारीलाल जी का वसंत वर्णन देखिए ।

छबि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध ॥
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अन्ध ।

× × ×

कूक उठीं कोकिला सुगूँज उठीं भौंर भीर,
डोलि उठे सौरभ समीर तरसावने ।
फूलि उठीं लतिकाहू लौंगन की लोनी लोनी,
झूमि उठीं डालियाँ कदम्ब सरसावने ॥
चहकि चकोर उठे कीर करि शोर उठे,
टेरि लगीं सारिका विनोद उपजावने ।
चटकि गुलाब उठे लटकि सरोज पुंज,
खटकि मराल ऋतुराज सुनि आवने ॥

वसन्त वर्णन में आशीर्वचन सुन लीजिए:—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज, विनोद लवा बरषायो करै ।
रचि नाच लतागन तानि वितान, सबै विधि चित्त चुरायो करै ॥
द्विज देवजू देखि अनोखी प्रभा, अलि चारन कीरति गायो करै ।
चिरजीवो वसन्त सदा द्विज देव, प्रसूनन की झरि लायो करै ॥

भर्तृहरि जी ने वसंत ऋतु का कैसा स्वाभाविक वर्णन किया है यह ऋतु सभी वस्तुओं को एक अनुपम श्री दे देती है और सभी वस्तुएँ इसमें अपनी साधारण स्थिति से उत्तम दिखाई देने लगती हैं उनके गुणों का पूर्ण विकाश हो जाता है । देखिए—

परिमलभृतो वाताः शाखा नवाँकुरकोटयोः ।
मधुरविरतोत्कण्ठा वाचः प्रिया पिकपक्षिणाम् ॥
विरलसुरतस्वेदोद्गाा वधूवदनेन्दवः ।
प्रसरति मधौ राज्याँ जातो न कस्य गुणोदयः ॥

अर्थात् वसंत ऋतु में पवन सुगंध से परिपूर्ण रहती है । वृक्षों की शाखाओं में नए-नए अंकुर उत्पन्न हो आते हैं । कोकिलाएँ मद से उन्मत्त हो मधुर वचन बोलती हैं । स्त्रियों का मुख रतिश्रम-कणों से विभूषित चन्द्रमा सा दिखाई देने लगता है । वसंत ऋतु में रात्रि बड़ी सुहावनी होती है (शरद की चाँदनी से चैत्र की चाँदनी का भी विशेष महत्व है) इन दिनों किस वस्तु के गुण का उदय नहीं होता अर्थात् सभी वस्तुएँ अपने गुणों को प्राप्त होती हैं ।

अनङ्ग के प्रभावसूचक वसन्त के आगमन से प्रकृति में क्या परिवर्तन हो जाता है इसके विषय में देखिये पन्त जी क्या कहते हैं:—

नव वसन्त के सरस स्पर्श से,
पुलकित वसुधा बारम्बार ।
सिहिर उठी स्मित शस्यावलि में,
विकसित चिर यौवन के भार ।
फूट पड़ा कलिका के उर से,
सहसा सौरभ का उद्‌गार ।
गंध मुग्ध हो अन्ध समीरण,
लगा थिरक ने विविध प्रकार ।
अगणित बाहें बढ़ा उदधि ने,
इन्दु - करों से आलिंगन ।

बदले विपुल चटुल लहरों ने,
तारों से फेनिल चुम्बन।
अपनी ही छवि से विस्मत हो,
जगती के अपलक लोचन।
सुमनों के पलकों पर सुख से,
करने लगे सलिल मोचन॥

होली इस ऋतु का विशेष उत्सव है। यद्यपि होली का प्रारम्भ फागुन में हो जाता है तथापि वह एक प्रकार से वसन्त उत्सव ही है क्योंकि उसमें वसन्त का प्रवेश हो जाता है, जो हर्षोल्लास इस ऋतु के आगमन से मानव प्रकृति में उत्पन्न होता है उसका व्यञ्जन नाना प्रकार के खेल कूद और गाने बजाने में होता है। इस ऋतु के वर्णन में प्रायः लोग होली और फाग का वर्णन कर देते हैं। देखिये:—

लाल भयो नभ देखि परै, सब मेघ समान गुलाल की छावनि।
ह्वै झरिसी रही केशर नीर की, कीच मची महि बीच सुहावनि॥
त्यौं ललिते चमकैं चपला सम, बाल भरी मद मोद बढ़ावनि।
भाग भरो वृज देखौ सुनौ, सब राग भरी वह फाग की गावनि॥
मेलनि कण्ठ भुजानि दै खेलनि, झेलनि झोरि गुलाल उड़ावनि।
धूँधर धूम धमारिन की धसि, धावनि औ बल कै गहि लावनि॥
त्यों ललिते लपटान सुबानि सों, तानि भरी पिचकीन चलावनि।
आजु लखो नंद द्वार सखी भली राग भरी वह फाग की गावनि॥

ठाकुर कवि एक सखी के मुँह से क्या डाट दिलवाते हैं देखिये:—

होरी की हौंस हमैं ना कछू, हम जानती हैं तुम रार करैया।
फूलौ न मोहिं अकेली निहारि कै, भूलियो ना तुम गाय चरैया॥

ठाकुर जो बरजोरी करौ तुम, हौ हूँ नहीं कछु दीन परैया ।
फोरिहो काहू की आँख लला रहो नोखे गोपाल गुलाल डरैया ॥

देखिये पद्माकर जी गोपाल जी की क्या दशा बनाते हैं ।

फाग के भीर अभीरन त्यों गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी ।
भाय करी मन की पदमाकर ऊपर नाय अबीर की झोरी ॥
छीन पितम्बर कम्बर तें सु बिदा दई मीड़ कपोलन रोरी ।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी ॥

ग्रीष्म वर्णन

तपत प्रचण्ड मार्तण्ड महिमण्डल में,
ग्रीषम की तीखन तपन वार पार है ।
गिरधरदास कौंच कीच सों, बहन लाग्यो,
भयो नदनदी नीर अदहन धार है ॥
झटक चहूँधन ते लपट लपेटी लूह,
शेष कैसी फूँक पौन झूकन की झार है ।
तावा सी अटारी तपी आवा सी अवनि महा,
दावा से महल औ पजावा से पहार है ॥

❀ ❀ ❀

प्रबल प्रचण्ड चण्ड कर की किरन देखो,
बैहरि उद्दण्ड नवखण्ड धुमिलति है ।
अवनि कराही कैसी तेल रतनाकर सों,
नैन कवि ज्वाला की जहर झलकति है ॥
ग्रीषम की ज्वाला महाकठिन कराल यह,
काल ज्वालामुखी हू की देह पिघलति है ।
लूका भयो आसमान भूधर भभूका भयो,
भभकि-भभकि भूमि दावा उगलति है ॥

❀ ❀ ❀

जीवन को भास कर ज्वाला को प्रकास कर,
भोर ही तें भासकर जर समान छायो है ।
धमक-धमक धूप, सूखत तलाब कूप,
पौन कौन गौन भौन अग्नि में तपायो है ॥
तकि थकि रहे जकि सकल बिहाल हाल,
ग्रीषम अचर चर खचर सतायो है ।
मेरे जान काहू बृषभान जग मोचन को,
तीसरे त्रिलोचन को लोचन खुलायो है ॥

यद्यपि इस ऋतु में इतनी तीव्रता रहती है कि अवनि कराही सी हो जाती है और समुद्र तप्त तैलवत् हो जाता है तथापि इसमें विलास और आनन्द-उपभोग की सामग्री की कमी नहीं रहती है । देखिये, भर्तृहरि महाराज गर्मी की रात्रियों की आनन्ददायक वस्तुओं का किस प्रकार वर्णन करते हैं ।

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणः ।
परागः कासारो मलयजरजः सिन्धु विशदम् ॥

आतप की तीव्रता के कारण छाँह और अंधकार तक सुहावन मालूम पड़ने लगते हैं । आतप का भय इतना उत्कट होता है कि 'अहिमयूर' 'मृगबाघ' अपने स्वाभाविक बैर भाव को छोड़ कर एकत्र निवास करने लग जाते हैं । देखिए बिहारीलालजी का दोहा—

कहलाने एकत बसत, अहि-मयूर मृग-बाघ ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥

देखिए छाया के विषय में—

बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन माँह ।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँह ॥

दोपहरी के साहित्य में और भी अच्छे उदाहरण आए हैं। सेनापति का वर्णन देखिये वह भी उपर्युक्त दोहे के भाव को लिये हुए है।

वृष को तरनि तेज सहसौ किरनि कर,
ज्वालन के जाल विकरालु बरसतु है।
तपति, धरनि जग जरति धरनि सीरी
छाँह को पकरि पथी पंछी विरमतु है।
सेनापति नेक दुपहरी के ढरत होतु,
धमका विषम यों न पातु खरकतु है।
मेरे जान पौनो सीरी ठौर को पकरि कोनो,
घरी एकु बैठि कहू वामे वितवतु है॥

ग्रीष्म का घोर विकराल रूप ऊपर दिया जा चुका है अब उसका प्रातःकालीन सौम्य रूप देखिए—

वारिज वन विकसित विमल नीर, लहरात ललित लहि लहि समीर।
नवतरुन मनोहर अरुन रंग, सरसी सुगंध मारुत प्रसंग॥
जुरि मधुप वृंद करि करि उमंग, मकरन्द हेतु झुमिरत अधीर।
पूरन राजत नव भानु राज, लखि खिली सरोजन की समाज॥
मनु वरुन मित्र के दास आज, लहि सहस दगन पुलकित शरीर।

अब ज़रा ग्रीषम की रात्रि का भी सुहावना चित्र देख लीजिए—

छीर की सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भामिनी को मानु रोष्यो है।
ठौर ठौर छूटत फुहारे मनौ मोतिन के
देव बनु याको मनु का को न अमेठ्यो है॥

सुधा के सरोवर सो अंबर उदित ससि,
मुदित मराल मनु पेरिबे को पैठो है।
बेलि के विमल फूल फूलत समूल मनौ,
गगन ते उड़ि उड़गन गन बैठो है॥

देखिये कवि उड़ान ने चन्द्रमा को चान्दनी के सरोवर का मुदित मराल बता दिया और फूलों को आकाश के तारे बता दिये।

शुचिः सौधोत्संगः प्रतनुवसनं पंकजदृशः,
निदाघे तूर्णं तत्सुखमुपलभन्ते सुकृतिनः।

अर्थात् मनोहर सुगन्धित माला, पंखे की वायु, चन्द्रमा की किरणें, पुष्पों का पराग, सरोवर, चन्दन की रज, उत्तम मदिरा महल की स्वच्छ छत, महीन और हलके वस्त्र और कमल के सदृश नेत्रवाली रमणी इन सब पदार्थों का सुख गर्मी की तेजी से विकल होकर भी पुण्यवान लोग ही उपभोग कर सकते हैं। ग्वाल कवि ने भी ग्रीष्म के विलासों का इस प्रकार वर्णन किया है:—

जेठ को न त्रास जाके पास ये विलास होंय,
खस के मवास पै गुलाब उछर्‌यो करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के वरक भरे,
पेठे पाग केवरे में बरफ पर्‌यो करै॥
ग्वाल कवि चन्दन चहल में कपूर चूर,
चन्दन अतर तर वसन खर्‌यौ करै।
कञ्ज मुखी कञ्ज नैनी कञ्ज के बिछौनन पै,
कञ्जन की पङ्खी कर कञ्ज सो कर्‌यो करै॥

ऐसे ही पदार्थ ग्रीष्म ऋतु को शृंगार का उद्दीपन बना देते हैं। इस ऋतु में जल का महत्व अधिक हो जाता है। "शैत्यं

हि यत्र सा प्रकृतिर्गलस्य" की उक्ति का पूरा पूरा लाभ उठाया जाता है। लोग ठण्ढे देशों में गरम चीजें इस लिये खाते हैं कि प्यास लगे और पानी पीने का आनन्द लें वह आनन्द यहाँ सहज ही में मिल जाता है। छिड़काव और खस की टट्टियों में जल बहुत ही आनन्ददायक होता है। ग्रीष्म-ऋतु में ही जल का जीवन नाम सार्थक हो जाता है। स्नान का भी पूरा पूरा आनन्द इसी ऋतु में मिलता है। गङ्गा तट के निवासी जीवन में ही स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं। तड़ाग और सरिता आदि का केवल दृश्य सुखकर नहीं होता वरन् क्रीड़ा की सामग्री उपस्थित कर वह सभी वास्तव में उद्दीपन की सामग्री बन जाते हैं। जल केलि के हिन्दी काव्य में उत्तमोत्तम वर्णन आए हैं। स्थानाभाव से यहाँ एक ही दिया जाता है। देखिए:——

ग्रीषम विहार भौन साँवरे के ढिग गौन,
सरि क्रीड़ा सोभत सहेली लिए संग की।
होत वलि केलिन के विविध बिधान तहाँ,
बाढ़ो है ललक उर आनन्द उमंग की॥
ता समै भई जो सोभा वरनी न जात मोपै,
दमकि उठी है दुति दूनी अंग-अंग की।
'नागरी' वे कैसी लगें तरनी तरंगनि में,
पानी पर पावक ज्यों फिरत फिरंग की॥

ग्रीष्म में गर्मी के साथ आँधी की भी खूब धूम धाम रहती है। आँधी से सब ऊपर नीचे की वायु एक हो जाती है और थोड़ी देर के लिये यद्यपि वायु-मण्डल रजोमय हो जाता है, तथापि उसका प्रभाव वातावरण पर अच्छा पड़ता है। आँधी में यद्यपि भयानक रस की सामग्री अधिक रहती है किन्तु जो लोग

ऐसी बातों से विचलित नहीं होते उनके लिये वह भी आमोद-प्रमोद का कारण होती है। आधुनिक कवि पं० गुलाब रत्न वाजपेयी कृत आँधी का भीषण वर्णन देखिये:—

पगली विषम वायु मैं हूँ न गयन्दिनी सी,
मैं हूँ यमदूतिका, करालिका करालिनी।
मैं हूँ फुफकारती भुजंगिनी प्रमत्त एक,
कालकूट तुल्य शीघ्र मृत्युचक्र चालिनी।
विकट पिशाचिनी, कुरूपा भी प्रपञ्च भरी,
मैं हूँ अभिमन्यु-युद्ध चाल प्रणपालिनी।
चुनती नुकीले कुल कंटक कठोर ढूँढ़,
करूँ रखवाली विश्व-वाटिका की मालिनी।
धाराधर कृष्ण वर्ण पूर्व के अनेक उठे,
पश्चिम दिशामें खींच दक्खिनी दिखाऊँगी।
गरज गिरेगी गाज, प्रलय मचेगा घोर,
श [illegible] ान रण-भीषण मचाऊँगी।
बरस पड़ेंगे मेघ लोचन विलोक छबि,
तरणी अनोखी मझधार में डुबाऊँगी।
कलम कवीश्वर के कर से पड़ेगी छूट,
दुर्जन दबेंगे, शान्त शान्ति ही न पावेंगे।
सूम का सा सोना लाल लेगी छिपा गोद में मा,
भूत, वर्तमान, त्यों भविष्य भूल जावेंगे।
मोद-मुसकान में गिरेंगे गर्म आँसू टूट,
कम्पित तरङ्ग सातों सागर उठावेंगे।
दूँगी लगा आग, जल जायँगे कलेजे कुल,
यन्त्र मन्त्र तन्त्र काम एक भी न आवेंगे।

× × × ×

खड़ी जो विनोद भरी सुन्दरी समुद्र तीर,
बालिका समान क्या भरेगी सिसकारियाँ।
नागिन लटें जो लहराती साथ आँचल के,
झपट उड़ेंगी ले कपोल चुमकारियाँ।
रोष में मरेगी तान भौंहें तलवार तुल्य,
फेंक लोचनों से अविराम चिनगारियाँ।
सबला बला सी बली, अबला करेगी धूम,
खाक में मिलेंगी फली फूली फुलवारियाँ।

पावस

यद्यपि कवि की स्फूर्ति साधारण-सी वस्तु को भी नया रङ्ग दे देती है और उसके कारण वह अलौकिक प्रतिभा धारण कर लेती है तथापि कुछ पदार्थों में स्वाभाविक आकर्षण है उनमें से पावस ऋतु भी एक है। जो वस्तु बड़े कष्ट के पश्चात् प्राप्त हो उसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है। ग्रीष्म के तीव्र ताप को तयकर बड़े कष्ट के पश्चात् वर्षा-ऋतु मनुष्य को ग्रीष्म की तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त होती है। भारतवर्ष ऐसे कृषि-प्रधान देश में, वर्षा का महत्व केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं वरन् आर्थिक दृष्टि से भी बहुत बढ़ा-चढ़ा है। यद्यपि अर्थ-संग्रह और सौन्दर्य्य-आस्वादन का बहुत कम योग देखा गया है तथापि वर्षा ऋतु में अर्थ और सौन्दर्य्य का एक अनुपम योग हो जाता है, इसीलिये कवियों ने इसकी-भूरि भूरि प्रशंसा की है। वर्षा में ही प्रकृति अपना कलेवर परिवर्तन करती है। पावस की जादू भरी बूँदें पड़ते ही एकदम सूखा संसार हरा हो जाता है। पृथ्वी प्रेमवश अंकुर रूप से रोमांचित हो उठती है। जो गड्ढे पहिले मुँह खोले हुए संसार को निगल जाने के लिये प्रस्तुत से

दिखाई देते थे वह अब जलपूर्ण हो चन्द्र रश्मियों को शीशे की भाँति प्रतिफलित करने लगे हैं। चारो ओर से सृष्टि में आमोद-प्रमोद के चिह्न प्रकट हो जाते हैं। सारी पृथ्वी एक विहार-स्थली बन जाती है। समस्त जीवधारियों के हृदय में वर्षाकालीन शीतल स्निग्ध समीरोत्तेजित नव-जीवन का सञ्चार हो उनका अन्तरामोद नाना प्रकार की केलि क्रीड़ाओं में प्रस्फुटित होने लगता है। कहीं तो बालिकाओं के डोलान्दोलन के साथ उनके भ्रातृ-प्रेम-पूरित मनोहर गीतों की मधुर-ध्वनि और कहीं यूथबद्ध हरितपीत-मयी-इन्दु-धनुष-आभाविनिन्दित चित्रित साड़ियों से सुसज्जित रमणियों का चित्ताकर्षक दृश्य, कहीं बालकों के चकरी-भोरों के खेल, और कहीं देव-मन्दिरों में भगवान कृष्ण का लता-पुष्प-मण्डित फूलों का बिहार और कहीं ग्राम्य अथाइयों में वीर-रस-सञ्चारिणी-आल्हा की गगनभेदी ललकार, पावस ऋतु की सञ्जीवनी शक्ति का परिचय दे रही है।

वर्षा-ऋतु में प्रायः सभी रसों की उद्दीपन सामग्री मिल जाती है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही रूपों की तृप्ति के लिये पावस ऋतु में अमित सामग्री वर्तमान रहती है। वर्षा की शीतल समीर, झिल्ली झङ्कार, कर्ण-कुहरभेदक भेकी-रव, घनानन्दो मयूरों की रोचक-ध्वनि, कामिनी-कण्ठ की उपमेयरूपा कोयल की कुहुक, और "पापी पपिहा की पिउ पुकार" और वर्षा रिम-झिम स्त्ररित-वारि-बिन्दु-पतन का रसिक कवियों ने बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है।

महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि वर्षा-ऋतु सुखी (संयोगी) दुखी (वियोगी) दोनों की उत्कण्ठा पूर्ण कर देती है।

वियदुपचितमेघं भूमयः कन्दलिन्यो
नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः।
शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ताः
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ॥

(शृंगारशतकम्)

अर्थात् मेघों से आच्छादित आकाश, नवीन नवीन अंकुरोंसे पूर्ण पृथ्वी, नवीन कुटज और कदम्ब के फूलों से सुगन्धित वायु और मोरों के झुण्ड की मनोहर वाणी से रमणीय वन-प्रांत, वर्षा में सुखी और दुखी दोनों तरह के पुरुषों को उत्कण्ठित करते हैं।

शृंगार

नीचे के छन्दों में संयोगिनी और वियोगिनी नायिकाओं की वर्षा-ऋतु से तुलना की गई है। संयोग में वही वस्तुएँ सुखद होती हैं और वियोग में वही दुखदायक होती हैं। कवि की तुलना देखिए—

(संयोगिनी)

जुगनू उते हैं इतै जोति है जवाहिर की,
झिल्ली झंकार उतै इतै घुघुरू लरैं।
कहैं कवि 'तोष' उतै चाप इतै बंक भौंह,
उतै बक पाँति इतै मोती माल हीं धरैं॥
धुनि सुनि उतै सिखि नाच सखि नाचैं इतै,
पी करै पपीहा उतै इतै प्यारी सी करैं।
होड़ सी परी है मनो घन घनश्याम जू सों,
दामिनी को कामिनी को दोऊ अंक में भरैं॥

ऊपर के छन्द में वर्षा और संयोगिनी नायिका की समानता

की गई है और निम्नोल्लिखित छन्द में वर्षा को ही संयोगिनी नायिका बनाया गया है। देखिए—

ओढ़े नील सारी घनघटा कारी चिन्तामनि,
कंचुकी किनारो चारु चपला सुहाई है।
इन्द्रबधू जुगुनू जवाहिर की जगमग,
बग मुकतान माल कैसी छबि छाई है।
लाल पीत सेत वर बादर वसन तन,
बोलत सुभृङ्गी धुनि नूपुर बजाई है।
देखिबे को मोहन नवल नट नागर को,
बरषा नबेली अलबेली बनि आई है।

(वियोगिनी)

अब वर्षा और वियोगिनी नायिका की समता की जाती है।

चंचला सी चौंकति चहूँधा आँसू बरसति,
फैले तम केस की न सुधि उर धारी है।
इन्द्र गोप झारी है अँगारो विरहागि बारी,
भूषन जराऊ ज्योति रिंगन बिसारी है।
शंकर बखाने ह्वै पपीहा पीउ-पीउ रटै,
लाज हंस जाये गति दूर की निहारी है।
शोभा लखि न्यारी मन अपने विचारी-
बरषा है यह भारी कै वियोग वारी-नारी है।

संयोग शृंगार में जिन जुगुनुओं को जवाहिर की दीप्ति कहा था वही वियोग में अंगार बन जाती हैं, बकावलि जिसकी कि दन्तावलि से उपमा दी गई थी वही वर्षा के शरों की पद्मावलि बन जाती है। देखिए:—

झर नाहि बराबर बान जुरे, वक नाहि लगो पर ऊपर है।
जुगुनू गन बूंद न एकन अगि, परै भिरि भालन को भर है।

मुरवा अरु चातक दादुर शोर, न जंतु कोलाहल को गर है।
विरही जन जीवन के बध को, बरषा न सखी सर पंजर है।

करुण

जब अति वर्षा के कारण नदियाँ बौरा उठती हैं और अपनी सीमा को उल्लंघन कर ग्राम, वन और उपवन को अपने आवेग में खींच कर प्लावित कर देती हैं, उस समय सारे जीवधारियों की दशा करुणाजनक हो जाती है। सैकड़ों घर बह जाते हैं। मनुष्यों को अपने प्रिय जनों का आँखों के देखते-देखते वियोग सहना पड़ता है तथा जल-थल एक हो जाने के कारण वृक्षों के ऊपर पशु-पक्षियों की भाँति वास करना पड़ता है, उस समय वर्षा की सारी शोभा करुणक्रन्दन में विलीन हो जाती है। वर्षागम में विरहिणी नायिकाओं के नेत्र करुण-क्रन्दन में मेघों से बाजी लगाने लग जाते हैं। जिन्हों ने बाढ़ पीड़ित लोगों का हृदय देखा है वह वर्षा को करुणा की मूर्ति ही बतलावेंगे।

हास्य

वर्षा में हास्य की सामग्री का भी अभाव नहीं है। घर में टपका लगने से जिसका कि शेर से बढ़कर डर होता है करुण और हास्य का असाधारण संयोग हो जाता है। देखिये—मीर साहब क्या फरमाते हैं।

क्या लिखूँ मीर अपने घर का हाल। इस खराबी में मैं हुआ पामाल॥
कूचा मौज से है आँगन तङ्ग। कोठड़ी के हुबाब के से ढङ्ग॥
चार दीवारी सौ जगह से खम। तर तनक हो तो सूखते हैं हम॥
लोनी लग लग के झड़ती है माटी। आह क्या उम्र बेमज़ा काटी॥

झाँड़ बाँधा है मेंह ने दिन रात। घर की दीवारें हैंगी जैसे पात॥
बाउ में काँपते हैं जो थर थर। उन प रहा रखे कोई क्यों कर॥
कहीं घूँसों ने खोद डाला है। कहीं चूहे ने सर निकाला है॥
कहीं घर है किसी छछूँदर का। शोर हर कोने में है मच्छर का॥
कभू कोई सँपोलिया है फिरे। कभू छत से हजार पाय गिरे॥

× × × × × × ×

घर की सूरत तो और रोती है। छत भी बेइख्तियार रोती है।
मेंह एक बारगी जो टूट पड़ा। कड़ी तख्ता हर एक छूट पड़ा॥
ले गया पेचोताब पानी का। कोठड़ी थी हुबाब पानी का॥
गठड़ी कपड़ा की मैं उठाई थी। सर प भाई के चारपाई थी॥
अपना असबाब घर से हम लेकर। अलगनी सब के हाथ में देकर॥
सफ की सफ निकली इस खराबी से। ताकि पहुँचे कहीं शिताबी से॥
मार जो इस तरह से आते हैं। जैसे कंजर कहीं को जाते हैं॥

अब जरा निरालाजी का बादल राग देखिये:--

सिन्धु के अश्रु !
धरा के खिन्न दिवस के दाह !
बिदाई के अनिमेष नयन !
मौन उर में चिह्नित कर चाह,
छोड़ अपना परिचित संसार—
सुरभि का कारागार,
चले जाते हो सेवा पथ पर
तरु के सुमन !
सुफल करके,
मारीच माली का चारु चयन।
स्वर्ग के अभिलाषी तुम वीर,
सव्यसाची-से तुम अध्ययन-अधीर

अपना मुक्त विहार,
छाया में दुःख के अन्तःपुर का उद्घाटित द्वार
छोड़ बन्धुओं के उत्सुक नयनों का सच्चा प्यार,
जाते हो तुम अपने पथ पर,
स्मृति के गृह में रख कर
अपनी सुधि के सज्जित तार।
पूर्ण-मनोरथ! आए—
तुम आए;
रथ का घर्घर नाद
तुम्हारे आने का सम्वाद!
ऐ त्रिलोक-जित! इन्द्र धनुर्धर!
सुर बालाओं के सुख-स्वागत!
विजय! विश्व नवजीवन भर,
उतरो अपने रथ से भारत!
उस अरण्य में बैठी प्रिया अधीर,
कितने पूजित दिन अब तक हैं व्यर्थ
मौन कुटीर।
आज भेंट होगी—हां, होगी निस्सन्देह,
आज सदा-सुख-छाया होगा कानन-गेह
आज अनिश्चित पूरा होगा श्रमित प्रवास,
आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।

पं० सूर्यकान्तजी त्रिपाठी 'निराला'

अब दूसरे छायावादी कवि 'पन्त' जी की बादल-सम्बन्धी उक्तियों पर ध्यान दीजिये:—

धीरे धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश में शीघ्र अछोर।

नभ के उर में उमड़ मोहसे,
फैल लालसा से निशि भोर।
इन्द्र चापसी व्योम-भृकुटि में,
लटक मौन चिन्ता से घोर।
घोष भरे विप्लव भय से हम,
छा जाते द्रुत चारो ओर।

× × × × ×

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल।
अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल।
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल-भस्म मारुत के फूल।
हमही जल में थल-थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।

कहीं कहीं रपटीली भूमि में बड़े-बड़े आदमियो का लोट पोट होकर, नट-लीला करना बड़ा ही हास्योत्पादक हो जाता है। बालकों का ताली बजाकर "बुढ़िया मर गई फाके से, बरसो राम धड़ाके से" चिल्लाना कहीं पीले हरे रङ्गों से सुसज्जित विदूषकवेष धारी बालकों का "काली-पीली बादरिया बरसो राम झड़ा झड़िया" कह कर नृत्य करना और कहीं दधिकाँदव में आये हुए बालक-मण्डली का "हाथी घोड़ा पालकी, जै कन्हैया लाल की" कह कर पंजोरी माँगना और उसके फंक्कों से अपना उदर भर लेना सभी दर्शकों के चित्तामोद का कारण हो जाता है।

इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों की करुण दशा देखिये :—

ब्रज के लोग फिरत बितताने ।
गैयन लै बन ग्वाल गये ते, धाए आवत ब्रजहि पराने ।
कोऊ चितवत नभ तन चकृत ह्वै कोउ गिरि परत धरनि अकुलाने ।
कोऊ लै ओट रहत वृक्षन की, अंधधुंध दिशि विदिशि भुलाने ॥
कोउ पहुँचे जैसे तैसे गृह, कोऊ ढूँढ़त गृह नहिं पहिचाने ।
सूरदास गोवर्धन पूजा, कीने कर फल लेहु बिहाने ॥

रौद्र—

जिस समय वर्षा के वेग के कारण किसी मनुष्य को अभीष्ट सिद्धि अथवा आगमन में बाधा उपस्थित होती है तब वह विधाता के प्रति रौद्र रूप धारण किये बिना नहीं रहता। विरहिणी रमणियों का नैराश्य भी रौद्र रस धारण कर लेता है और वह झुँझलाहट में आकर बादल को चुनौती देने लगती है "बरसो बदरा तुम्हें धूर दई हैं।" मनुष्य अपने को प्रकृति का राजा मानता हुआ प्रकृति के हाथ अपनी अभिलाषाओं का अवरोध नहीं देख सकता और अशक्त होते हुए भी क्रोध के आवेग में आ जाता भयानक—रौद्र के साथ ही भयानक लगा हुआ है। ऋतु देवी भगवती की भाँति सौम्य और उग्र दोनों ही रूप रखती है। वर्षा का सौम्यरूप शृंगारी लोगों का ध्येय है और साधारण जन प्राकृतिक शोभा से तो प्रभावित होते ही हैं किन्तु जब इन्द्रदेव प्रकोप कर महिमण्डल को बोरने का प्रण सा करते हैं तब भयानक रस की सामग्री उपस्थित हो जाती है। स्वयं वीर-शिरोमणि भगवान रघुनाथ जी भी वर्षा का उग्र रूप देख कहने लग जाते हैं।

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा ।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा ॥

क्रोध से संचालित सुदर्शन-चक्र की सी आभा रखनेवाली घोर गर्जनायुत चपला की चमक, मेघों का गूढ़ आमोद भीमान्धकार और तीक्ष्ण तीर सदृश अविरल वारि-धारा का निरन्तर पतन ये सभी भीरुस्वभावा सुन्दरियों के मन में भयोत्पादन करा देते हैं। गिरधरदासजी पावस को प्रलयकाल का नमूना बताते हैं।

उमड़ि उमड़ि नदी नद कूल बोरत हैं,
जोर जलधारन सो सूझत कहूँ ना है।
परम प्रचण्ड पौन धावनि त्यों धुंरवा की,
झिल्लिन को सोर सुने होत कान सूना है।
गिरधरदास महा विज्जुको प्रकास सोई,
लागे दीह दुरुह दवानल सो दूना है।
ऐरी बाल जोई श्याम बिनु सुख खोई यह,
पावस न होय प्रलय काल को नमूना है।
उमड़ि घुमड़ि घन छोड़त प्रचण्ड धार,
अति ही प्रचण्ड पौन झूंकन बहत है।
द्विजदेव संध्या को कोलाहल चहुँधा नभ,
शैल तै जलाहल को योग उमहत है॥
बुद्धि बल थाको सोई प्रबल निशाको मेघ
देखि व्रज सूनो बैर आरानो गहत है।
एहो गिरधारी! राखो! शरण तिहारी अब,
फेरि यहि बारी वृज बूड़न चहत है॥

वीर—

यद्यपि वर्षा के कारण बाहरी आवागमन बन्द हो जाता है तथापि वीर के स्थायी भाव उत्साह का प्राबल्य होने के कारण

यह ऋतु वीर रस की भी सहायक होती है। वर्षा काल में वीर रस प्रधान रामायण का लङ्काकाण्ड तथा आल्हा का पाठ बहुत ही आनन्दप्रद होता है। गति एवं चाञ्चल्य, जो वीर रस में सहायक होते हैं, प्राकृतिक स्पन्दन तथा सञ्चालन में उन भावों का प्राचुर्य्य दिखाई देता है। सारी प्रकृति वीर रूप धारण कर उत्साह के साथ उन्नति पथ में अग्रसर होने के लिये प्रस्तुत रहती है।

घनघोर न घोर निशान बजै बगुला न धुजागन खेचर को।
चपला न गुलाब कृपान कढ़ी जलधार नहीं झर है सर को।
धुनि दादुर चातक सोरन की न कुलाहल है अरि के घर को।
धर धीर हिये बरषा न भटू गिरि ऊपर कोप पुरन्दर को॥

देखिये एक कवि वर्षा को युद्ध से किस प्रकार समानता करता है:—

पावस प्रचण्ड आयो पूरि कै घमंडि अति,
दुसमन नारि को सहाय मनमथ लै॥
कारी कारी तोप घन अवलि अनेक लीन्हे,
वायु बैल जोति कै बजर व्योम पथ लै।
गिरधर दास दै पलीता निज जुगरत,
बकवृन्द केतु धार्‍यो जोति कै अरथ लै।
बूँदन के छर्रा छोड़ि नाशन चहत ब्रज,
आओ बृजराज जू बहोरि सोइ रथ लै।

अद्भुत—

वैसे तो सारी सृष्टि अद्भुत रस का चमत्कार है। सृष्टि के विषय में जब मति पंगु हो जाती है तब गोस्वामी तुलसीदास की भाँति कहना पड़ता है कि—

केशव कहि न जाय का कहिये ।
देखत तव विचित्र रचना अति समुझि मनहि मन रहिये ॥

किन्तु वर्षा काल में जब कि क्षण-क्षण में प्रकृति अपने दृश्यों में नयी-नयी छटा दिखलाती है, उस समय साक्षात् अद्भुत रस मूर्तिमान हो प्रस्तुत हो जाता है । बिना किसी आधार के चित्र विचित्र अवनि अम्बर ;को मिटाने वाला सेतु इन्द्र-धनुष रूप में उपस्थित हो जाता है । नाना प्रकार के कीट पतंग-सृष्टि वैचित्र्य का परिचय दे मन को विस्मययुत बना देते हैं । एक दिन के दिन में, सारे संसार का सजीव और कोलाहलयुत हो जाना कम आश्चर्य की बात नहीं । मखमल को लज्जित कर देने वाली इन्द्र-वधूटियाँ और रंग-बिरंग कीट-पतंग आदि सृष्टिकार के रचना-कौशल्य में परम श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं । इन्द्र-वधूटी के सम्बन्ध में एक क्या ही उत्तम उक्ति है :—

पावस में सुर लोकते, जगत अधिक सुख मान ।
इन्द्रबधू जिहि ऋतु सदा, छिति बिहरत है जान ।

वन में लता, गुल्म आदि पौधे प्रगट हो जाते हैं जो कि सुरक्षित उद्यानों के लिये भी अप्राप्य हैं । निर्मल गगन का एक साथ मेघाच्छादित होना और कहीं ज्येष्ठ की परिचय करा देनेवाली धूप, कहीं छाया, पूर्ण रूप से विस्मय के भाव की पारिपोषक होती है । कहा भो है "सीता राम की माया, कहीं धूप कहीं छाया" मेघों की अद्भुतता का वर्णन देखिये :—

भूमि गर्भ में छिप विहङ्ग से,
फैला कोमल, रोमिल पङ्ख,

हम असंख्य अस्फुट बीजों में,
सेते सांस, छुड़ा जड़ पङ्क।

विपुल कल्पना से त्रिभुवन की,
विविध रूप धर, भर नभ अङ्क।
हम फिर क्रीडा-कौतुक करते,
छा अनन्त उर में निःशङ्क।

कभी चौकडी भरते मृग से,
भूपर चरण नहीं धरते,
मत्त मतङ्गज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते।

कभी हवा में महल बना कर
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव मूर्ति ही से निस्सार।

बीभत्स

इस विश्व-वैचित्र्य में पाप-पुण्य, दिन-रात, भले-बुरे सभी को स्थान है। पावस-ऋतु में जहाँ अन्य रसों की सामग्री पूर्ण-रूपेण विद्यमान है वहाँ वीभत्स की सामग्री का अभाव नहीं। वर्षा में प्राकृतिक शोभा के साथ कूड़ा-करकट, दुर्गन्धित-पंककीर्ण मार्ग, सड़े-गले पदार्थ एवं विशूचिकादि रोग, सब बीभत्स रस के उत्तेजक हैं। विशूचिकादि रोग भी इसी ऋतु में होते हैं। बेनी कवि का हास्य एवं बीभत्समय लखनऊ की कीच का वर्णन देखिये:—

गड़ि जात बाजी औ गयन्द गन अड़ि जात
सुतुर अकड़ि जात मुसकिल गऊ की।

दावन उठाय पाय धोखे जो धरत होत
आप गरकाय रहिजात पाग मऊ को ॥
'बेनी' कवि कहै देखि थर थर काँपे गात
रथन के पथ ना विपद बरदऊ की।
बार बार कहत पुकार करतार तोसों
मीच है कबूल पै न कीच लखनऊ की ॥

शान्त

प्राकृतिक शोभा चित्त को एकाग्र कर निश्चल बना देती है और उसमें आत्मा का प्रकाश प्रतिबिम्बित होने लगता है। वास्तव में वर्षा ऋतु अन्य सब रसों की पोषक होती हुई शृंगार और शान्त को विशेष रूप से सहायक होती है। प्रकृति के मनोरम दृश्य हृदय को विशालता की ओर आकर्षित कर अन्य सांसारिक पदार्थों की ओर उपेक्षा-भाव उत्पन्न कर देते हैं।

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में नवरसों की सामग्री उपस्थित रहती है उसी प्रकार छवों ऋतुओं की भी सामग्री वर्तमान है। यद्यपि शेष पाँच ऋतुओं में भी नवरस और छः ऋतुओं की सामग्री का खोजना कल्पना-जगत के निवासियों के लिए दुष्कर नहीं है तथापि जिस सुगमता और स्वाभाविकता के साथ वर्षा ऋतु में समावेश हो सकता है उतना अन्य ऋतुओं में नहीं। कारण कि जल के सान्निध्य से ग्रीष्म और शीत के बीच का पुल सा बँध जाता है। क्षण में घोर आतप प्रतीत होता है क्षण में वर्षा वारि से सिञ्चित भूमि हो जाने से शिशिर की सी शीतल समीर बहने लग जाती है।

(वसंत)—

वर्षा के धोए धोए पात वसंत के नवांकुरित पल्लवों का स्मरण दिला देते हैं तथा प्रकृति का पुष्प मंडन वर्षा ऋतु में वैसा ही हो जाता है जैसे कि वसंत में। समीर में भी वही शीतलता आजाती है। होली की कृत्रिम कीच स्वाभाविक कीचड़ के रूप में परिणित हो जाती है। कामिनियों के रंग-बिरंगे वस्त्र वसंत के रंग-बिरंगे पुष्पों की आभा दिखाते हैं। जिस प्रकार वसंत संयोगी और वियोगियों के सुख दुःख को बढ़ा देता है उसी प्रकार वर्षा ऋतु भी।

(ग्रीष्म)—

जिस समय वर्षा थोड़ी देर के लिए रुक जाती है उस समय ग्रीष्मऋतु अपने पूर्ण प्रकोप के साथ उपस्थित हो जाती है। वर्षा एक प्रकार से ग्रीष्म समाविष्ट ही रहती है। इतना ही नहीं वरन् वर्षा के पश्चात् की धूप कभी-कभी ग्रीष्म की धूप से भी असह्य होती है। 'बदरे का घाम' एक प्रकार से लोकोक्ति हो गया है।

(वर्षा)—

वर्षा में, वर्षा ऋतु देखने के लिए कोई कल्पना करने की आवश्यकता नहीं।

(शरद)—

जिस प्रकार पीछे की ओर देखने से वर्षा में ग्रीष्म समाविष्ट रहता है उसी प्रकार आगे की ओर देखने से वर्षा में शरद का आनन्द वर्तमान हो जाता है। जहाँ बादल खुले और जरा भी 'घटा हटी नभ खिली तरैयाँ' उस समय वर्षा में शरदीय यामिनी के आनन्द का अनुभव होने लगता है। अंधकारमय आकाश के पश्चात् ही उज्ज्वल आकाश प्रतिकूलता के कारण अधिक उज्ज्वल

दिखाई पड़ने लगता है और चन्द्र वर्षा वारिपूरित स्थलों में प्रति विम्बित आकाश से उतर कर सूरदासजी के शब्दों में "देखो सखि सहस चंद्र इक ठौर" हो जाती है।

(हेमन्त)—

जिस समय घोर वर्षा होती है और दो-दो तीन-तीन दिन तक आकाश मेघाच्छादित रहता है उस समय 'तेल तूल ताम्बूल,प्रिय' की आवश्यकता प्रतीत होने लग जाती है ! जिस समय रात्रि में पानी बरसते बरसते बंद ही नहीं होता है उस समय की रात्रि हेमन्त की रात से भी दीर्घ तर हो जाती है और बादलों के आच्छादित रहने से सूर्य्योदय न होने के कारण बैठे बैठे ही सहज में दुपहर हो जाती है। और थोड़े ही काल में संध्या हो जाती है और 'दीह रयनि लघु दिवस' की स्थिति हो जाती है।

(शिशिर)—

वर्षा की वायु 'पतझड़' ही नहीं, वरन 'पादप झड़' भी कर बैठती है और जिस प्रकार शिशिर में लोग वसंत की नवीन सृष्टि की प्रतीक्षा करते हैं उसी प्रकार वर्षा में लोग शरद की नवीन सृष्टि की बाट जोहने लगते हैं।

अब वर्षा के कुछ साहित्यिक वर्णन देखिए:—

धनी रतनाकर से, धनी मेघमाला लाई,
मुक्ता-मनी से, वारि-बुन्द बरसायो है।
कनक छरी सी खरी, दामिनी धरी है हाथ,
रजत-पहार सों, धवल घन लायो है॥
हीरक से स्वेत, लाल मनि से सुमनलाल,
हरित मनी से, हरे तन पै सजायो है।

शारिद-नसावन औ, सुख-सरसावन या,
सावन-सुहावन, कुबेर बनि आयो है ॥

× × × ×

वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा लोग बड़े चाव से करते हैं। देखिए भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी एक सखी से क्या कहलाते हैं:—

सखी अब आनंद की ऋतु ऐहैं।
बहुदिन ग्रीषम तप्यो सखीरी, सब तन ताप न सैहैं ॥
ऐहैं झुकि झुकि कै बादर, चलि है शीतल पौन।
कोयल कुहुक-कुहुक बोलैंगी, बैठि कुंज के मौन ॥
बोलेंगे पपीहा पिउ-पिउ वन, अरु बोलेंगे मोर।
हरीचद्र यह ऋतु छबि लखि कै, मिलिहैं नंदकिशोर ॥

× × × ×

सखीरी कछु तौ तपनि जुड़ानी।
जब सों सीरी पवन चली है, तब सों कछु मन मानी।
कछु ऋतु बदलि गई आली री, मनु बरषै गो पानी।
हरिचद्र नभ दौरन लागे, वरषा के अगवानी ॥

× × × ×

वर्षा ऋतु का एक साधारण वर्णन देखिए:—

सुनिए धुनि चातक मोरन की, चहु ओरन कोकिल कूकन सों।
कवि 'देव' घटा उनई त्यों नई, वन भूमि भई दल दूकन सों ॥
अनुराग भरे हरि बागन मैं, सखि रागत राग अचूकन सों।
रँगराती हरी लहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकन सों ॥

देखिये वर्षा ऋतु का कैसा अच्छा वर्णन है:—

घहरि घहरि घेरि घेरि घोर घन आये,
छाये घर घरन घुमोले घने घूमि घूमि।

डारैं जल धारें जोर जमत जमाति जोरि,
करैं ललकारैं बार-बार व्योम जूमि जूमि ॥
'गिरिधर दास' गिरिराज के शिखर सब,
चपल चहूँधा ते रहे हैं चारु चूमि चूमि ।
झूलि-झूलि झहरि झहरि झरि झेलि झेलि,
झपकि झपकि झपि झुकि झुकि झूमि झूमि ॥

+ + + +

सोर कै घेरे घने घने आय, बड़े बड़े बूँदन को बरसावैं ।
लीन्है जमाति फिरैं बग पांति, सोहात न नेक सबै तन तावैं ॥
धावैं चहूँ दिशि भावै भरी ललिते, जस बिज्जु छटा चमकावैं ।
पीय बिना बलहीन विचारि कै, बीर बली धुरवा धमकावैं ॥

वर्षा कालीन केलि क्रीड़ाओं में झूला का मुख्य स्थान है । साहित्य में झूलों के अच्छे वर्णन आए हैं । भारतेन्दु बाबू ने झूलन क्रीड़ा का बहुत ही मनोहर जीता जागता चित्र खींचा है:—

दोऊ मिलि झूलत कुंज वितान ।
चहुँ ओर एकन एक सो लगि, सघन विटप कतार ॥
तापै लता रहि लपटि घेरे, मूल सो प्रति डार ।
बहु फूल तिनमें फूल सोहंत, विविध लरन अपार ॥
तिमि अवनि तृन अंकुर मयी भयो, दसौ दिसि इक सार ।
इक सबल लखि कै डार डार्‌यो, तहाँ ललित हिंडोर ॥
तापै लता चहुँधा लपेटी, झूमि झूमर लोल ।
तहाँ झमाक झूलत होड़ वदि वदि, उमंगि करहि कलोल ॥
खेलै हँसै गेदुक चलावैं, गाइ मीठे बोल ।
झोटा बढ़ै रमकत दोऊ दिसि, डार परसत जाय ॥
फरहरत अंचल खुलत 'बेनी' अंग परत दिखाय ।

टूटि मोती माल मुक्ता, गिरत भू पै आय ॥
मनु मुक्त जन अधिकार गत लखि देत धरनि गिराय ॥

× × ×

संयोग-शृङ्गारसंबंधी वर्षा की और बहारें देखिए—
तीज की तैयारी पर 'पद्माकर' कहते हैं—

तीर पर तरनि तनूजा के तमाल तरे,
तीज की तैयारी तकि आई अँखियान में ।
कहें पद्माकर सो उमगि उमंग उठी,
मेंहदी सुरंग की की तरंग अँखियान में ॥
प्रेम रंग बोरी गोरी नवल किसोरी झोरी,
झूलत हिंडोरे सों सुहाई अँखियान में ।
काम झूलै उर में उरोजन में दाम झूलै,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अँखियान में ॥

झूले पर पद्माकर अपनी राय देते हैं—

भौंरन की गूंजिबो बिहार बन कुंजन में,
मंजुल मलारन को गावनी लगत है ।
कहैं पद्माकर गुमानहू में मानहू में,
प्राणहूँ ते प्यारो मन भावनी लगत है ॥
मोरन की सोर वन-घोर चहु ओरन,
हिंडोरन को वृन्द छबि छावनी लगत है ।
नेह सरसावन में मेह बरसावन में,
सावन में झूलिबो सुहावन लगत है ॥

संयोगशृंगार-सम्बन्धी रसमय चित्र देखने के पश्चात् अब
[व]र्षाकाल में विरहिणियों की विरह-व्यथा की विषम वेदना का
[व]र्णन सुन लीजिए—

एक विरहिणी ने वर्षाकालीन मेघगर्जन और दामिनी की दमक को शोक के जन्मोत्सवसम्बन्धी आनंदामोद बतलाया है। देखिए:—

साझहू सकारे झनकारे होत नदी नारे,
पावस की माँझ झाँझ झिल्ली ना तजत ए।
दामिनि मसाल को दिखावै ताल दादुर दै,
मोर चहुँ ओर नाचि नाटको सजत ए॥
धुरवा मृदंगन की धीर धुधकार ठानै,
राते नैन माते कलि गान को भजत ए।
शोक को जनम व्रज ओक में भयो है ऊधो,
सांवरे गिरह ते बधावरे बजत ए॥

एक विरहिणी वरषा के बादलों को संसार में लगी हुई आग का धुआँ बतलाती है देखिए:—

धुरवा होय न अलि इहै, धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद॥

एक विरहिणी रमणी पावस की झर की पावक की झर के साथ तुलना करती हुई पावस की झर की दाहकता को विषमतर बतलाती है देखिए:—

पावक झरते मेह झर, दाहक दुसह विशेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन की देख॥

एक विरहिणी चपला को कामदेव की तलवार बतलाती है। कहती है कि कामदेव ने धनुष बाण छोड़ कर तलवार धारण की है। देखिए:—

यह चपला चमकत नहीं, डारि धनुष और बान।
बिरहिन पै अति कोप करि, काढ़ी काम कृपान॥

एक विरहिणी कहती है कि वर्षा ऋतु में पति के बिना कौन पत रक्खेगा। देखिए—

सूझत है नहिं नैनन सों, मग देखि दसौ दिसि माहिं अँधेरो।
लागि रह्यो झर बूँदन को, मनौ बान मनोज हिये खरके रो॥
कौंधत है चपला चहुँ ओरन, मोरन बोल बनाय कहे रो।
कोपत आवत है बदरा, सु बिना पति को पत राखिहै मेरो॥

वर्षा के बादलों की अँधियारी के वर्णन में कवियों ने अपनी कल्पना को अतिशयिता तक पहुँचा दिया।

कविवर बिहारीलाल जी तो कहते हैं कि वर्षा में दिन रात ही नहीं मालूम पड़ता। केवल चकई चकवा के संयोग-वियोग मे अनुमाना जाता है। देखिए—

पावस निसि अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं आन।
रात घोस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥

कविवर सेनापति जी कहते हैं कि वर्षा ऋतु में देवताओं का सो जाना इस कारण होता है कि वर्षा काल में दिनरात का भेद नहीं मालूम होता है। क्या ही अच्छी सूझ है। देखिए—

'सेनापति' उनये नये जलद पावस के
चारिहु दिसा न घुघरत भरे तोय के
सोभा सरसानै न बखानै जात केहू भाँति
आते हैं पहार मानौ काजर के ढोय कै॥
घन सों गगन छायो तिमिर सघन भयो
देखि ना परत गयो रवि नभ खोय कै
चार मास भर घोर निसा को भरम करि
मेरे जान याही ते रहत हर सोय कै॥

'शरद ऋतु'

यद्यपि पावस ऋतु की प्रशंसा के पश्चात् शरद ऋतु की प्रशंसा करना ऐसा ही होगा। जैसे गंगा जी पहुँच कर 'गंगादास' और यमुना जी पहुँच कर 'यमुनादास'। तथापि इस शरद में भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जो कवि के चित्त को आकर्षित कर उसकी प्रतिमा को उत्तेजित कर देती हैं। 'गंगादास' और 'यमुनादास' वाली लोकोक्ति का चाहे उपहास कर लिया जावे किन्तु उसमें बहुत कुछ सार है। प्रत्येक वस्तु में कुछ न कुछ विशेष गुण होते हैं उन्हीं गुणों को लेकर वह संसार में स्थिर रहती है और उन्हीं के कारण वह लोगों की प्रशंसा का पात्र बन जाती है। वर्षा ऋतु में सब रसों की सामग्री रहते हुए भी वह मनुष्य की परिवर्तन चाहनेवाली स्वाभाविक प्रवृत्ति पर विजय नहीं पा सकती। वर्षा का आनन्द साधारण लोग घर के भीतर ही अथवा नगर के निकट स्थान वन-उपवनों में ले सकते हैं किन्तु दूर की यात्रा वर्षा काल में सुखद नहीं होती इसीलिए 'वर्षा-विगत' हो जाने पर लोग विदेश यात्रा का और अन्य काय आरंभ करने का मुहूर्त विजयादशमी का निश्चित करते हैं।

जिस प्रकार भींगा हुआ पक्षी, पर सूख जाने पर उड़ान लगाने के लिए तैयार हो जाता है उसी प्रकार सब लोग अपने अपने कार्य्य में संलग्न होने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। देखिए, बिहारीलाल जी क्या कहते हैं:—

> घन घेरो छुटि गो हरषि, चली चहुँ दिशि राह।
> कियो सुचैनो आय जग, सरद सूर नरनाह॥

घन की घोर घटाओं से तिमिराच्छादित गगन-मण्डल निर्मल कान्ति धारण कर लेता है। कृष्ण पक्ष की रात्रि में तारावली हीरक माल-सी जगमगाती है और शुक्ल पक्ष की शुभ्र ज्योत्स्ना देवों के आनन्दहास का द्योतन करती है। शरद काल में जैसी आनंदामोद के लिए रुचि रहती है वैसी ही मनुष्य की कार्य्य-क्षमता बढ़ जाती है और उनका हृदय उत्साह से प्लावित हो जाता है।

शरद का साधारण रूप देखिए:—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति—
'सेनापति' को सोहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन वन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अन-गन हैं॥
उदित विमल चन्द चाँदनी छिटकि रही,
राम को सो जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयो सेत हैं बरन सब,
मानहु जगत क्षीरसागर मगन है॥

\+ + + +

शरद सोहाई आई पुहुमि प्रकाशन है,
कासन की रही दुति दिसन दमकि है।
सर सरितान सोभा सरस समूहन की,
गन्ध रही सीतल समीरन गमकि है॥
मोरन को सोर सुनि परै ना चकोरन की,
चाह रही चन्द पै जमाति ज्यों जमकि है।
तमकि रही है जोति नभ में तरैयन की,
चाँदी सी पहूँधा रही चाँदनी चमकि है॥

गोस्वामी तुलसीदास जी शरद ऋतु का क्या ही उत्तम वर्णन करते हैं उनकी उपमाएँ सदा की भाँति आध्यात्मिक हैं ऋतु-वर्णन के साथ विमल उपदेश भी होता जाता है। देखिए:—

बरषा बिगत शरद ऋतु आई, लछिमन देखहु परम सुहाई।
फूले कास सकल महि छाई, जनु वर्षा ऋतु प्रगट बुढ़ाई ॥
उदित अगस्त पन्थ जल सोखा, जिमि लोभहिं सोषइ सतोषा।
सरिता सर निर्मल जल सोहा, सन्त हृदय जस गत मद मोहा ॥
रस रस सूख सरित सर पानी, ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।
जानि शरद ऋतु खञ्जन आए, पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए॥
पंक न रेनु सोह अस धरनी; नीति निपुन नृप की जस करनी।
जल संकोच विकल भइ मीना, अबुध कुटुम्बी जिमि धनहीना ॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा, हरिजन इव परिहरि सब आसा।
कहुँ कहुँ वृष्टि शारदी थोरी, कोउ एक पाउ भगति जिमि मोरी ॥

चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाय श्रम, तजहि आश्रमी चारि ॥

सुखी मीन जे नीर अगाधा, जिमि हरि सरन न एकौ बाधा।
फूले कमल सोह सर कैसा, निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा ॥
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा, सुन्दर खग रव नाना रूपा।
चक्रवाक मन दुख निस पेखी, जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी ॥
चातक रटत तृषा अति ओही, जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही।
सरदातप निशि ससि अपहरई, संत दरस जिमि पातक टरई ॥
देखि इंदु चकोर समुदाई, चितवहिं जनु हरिजन हरि पाई।
मसक दंस बीते हिम त्रासा, जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा ॥

भूमि जीव संकुल रहे गए सरद ऋतु पाय।
सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रमु समुदाय ॥

× × ×

शरद रात्रि में श्रीकृष्ण भगवान् की रास-क्रीड़ा के साहित्य में अच्छे वर्णन आए हैं:—

जमुना के पुलिन उजेरी निसि सरद की,
राका को छपाकर किरिन नभ चाल की।
नंद को लड़ैतो तहाँ गोपिका समूह लैके,
रची रास-क्रीड़ा बजै बीना सुरताल की॥
लहा छेह गतिन की कही ना परत मोपै,
द्वै द्वै गोपिका के मध्य छवि नन्दलाल की।
सोभा अभिराम अवलोकि अभिमन्य कहै,
एक बार बोलो प्यारे मदन गोपाल की॥
भूल्यो गति मति चंद चलत न एक पैंड़,
प्रानप्यारे मुरली मधुर कल गान की।
फूली कुसुमावली विविध नव कुंजन में,
सौरभ सुगन्धताई जात न बखान की॥
वाजत मृदंग ताल झांझ मुंहचंग वीन,
उठत संगीत जहाँ अति गति तानकी।
आज रस रास में अनूप रूप दोऊ नचैं,
नन्दलाल लाड़िलो किशोरी वृषभान की॥

आजु निशि रास-रंग हरि कीन्हो !
ब्रज बनिता विच श्याम मंडली, मिलि सब को सुख दीन्हो॥
सुर ललना सुर सहित विमोहे, रच्यो मधुर सुर गान।
नृत्य करत उघटत नाना विधि, सुनि मुनि बिसर्‌यो ध्यान॥
मुरली सुनत भए सब व्याकुल, नभ, धरनी, पाताल।
'सूर' स्याम काको न किए बस, रचि रस रास रसाल॥

जरा कान्ह की बन्सी का प्रभाव देखिये:—

शरद् निशा में कान्ह बाँसुरी बजाई बेग,
जल थल व्योमचारी जीव प्रेम भरिगे।
कहै बृज चँद तजै ध्यान हू मुनीशन के,
त्यों ही मानिनीन के गुमान मद झरिगे॥
चकित सचीश रजनीश हू थकित भये,
तुरत स्वयंभू मोहजाल बीज परिगे।
शंभू हू को भूलीं आधे अंग की बिराजी गौरि,
गौरिहू के गोद के गजानन-बिसरिगे॥

शरद ऋतु के निर्मल आकाश के तारागणों पर श्री हर्ष की उक्ति सुनिए:—

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते,
शिति निशा द्रृषदिस्फुट मुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः।

पूर्ण जी इसको इस प्रकार कहते हैं:—

सरद निशा में व्योम लखि के मयंक बिन,
पूरन हिए में इमि कारण विचारे हैं।
बिरह जराई अबलान को दहत चन्द्र,
ताते आज तापै विधि कोपे दयाबारे हैं॥
निसिपति पातकी को तम की चटान बीच,
पटकि पछारी अंग निपट बिदारे हैं।
ताते भयो चूर-चूर उचटे अनंत कन,
छिटिके सघन सो गगन मध्य तारे हैं॥

मुद्राराक्षस से शरद का एक वर्णन दिया जाता है। देखिये:—

सरद कमल ऋतु सोहई, निरमल नील अकाश।
निसानाथ पूरन उदित, सोलह कला प्रकाश॥

चारु चमेली बन रही, मह मह महँकि सुबास।
नदी तीर फूले लखौ, सेत सेत बहु कास॥
वासन चाँदनी चँद-मुख, उडुगन मोती माल।
कास फूल मधु हास यह, सरद किधौं नव बाल॥

हेमन्त ऋतु

शरद् में शीत बाल्य-काल की निर्मल छबि दिखाता है। हेमन्त में पूर्ण युवावस्था को पहुँच जाता है।

यद्यपि शीत में एक प्रकार की वेदना होती है तथापि उपयुक्त साधनों के होने से वह वेदना एक अपूर्व सुख में परिणत हो जाती है। यह वेदना केवल सुख ही नहीं उत्पन्न करती वरन् मनुष्य में कार्य्यकारिणी शक्ति की भी उत्तेजक होती है। हेमन्त के वर्णनों में तुषार और शीतल समीर का वर्णन प्रायः आता है। हेमन्त की रात तुषार और नीहार के कारण शरद यामिनी की भाँति विशुद्ध निर्मल नहीं होती। हिम के आधिक्य के कारण ही यह ऋतु हेमन्त कहलाती है।

अब हेमन्त के कुछ वर्णन देखिए:—

बरसै तुषार बहै सीतल-समीर नीर,
कम्पमान उर क्यों हूँ धीर ना धरत है।
राति ना सिराति सरसाति बिथा विरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है॥
'सेनापति' श्याम हौं अधीन हौं तिहारी सौंह,
मिलो वन मिले सीत पार ना सरत है।
और की कहा है सविता हू सीत ऋतु जानि,
सीत के सताए धन रास पै परत है॥

हेमन्त ऋतु में अग्नि का सेवन बहुत ही सुखद होता है और अग्नि की ओर पास बैठ कर वार्तालाप करना लोगों के आमोद प्रमोद का कारण होता है। इन दोनों बातों का नीचे के छंद में उल्लेख किया गया है:—

सूर ऐसे सूर को गरूर रूरो दूर कियो,
पावक खेलौना कर दियो है सबन को।
बातन की मार ही ते गात की भुलात सुधि,
कांपत जगत जाकी भय आन मन को॥

गिरधर दास राति लागै काल राति ही सी,
नाही सी लगति भूमि राखत चरन को।
आयो है हिमन्त तेजवन्त भूमि कन्त दीह,
दंतन पिसावत दिगंत के नरन को॥

हेमन्त ऋतु में सायंकाल के समय धुवाँ चारो ओर छाया रहता है, इसके सम्बन्ध में एक कवि की उक्ति:—

हेम सीत के डरन ते, सकत न ऊपर जाय।
रह्यो अगिनि को पाय के, धूम भूमि पै छाय॥

और सब ऋतुओं की भाँति इसमें भी शृंगार के दोनों रूपों के सम्बन्ध में कवियों को अपनी प्रतिभा के चमत्कार दिखाने का स्थान रहता है। अगहन मास के सम्बन्ध में कविवर बिहारी लाल जी कहते हैं:—

कियो सबै जग काम वश, जीते जिते अजेय।
कुसुम सरहिं सर धनुष कर, अगहन गहन न देय॥

वियोग शृंगार के सम्बन्ध में उसमान जी एक विरहिणी से क्या कहलाते हैं, देखिए:—

हिम ऋतु यह विरहानल बाढ़ी, कन्तवाजु दुःख जाइ न काढ़ी ॥
परै तुषार विषम निसि सारी, सिसकी लेत रहौ मैं बारी ॥
तेन फिरे जो गए बसीठी, वरै लागि उर मदन अँगीठी ॥
बिरह सराग करेज पिरोवा, चुइ चुइ परे नैन जो रोवा ॥
उरध उसास पवन परचारा, धुकि २ पंजर होय अगारा ॥
बड़ी रैन जीवन सुठि थोरा, चेतन परै दृष्टि जनु मोरा ॥
पूस मास अतिशय अधिकाई, सोधन जान जो विरह जगाई ॥

थके नैन वरु देखते, घटै न कोऊ दुःख ।
बाढ़ै सिर पर गुरु दोउ, एक सरिपरि ए दुःख ॥

× × ×

अगर की धूप मृगमद की सुगन्ध वर,
बसन विसाल जाल अङ्ग ढाँकियतु है ।
कहैं पदमाकर सुपौन को न गौन जहाँ,
ऐसे मौन उमंगि उमंगि छाकियतु है ॥
भोग औ संयोग हित सुरति हिमन्त ही में,
एते सब सुखद सुहाए वा कियतु है ।
तान की तरंग तरुणापन तरणि तेज,
तेल तूल तरुणि तमूल ताकियतु है ॥

× × ×

'शिशिर ऋतु'

शिशिर में शीत पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हो जाता है और वह अपना अन्तिम बल दिखाकर प्रस्थान करने की तैयारी भी करने

लगता है। सेनापति जी शिशिर का रूप इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

सिसिर तुषार के बखार से उघारत है
पूस बीते होत सुख हाथ पाँव ठरिकै।
द्योस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाय
सेनापति गाई कछु सोचिकै सुमरिकै॥
सीत ते सहस कर सहस चरन ह्वैके
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरिकै।
जौलौं कोक कोकी को मिलत तौलो होत रात
कोक अध सी चाहते आवत है फिरिकै॥

× × ×

सिसिर में ससि को सरूप पावै सविताऊ
घामऊ में चाँदनी की दुति दमकति है।
सेनापति सीतलता होति है सहस गुनी,
रजनी की झाँई दिनहू में झमकति है॥
चाहत चकोर सूर ओर दुग जोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद हैं कमोदनि को,
ससि संक पंकजिनी फूलि ना सकत है॥

भर्तृहरि जी ने शिशिर को कामी की उपमा दी है। देखिए:—

चुंम्बन्तो गउमित्तीर लकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना।
वक्षः सूक्तंचुकेषु स्तनभर पुलकोम्देद मापादयन्तः॥
उरूनाकम्पयतः पृथुजघनतटात् स्रंसयंतोंशुकानि।
व्यक्तं कान्ता जनानां विटचरितकृतः शैशिरावान्तिवाताः॥
चुम्बन करत कपोल मुखहि सीत्कार करावत।
हृदय माहि घसि जात कुचन पर रोम बरावत॥

जंघन को थहरात बसन हू दूर करत झुकि ।
लग्यो रहत संग माहिं द्वार को रोक रह्यो ठुकि ॥
यहि शिशिर पवन विट रूप धरि गलिन गलिन भटकत फिरत ।
मिल रहे नारि नर घरने में याकी भट भेरन भिरत ॥

पावक जुड़ानी विषधरन गवाईं रिस,
चंड कर सकल प्रचण्डता विहाई है ।
चोर व्यभिचारी निसि भ्रमन विहाय बैठे,
सिंह वृक वृन्द पैठ्यो गुहन लुकाई है ॥
भीति वश जाके दिन दीन ह्वैके सिमिटत,
पाला मिसि कीरति अपार जासु छाई है ।
पूरन विलौको जग सातु की बनाबन को,
सांतमयी शीतमयी सिसिर सुहाई है ॥

उक्त छंद में दिन के छोटे होने का क्या ही अच्छा साहित्यिक कारण दिया गया है ।

संगीत

जिस प्रकार बन, उपवन, वाटिका, शीतल समीर और चंद्रज्योत्स्ना मन को प्रफुल्लित कर श्रृंगार के उद्दीपन बनती हैं उसी प्रकार गीत, वाद्य नृत्यादि भी मन में उल्हाद उत्पन्न कर श्रृंगार के आलम्बन स्वरूप नायक नायिकाओं की परस्पर रति को बढ़ाकर श्रृंगार रस की पुष्टि करते हैं । संयोग श्रृंगार, हास्य तथा वीर में एक प्रकार का उत्साह रहता है, मन आगे की ओर जाता है; शरीर में एक अपूर्व शक्ति का सञ्चार हो जाता है । यद्यपि जहाँ पर काम की प्रबल शक्ति का वर्णन किया जाता है, वहाँ पर यह कहा जाता है कि दुर्बल खाज और

व्रणों से युक्त गले में टूटी हँडियों का घेरा डाले हुए कुत्ता भी इसके प्रबल आवेग से नहीं बचता तथापि सच्चे शृंगार रस की उत्पत्ति के हेतु शृंगार का बीभत्स से विरोध माना गया है और इसके लिये बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही परिस्थितियाँ अनुकूल होनी चाहिये। बाह्य स्थिति आन्तरिक स्थिति को अनुकूल बनाने में बहुत कुछ सहायक होती है। प्राकृतिक कारणों का शरीर के उत्साह पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है, किन्तु प्रकृति अपने हाथों में नहीं। आप बसन्त राग गा सकते हैं। सुगन्धित पदार्थों से घर को सुवासित कर सकते हैं किन्तु उत्साहवर्धिनी वसन्त-समीर नहीं चला सकते। कुछ साधन ऐसे हैं जो कि हमारे हाथ में हैं और जिनका हमारी आन्तरिक स्थिति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उनमें से संगीत मुख्य है। ऋतुओं का प्रभाव हमारे मन पर सीधी तरह से पड़ता है। संगीत का प्रभाव सीधा मन पर पड़ता है तथा शीघ्र ही पड़ता है।

सभी बातों के निमित्त चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। यद्यपि नायक-नायिका एक दूसरे के चित्त को एकाग्र करने में परमोत्तम साधन हैं, तथापि मन की गति चञ्चला मानी गई है। सांसारिक बन्धनों का जाल इतना दृढ़ होता है कि उसमें से बाहर होना बहुत ही कठिन हो जाता है। जब तक मन में साम्य स्थापित रखने के लिये कोई बाह्य साधन न हो तब तक सांसारिक आनन्द की उत्पत्ति तथा स्थिति में संदेह रहता है। संगीत स्वयं साम्य रूप होने के कारण आन्तरिक साम्य स्थापन करने में विशेष सहायक होता है। जिस प्रकार संगीत अनेकता में एकता उत्पन्न कर आनन्ददायक होता है उसी प्रकार मन की

भिन्न प्रवृत्तियों के एक ओर आकर्षित हो जाने से उनमें साम्य स्थापित हो जाता है। संगीत एक प्रकार से प्राकृतिक माधुर्य्य को कर्ण तथा नेत्रों द्वारा एक विशेष शक्ति और प्रभाव के साथ हमारे मन में प्रवेश कराकर मधुर रस के अनुकूल मधुर संसार की रचना करा देता है। मनुष्य का कार्य्य बहुत कुछ सम्मोहन कला हिप्नाटिज्म (Hypnatism) के से प्रभाव से चलता है। यद्यपि सब लोग हिप्नाटिज्म की निद्रावस्था में नहीं प्रभावित किये जाते तथापि प्रत्येक समय हम दूसरे से किसी न किसी अंश में प्रभावित होते रहते हैं। जिस प्रकार हिप्नाटिज्म की निद्रा में प्रभावित लोग सादे कागज़ पर भी शेर और कुत्ते का चित्र देखने लग जाते हैं, उसी प्रकार संगीत द्वारा जो प्रभाव प्रदर्शित किये जाते हैं वह हमारे मन में अङ्कित होकर उसका प्रकार सा बना देते हैं। इसी सिद्धान्त पर शायद राग-रागिनियों के चित्र भी बनाए गये हैं।

शृंगार के अनुकूल जो साम्यमयी परिस्थिति संगीत की गति, लय और तालादि द्वारा स्थापित की जाती है वह प्रेमियों के परस्पर प्रेम को द्विगुणित कर देती है। प्रेम के लिये निश्चिन्तता चाहिये। शायद इसी लिये रहीम ढाक को छोड़ कर कल्पवृक्ष की छाँह को नहीं चाहते, क्योंकि कल्पवृक्ष के नीचे थोड़ी बहुत चाहना करनी पड़ती है। संगीत उस निश्चिन्त भाव को उत्पन्न करने में अत्यन्त सहायक होता है जो कि शृंगार के अनुकूल पड़ता है। जब गायन वाद्य एवं नृत्य सब एक स्वर-साम्य में अपना साम्य-मय-सन्देश मन को भेजते हैं तो वह एक प्रकार की मोह निद्रा में पड़ उसी साम्य के प्रभाव में आ जाता है।

प्रकृति भी उसको साम्यमयी दिखाई पड़ने लगती है। ऐसी परस्थितियों में प्रेमियों का मधुर मिलन कितना सुखद होता है। भगवान् कृष्ण के महारास में छः महीने की रात हो गई थी। यह चाहे सच हो चाहे झूठ, किन्तु संगीत द्वारा स्थापित मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है कि लोग उसका सहज में परिवर्तन नहीं चाहते। प्रेमी गण सुख-स्वप्न देखा करते हैं। यद्यपि वह सुख-स्वप्न कठोरातिकठोर वास्तविकता से दृढ़तर होता है तथापि हम को हमारी सुख-निद्रा भंग करने वाले भीषण आघातों से बचाए रखने के हेतु संगीत ही उत्तम साधन है। वह उस प्रेम निद्रा को भंग ही नहीं होने देता वरन् उसके आह्वान में अत्यन्त सहायक होता है। इसी लिये शृंगार के उद्दीपनों में संगीत को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। अब कुछ उदाहरणों द्वारा संगीत के साहित्यिक वर्णन दिये जाते हैं।

आली अलापि वसंत मनोरम मूरति वंत मनोज देखावन।
पंचम नाद निषादहि सों मूरछना गुन तान सुनावन॥
'देव' कहो मधुरी धुन सों परवीन ललै कर बीन बजावन।
बावरी सी हौं भई सुनि आजु गई गड़ि जी में गुपाल की गावन॥

जब ज़रा नृत्य का एक उदाहरण देखिये:—

पीरी पिछौरी के छोर छुटे छहरे छबि मोरपखान की जामैं।
गोधन की गति वेणु बजै कवि 'देव' सबै सुनिये धुनि धामैं॥
लाज तजी गृह काज तजै मन मोहि रही सिगरी ब्रज बामैं।
कालिंदी कूल कदम्ब के कुञ्ज करंत मनोज तमासो सो तामैं॥

यद्यपि शरद-ऋतु के वर्णन में वंशी आदि के प्रभाव का

वर्णन हो चुका है तथापि यहाँ पर वंशी के सम्बन्ध में दो चार उक्तियाँ दे देना अनुपयुक्त न होगा।

देखिये वंशी के शब्द का कैसा प्रभाव बताते हैं:—

सूर पाये सिर धुनि रहैं सब सुर मुनि,
नर खग गन पल टारे न टरत हैं।
'आलम' सकल तान - बान मृग मीन बेधे,
ताहू के हिये में जाय बेधोई करत हैं॥

बरही मुकुट वंशीधर बनमाल यह,
बाँसुरी सब्द सुनि पंगु ह्वै परत हैं।
समुझ सनेही भये सेही किते तेही छिन,
नेकु न बिदेही और देही सो डरत हैं॥

× × ×

देखिये बंशी के छेद और उसकी हृदय-वेधन-शक्ति का कैसा सम्बन्ध बताया जाता है:—

जेते सुर लीने उर तेते छेद कीने और,
जेते राग तेते दाग रोम रोम छीजिये।
ताननि के तीखे जनु बाननि चलाई देति,
चीर चीर अंगन तुनीर तनु कीजिये॥

अन्तर की सूनी घर सूनै करै 'सेख' कहै,
सुनि सुनि सबद बसेरो बन लीजिये।
हम ब्रज बसिहैं तो बाँसुरी न बसै यह,
बाँसुरी बसाय कान्ह हमैं बिदा दीजिये॥

× × ×

गो-चारण के समय गायें वंशी की धुन सुनने के हेतु किस प्रकार एकत्रित हो तन्मयता धारण कर लेती हैं:—

धौरी आवै धौरो कहैं धूमरी धुमरि आवै,
ऊँची कै कै पूँछनि बोलावै लाल जाहिनै।
मेढ़ी कैरी काजरी पियरि बौरी भूरी चारु,
बलही मँजीठी बन बोला अवगाहिनै॥
मध्य सोहैं स्याम धूर धूसरित भूरी भौहें,
बलि बलि 'सेख' उपमा मैं देउँ काहिनै।
गोबिन्द कों मनु कछु गायन में रमि रह्यो,
आगे गाय पाछे गाय गाय बाँये दाहिनै॥

× × ×

वंशी बजाते समय की रूप माधुरी का वर्णन देखिये, किस प्रकार राधिका जी मोहित होती हैं:—

अंग त्रिभंग किये मन मोहन, त्रे मन काम के कोटि हरैं।
चित चाहि चुभ्यो वृषभानुसुता, तन आँगुरि बाँसुरि बेह धरैं॥
चंचल चारु चलै कर पल्लव, 'आलम' नेकु न नैन टरैं।
तजि रोस सुचारु सुधाकर पै, मनो नीरज के दल नृत्य करैं॥

× × ×

देखिये सूरदास जी श्याम की मुरली का कैसा प्रभाव बतलाते हैं:—

मुरली सुनत देह गति भूली, गोपी प्रेम हिंडोरे झूली।
कबहूँ चकृत होहिं सियानी, स्वेद चलै द्रवै जैसे पानी॥
धीरज धरि इक इकहि सुनावहि, यह कहि कै आपुहि बिसरावहि।
कबहूँ सुधि कबहूँ बिसराई, कबहूँ मुरली नाद समाई॥
कवहूँ तरुणी सब मिलि बोलैं, कबहूँ रहैं धीर नहिं डोलैं।

कबहूँ चलैं कबहूँ फिरि जावैं, कबहूँ लाल तजि लाज लजावैं ॥
मुरली श्याम सुहागिनि भारी, 'सूरदास' प्रभु की बलहारी ।

× × ×

वियोग-शृंगार

इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

सुहृद श्रवण दरसन परस, जहाँ परस्पर नाहिं ।
सो वियोग श्रृंगार कहि, मिलन आस मन माहिं ॥
कहु पूरब अनुराग अरु, मान प्रवास बखान ।
करुना मय यह भाँति करि, विप्रलम्भ यो जान ॥

वियोग-शृंगार की साहित्य-दर्पण में इस प्रकार की परिभाषा दी गई है—

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।
स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥

अर्थात्—जहाँ पर रति का भाव प्रगाढ़ रूप से हो और अभीष्ट (अभीष्ट का अर्थ नायक तथा नायिका से है) न प्राप्त हो वह विप्रलम्भ वियोग कहलाता है । वह पूर्वानुराग, मान, प्रवास, और करुणात्मक चार प्रकार का होता है ।

(१) पूर्वानुराग—जहाँ पर कि ईप्सित वस्तु पहिले से ही प्राप्त न हो, अर्थात् वास्तविक मिलन से पूर्व जो वियोग होता है उसे पूर्वानुराग कहते हैं । अन्य वियोग संयोग के पीछे होनेवाले वियोग हैं ।

(२) मान—मिलन होने पर नायक वा नायिका इच्छा से कभी बदला लेने के अर्थ और कभी परस्पर प्रीति बढ़ाने के निमित्त जो प्रेम-सम्बन्ध अल्प काले के हेतु स्थगित कर दिया

जाता है वह मान कहलाता है। इसमें नायक नायिका का एक ही स्थान में रहना समझा जाता है। इसमें मिलन अन्य किसी साधनों वा कारणों की अपेक्षा नहीं करता वरन् नायक तथा नायिका की प्रसन्नता पर निर्भर रहता है।

(३) प्रवासः—कारण वश नायक तथा नायिका की इच्छा के विरुद्ध अथवा किसी अनिवार्य कारण से नायक वा नायिका के स्थानान्तर हो जाने को प्रवास कहते हैं।

(४) करुणात्मक—जब मिलन की आशा नहीं रहती तब उस वियोग को करुणात्मक कहते हैं। यह अन्तिम श्रेणी है। इन सब श्रेणियों में करुणा की मात्रा किस प्रकार बढ़ती है, वह आगे ज्ञात होवेगा।

पूर्वानुराग

साहित्य-दर्पण में पूर्वानुराग की इस प्रकार व्याख्या की गई है-—

> "श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढ़रागयोः।
> दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते॥

श्रवण से (जो कि दूत, बंदी और सखी आदि के मुख से हो सकता है) अथवा दर्शन (जो कि इन्द्रजाल में, चित्र में, साक्षात् अथवा स्वप्न में हो सकता है) से नायक नायिका में एक दूसरे के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया हो, किन्तु वह एक दूसरे से किसी विशेष कारणवश मिलने में असमर्थ रहें, ऐसी अवस्था को पूर्वानुराग कहते हैं। तोषनिधि जी ने पूर्वानुराग का इस प्रकार लक्षण दिया है:—

सुने लखे उपजै जहाँ, उतकण्ठा अरु प्रीति।
सो पूरब अनुराग है, मिले बिना दुख रीति॥

बहुत से आचार्य्यों ने श्रवण को एक प्रकार का दर्शन ही माना है। केशवदास जी ने अपनी 'रसिक प्रिया' में चार प्रकार के दर्शन माने हैं। यथा:—

एक जु नीको देखिये, दूजो दर्शन चित्र।
तीजो सपनो जानिये, चौथा श्रवण सुमित्र॥

देव जी ने भी श्रवण को एक प्रकार का दर्शन माना है। केशवदास जी ने स्वप्रदर्शनादि तीनों प्रकार के दर्शनों के प्रच्छन्न एवं प्रकट रूप से दो दो भेद और कर दिये हैं। विस्तार-भय से इन सब का वर्णन पृथक्-पृथक् नहीं किया जाता है।

श्रवणदर्शन की व्याख्या साहित्य-दर्पण में इस प्रकार दी गई है:—

"श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतबन्दीसखीमुखात्"

दूत, भाट तथा सखी के द्वारा जो प्रिय जन का दर्शन होता है उसे श्रवण दर्शन कहते हैं।

केशवदासजी ने श्रवणदर्शन की इस प्रकार व्याख्या की है—

शील रूप गुण समुझि कै, सखी सुनावै आनि।
केशव ताको कहत है, दर्शन श्रवण बखानि॥

बहुत से स्थानों में केवल नायक और नायिका के रूप तथा गुणों की ख्याति के कारण ही परस्पर अनुराग उत्पन्न हो, मिलन की इच्छा हो जाती है। नल-दमयन्ती का आख्यान इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण है। श्रवणदर्शन में भी प्रत्यक्ष

दर्शन अथवा चित्रदर्शन का सा आनन्द आ जाता है; और वह चित्त में व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। ऐसी दशा के हिन्दी काव्य में अच्छे-अच्छे उदाहरण हैं। देवजी के 'भावविलास' में से यहाँ पर दिये जाते हैं।

सुन्दरता सुनि देव दुहून रहे गुहि कै गुण सो मन मोती।
लागे है देखिबे को दिन रात गनै गुरु हू न हसै किन गोती॥
देह दुहू की दहैं बिन देखे सुदेखि दसा निसि सोवत कोती।
हो तो कहा हरि राधिका सो कहू नेकु दई पहिचान जो होती।

एक उदाहरण वेनीप्रवीन जी से भी दिया जाता है:—

खेलनि हसनि विहसनि हू विसर रही,
परि रही जरद निसर रही बासुरी।
साँसनि भरति हहरति सी, हरिन नैनी,
नैननि ते ढरति रहति नित आँसुरी॥
ध्यान कीन्हे कानन प्रवीन बैनी कानन ह्वै,
तानन की उर में रही है पड़ी गाँसुरी।
साँवरी गई है परि वावरी सी होन चहै,
जब ते सुनी है सखी सावरे की बाँसुरी॥

(२) स्वप्नदर्शन

स्वप्न की व्याख्या केशवदासजी ने इस प्रकार की है:—

केशव दर्शन स्वप्न को, सदा दुराई होय।
कबहूँ प्रकट न देखिये, यह जानत सब कोय॥

यद्यपि स्वप्न दर्शन प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् ही हो सकता है तथापि उषा आदि के उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि कल्पना द्वारा स्वप्न दर्शन हो सकता है। स्वप्न दर्शन, अभिलाषा

की प्रगाढ़ता का द्योतक होता है। जहाँ पर नायिकाओं को स्वतन्त्र भ्रमण का अवसर नहीं मिलता है, वहाँ पर उनकी अभिलाषा स्वप्न का रूप धारण कर लेती है। आज कल के मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इच्छा का अवरोध ही स्वप्न का कारण होता है। सामाजिक बन्धनों से दबी हुई गुप्त वासनाएँ स्वप्न में प्रकाश पा जाती हैं, और एक प्रकार से बिना सामाजिक बन्धनों के तोड़े ही अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है एवं मन का भार भी हल्का हो जाता है। इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

पौढ़ी हुती पलँगा पर मैं निशि ज्ञानरु ध्यान पिया मन लाये।
लागि गई पलकैं पल सो पल लागत ही पल में पिय आये॥
ज्यों ही उठी उनके मिलवेन को जागि परी पिय पास न पाये।
मीरन और तो सोय कै खोवत हौं सखि प्रीतम जागि गँवाये॥

उषा का प्रद्युम्न को स्वप्न में देखना इसका ऐतिहासिक उदाहरण।

(३) चित्र दर्शन

केशवदास जी ने चित्र दर्शन की इस प्रकार व्याख्या की है—

प्रकट काम को कल्पतरु, कहि न सकत मति मूढ़।
चित्रहु में हरि मित्र की, अति अद्भुत गति गूढ़॥

यह स्वप्न से स्थूलतर दर्शन है। उषा को भी स्वप्न दर्शन के पश्चात् चित्रलेखा द्वारा चित्र दर्शन हुआ है। काव्य में चित्र दर्शन का वर्णन इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल में चित्रकला इतनी अच्छी अवस्था में थी कि इसके द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन

का सा आनन्द आ जाता था। चित्र दर्शन का उदाहरण दिया जाता है—

लोचन ऐंचि लिये इत को मन की गति यद्यपि नेह नहीं है।
आनन आइ गये श्रम-सीकर रोम उठे उर कंप गही है॥
तासों कहा कहिये कहि केशव लाज समुद्र में बूड़ि रही है।
चित्रहु में हरि मित्रहि देखति यों सकुची जनु बाँह गही है॥

इस सम्बन्ध में मतिराम जी का दोहा देखिये—

चित्रहि में जाके लखे, होत अनन्त अनंद।
सपनेहू कबहू सखी, सो मिलि है ब्रजचन्द॥

आजकल फोटोग्राफी कला से चित्र दर्शन का और भी महत्व बढ़ गया है।

(४) प्रत्यक्ष दर्शन।

केशवदास जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है:—

दरसन नीके दरस यह, दम्पति अति सुख मान।
ताहि कहत साक्षात् है, 'केशवदास' सुजान॥

यह प्रत्यक्ष दर्शन मिलन का दर्शन ही है। यह प्रायः दूर से ही होता है। जैसा कि श्रीरामचन्द्र जी का तथा सीता जी का हुआ था। उदाहरण इस प्रकार है:—

उन हर की हँसिकै इतै, इन सौंपी मुसकाय।
नैन मिलत मन मिल गए, दोऊ मिलवत गाय॥ बिहारी

तोषनिधि ने बहुत ही सीधे-साधे शब्दों में प्रत्यक्ष दर्शन का वर्णन किया है।

सिर मोरपखा मुरली कर लै हरिदै गयो भोरहि भाँवरी सी।
कहि 'तोष' तहीं जबहीं ते चढ़ी अंग अंग अनंग की दाँवरी सी॥

नट-साल सी सालि रही न कढ़ै चढ़ि आवति है तन ताँवरी सी।
अखियाँ में समाइ रही सजनी वह मोहनी मूरति साँवरी सी॥

देवजी के निम्नलिखित प्रत्यक्ष दर्शन-सम्बन्धी छंद में दिखलाया है कि जो पूर्वानुरागसम्बन्धी प्रेम होता है उसमें पूर्व-जन्म के संस्कार ही कारण होते हैं। यह संस्कार नेत्रों के मिलने से ही जागृत हो जाते हैं। इसको तारा मैत्री भी कहते हैं। इसको अङ्गरेजी में Love at just sight कहते हैं। देखिये:–

'देव' अचान भई पहिचान चितौत ही स्याम सुजान के सौं हैं।
लालच लाल चितौत लग्यो ललचावत लोचन लाज लजौं हैं॥
प्रेम पुराने को बीजु उठ्यो जिमि छीजि पसीज हिये हुलसौं हैं।
लाज कसी उकसी न उतै हुलसी अँखियाँ बिकसी कछु लौहैं॥

बेनीप्रवीन जी का दिया हुआ उदाहरण भी देखिये:—

धोखे कढ़ी हुती पौरिलौ राधिका, नंदकिसोर तहाँ दरसाने।
'बेनीप्रवीन' देखा देखी ही में, सनेह समूह दोऊ सरसाने॥
झाँकि झरोखे सकै न सकोचन, लोचन नीर हिये उर साने।
मेरी न तेरी सुनै समुझै न वै, फेरी सी देति फिरै बरसाने॥

पूर्वानुराग तीन प्रकार का माना गया है:—

"नीली कुसुम्भमञ्जिष्ठा पूर्वरागोपि च त्रिधा।"

अर्थात् नीली, कुसुम्भ तथा मञ्जिष्ठा यह तीन प्रकार का पूर्वानुराग होता है नीली की इस प्रकार व्याख्या दी गई है:—

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीली रागमाख्यातम् यथा श्रीरामसीतयोः॥

अर्थात् जो प्रेम मन में रह कर न घटे जैसा कि मर्य्यादा

पुरुषोत्तम श्रीराम एवं सीता जी का। 'अतिशोभते' का अर्थ कहीं-कहीं बाहरी चमक-दमक का लगाया गया है, वह ठीक नहीं। राग का अर्थ अनुराग और रंग दोनों ही होता है। इस लिये इन प्रेम के प्रकारों को रंग की उपमा दी गई है। नील रंग कभी न हलका होता है और न गहरा ही होता है। जैसा रंग दिया गया हो वैसा ही बना रहता है।

कुसुम्भ राग की इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

"कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदुपैति च शोभते।"

अर्थात् कुसुम्भ राग उसको कहते हैं जो पहले बढ़ा हुआ होता है और फिर घटता है। कुसुम्भ हल्दी को कहते हैं। हल्दी का रंग पहिले गहरा होता है और फिर घट जाता है।

मञ्जिष्ठ राग की इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

मञ्जिष्ठरागमाहुस्तम् यन्नापैत्यतिशोभते।

अर्थात् मञ्जिष्ठ राग उसे कहते हैं जो घटता नहीं है और उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है जैसा श्री राधाकृष्ण का।

कविवर बिहारीलाल जी ने सज्जन के प्रेम को मजीठ के रंग की भाँति कहा है।

चटक न छाँड़त घटत जू, सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै, रंग्यो चोल रंग चीर॥

इस सम्बन्ध में एक और दोहा प्रचलित है:—

प्रीति तो ऐसी कीजिये, ज्यों मजीठ को रंग।
धोए से छूटै नहीं, जाय जीय के संग॥

मान

मान की व्याख्या साहित्य-दर्पण में इस प्रकार दी गई है।

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि॥

मान कोप को कहते हैं। यह दो प्रकार का माना गया है।

(१) प्रणय से उत्पन्न होने वाला
(२) इर्षा से उत्पन्न होने वाला

दोनों में प्रेम के होते हुए भी जो मान प्रेम के बढ़ाने और प्रसन्नता के लिये किया जाता है वह प्रणयमान कहलाता है।

इन दोनों का बेनीप्रवीन ने इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रीतम सों अन बोलिवो, मान मानिये सोइ।
एक प्रनै कवि कहत है, एक ईरखा होइ॥
प्रानप्रिया को रूसिबो, बिन कारन जो होइ।
प्रथम मान सब कहत हैं, कविकोविद सब कोइ॥
प्रीतम के अपराध सों, ठानै ठनगन नारि।
लघु मध्यम गुरु मान है, कहै ईरषा धारि॥

(१) प्रणय-जन्य-मान—यह प्रेम की असाधारण गति है। प्रेम में पूर्ण तृप्ति न होने से कभी-कभी उसको तीव्रता देने के लिये बिना कारण ही कोप किया जाता है और कोई झूठ-मूठ का कारण बतला दिया जाता है। वास्तव में बात यह है कि संयोग से भी जी ऊब जाता है। वियोग में प्रेम तीव्र हो जाता है। उस तीव्रता का अनुभव करने के लिये जब वास्तविक वियोग न भी हो तो कृत्रिम वियोग उत्पन्न कर लिया जाता है। ऐसा भाव

एक प्रकार का हाव ही समझा जाना चाहिये। नीचे के छंद से यह स्पष्ट हो जायगा कि मान केवल मान की भूख बुझाने ही के लिये हो सकता है—

सपनेहू मन भावतो, करत नहीं अपराध।
मेरे मन हू में सखी, रही मान की साध॥

केशवदास जी के मत से सब मान का मूल प्रेम में ही है। ईर्षा मान भी प्रेम के कारण होता है यदि प्रेम न हो तो प्रियतम को अन्य स्थान में जाते देखते या सुनने से क्रोध न हो। क्रोध न होना ही यह बतलाता है कि उपेक्षा की जाती है।

पूरण प्रेम प्रताप ते, उपज परत अभिमान।
ताकी छवि के छोभ सो, केशव कहियत मान॥

जब हमें मान में अनुनय-विनय करने की नौबत आ जावे तो यह वियोग शृंगार का अंग, मान कहा जा सकता है, नहीं तो यह संयोग शृंगार का ही अंग समझा जावेगा। यह मान कभी-कभी एक ओर से और कभी-कभी दोनों ही ओर से होता है। देखिये:—

दोऊ अधिकाई भरे एकै गौं गहराई।
कौन मनावे को मनै, मानै मति ठहराई॥

कुलपति मिश्र ने एक सखी के मुख से मान करने का रहस्य बतलाया है। उसका कहना है कि बिना मान के सम्मान नहीं मिलता और जिस प्रकार सदा मिठाई खाते रहने से उससे जी ऊब जाता है और जिस प्रकार नमकीन वस्तु की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार मान भी आवश्यक है। यह प्रणय मान का सिद्धान्त है किन्तु सखी की नायिका पर इसका प्रभाव नहीं होता।

जब उसने स्वयं नायक के भाल में जावक के चिह्न देखे तब वह मान कर बैठी। देखिये:—

मान बिनु पैये सनमान न अयानी सिख,
जानि उर मेरी तू भी अजहूँ सयान की।
नित ही के सेवत ज्यों भावे ना मिठाई पर,
भावे है मिठाई पै लुनाई सरसान को॥
रूठिबे की उठि न रिषाय के सिखावे तऊ,
छोड़े न पियारी रीति जन्तु जल पान की।
एते ही में जावक लगाए आए लाल तहाँ,
देखत ही और गति भई अँखियाँन की॥

(२) ईर्षा-जन्यमान—पति के अन्य नायिका के साथ विलास करना सुनकर या देख कर अथवा अनुमान करके पति के प्रति कोप प्रकट करने को इर्षा-जन्य मान कहते हैं। यह अनुमान तीन प्रकार से हो सकता है।

(१) पति को स्वप्न में किसी स्त्री के सम्बन्ध में प्रलाप करते हुए सुनने से।

(२) नायक में सुरति के चिह्न देखने से।

(३) सहसा नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकलने से।

तीसरे प्रकार के मान का कविवर विहारी का एक अच्छा उदाहरण मिलता है।

मोहूँ सो बातनि लगे, लगी जीह जिहि नाँय।
सोई ले उर लाइये, लाल लागियत पाँय॥

इसमें बहुत कुछ वैज्ञानिक सत्य है। जो कुछ हम भूल करते हैं वह हमारी आन्तरिक भावों की परिचायक हैं। भूल

में मनुष्य सामाजिक बन्धन को भूल जाता है और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पूर्णतया प्रकट होने लगती है। लोग कहते हैं कि अमुक बात भूल से कह गये इसको सच न समझा जाय। वास्तव में वही बात सत्य होती है। कम से कम यदि वह पूर्ण सत्य नहीं होती तो वह निजी अभिलाषा वा मानसिक झुकाव का परिचय अवश्य देती है। वह यह भी बतला देती है कि यदि सामाजिक दबाव न होता तो हम क्या करना चाहते। स्वप्न में भी यही बात होती है। स्वप्न में मनुष्य के ऊपर से सामाजिक दबाव उठ जाता है और उसकी अभिलाषाएँ बे-लगाम के घोड़ों की भाँति दौड़ने लगती हैं। कहा भी है कि "बिल्ली को ख्वाब में छीछड़े नजर आते हैं"। प्रायः स्वप्न की बात स्वप्न-द्रष्टा के अतिरिक्त और कोई नहीं देख सकता; किन्तु कभी-कभी स्वप्न में मनोगत भावानुकूल बाह्य क्रियाएँ (हाथ पैर का चलाना, बोलना आदि) होने लगती हैं। उनके द्वारा स्वप्न का दूसरों को भी अनुमान हो जाता है। जिन शास्त्रकारों ने इस बात का वर्णन किया है, उन्होंने साहित्य में अपनी वैज्ञानिक पहुँच का बहुत अच्छा परिचय दिया है। ईर्षा के अतिरिक्त मान के और भी कारण हो सकते हैं किन्तु साहित्य में प्रायः इनका वर्णन नहीं है। ईर्ष्या-जन्य मान प्रायः तीन प्रकार का माना गया है। लघु, मध्यम तथा गुरु।

यह श्रेणियाँ मान के जल्दी अथवा देर में छूटने के आधार पर हैं। इसमें करुणा की भी मात्रा इसीके अनुकूल है। एक ओर से मान होता है और दूसरी ओर अनुनय-विनय होती है। गुरु मान अधिक काल स्थायी होता है और उसमें अधिक

अनुनय-विनय की आवश्यकता पड़ती है। मनाते-मनाते रात भर बीत जाय और मान न छूटे तो उसे गुरु मान कहते हैं। मध्यम मान उससे अल्प स्थाई होता है किन्तु सहज में नहीं छूटता। लघु मान सहज ही में छूट जाता है यह विभाग काल के आधार के अतिरिक्त पति के अपराध की गुरुता पर भी रक्खा गया है। देव जी ने इन विभागों को इस प्रकार माना है।

पति पै रति तिय चिह्न लखि, करै पिया गुरु मान।
मध्यम ताको नाम सुनि, दरसन ता लघु मान॥

देव जी के मत से पति में अन्य नायिका के साथ में रति करने के चिह्न देख कर नायिका गुरु मान करती है और पति के मुख से दूसरी स्त्री का नाम सुन कर मध्यम मान होता है। पति को अन्य स्त्री की ओर देखते हुए देख कर लघु मान होता है। केशवदास जी का मत इससे कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार कहते हैं:—

गुरु मान

आनि नारि के चिह्न लखि, कै सुनि स्रवननि नाँव।
उपजत है गुरु मान तँह, 'केशवदास' सुभाव॥

लघु मान

देखत काहू नारि त्यों, देखे अपने नैन।
तहँ उपजै लघु मान के, सुनै सखी के बैन॥

मध्यम मान

बात कहत तिय और सों, देखे 'केशवदास'।
उपजत मध्यम मान तहं, माननि केस विलास॥

इनके मत से अन्य नायिका के चिह्न देख कर अथवा पति के मुख से उसका नाम सुन कर गुरु मान होता है। पति को अन्य स्त्री देखते हुए देख कर लघु मान होता है। अन्य स्त्री से बात करते हुए देख कर मध्यम मान होता है।

साहित्यदर्पण का क्रम बहुत स्वाभाविक है। सब से प्रथम पति का अन्य स्त्री के साथ देखे जाने को स्थान दिया है, उसके पश्चात् अनुमान आता है और अन्त में दूसरे के मुख से सुनना रक्खा गया है। इस क्रम के आधार पर गुरु, मध्यम और लघु मान रक्खा जाता तो अच्छा होता।

यों तो मान के विषय में हिन्दी के कवियों ने बहुत कुछ लिखा है और एक से एक बढ़ कर उदाहरण सम्मुख आते हैं किन्तु यहाँ पर केवल सिद्धान्त प्रकाशित करने के अर्थ ही थोड़े से उदाहरण दिये जाते हैं। देव जी ने अपने मत के अनुकूल गुरु, लघु और मध्यम मान के निम्नलिखित उदाहरण अपने भावविलास में दिये हैं जो नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

गुरु मान

मोती की माल गुपाल गरे लखि बाल कियो मुख रोजु उज्यारो।
भौंहैं भ्रमै फरकै अधरान कढ़ो रंग नैनन के मग न्यारो॥
यों कवि 'देव' निहोरि निहोरि दुआ कर जोरि परो पग प्यारो।
पीको उठाय के प्यारी कह्यो तुम सों कपटीन को कौन पत्यारो॥

× × × ×

मध्यम मान

बाल के संग गोपाल कहूँ निसि सोवत सोत को नाम उठै पढ़ि।
यों सुन के पट तानि परी तिमि 'देव' कहैं मन मान गयो बढ़ि॥

जागि परी हरि जानी रिसानी-सी सोह प्रतीति करो चित में मढ़ि ।
आँसुन सों तन ताप बुझो अरु स्वासन सों मन कोप गयो कढ़ि ॥

लघु

बैठे हुते रंग रावटी में जिनके अनुराग रंग्यो बृज भूम्यो ।
किंकनी काहू कहू झनकाई सुझांकन कान झरोखा ह्वै झूम्यो ॥
'देव' परत्रिय देखत देखि के कामिनि को मन मान सों धूम्यो ।
बातें बनाय मनाय के लाल हँसाय के बाल हरैं मुख चूम्यो ॥

× × × ×

मतिराम जी के उदाहरण इस प्रकार से हैं:—

मानु जनावति सबनि कौं, मन न मान को ठाट ।
बाल मनावन को लखै, लाल तिहारी बाट ॥
भई देवता भाव बस, वह तुम कौं बलि जाउँ ।
वाही को मन ध्यान है, वाही को मुख नाउँ ॥

यहाँ पर बिहारी का उदाहरण अनुपयुक्त न होगा ।

रस के रूखे ससिमुखी, हँसि हँसि बोलत बैन ।
गढ़ मान मन क्यों रहे, भये बूढ़ रंग नैन ॥

मान केवल रोकर ही नहीं प्रकट किया जाता है वरन् हँस कर भी, किन्तु हँसी में वह मान छिपता नहीं है—आँखों द्वारा प्रकट हो ही जाता है । प्रियतमा की ओर से अधिक आदर भी मान का सूचक होता है । देखिये:—

मुँह मिठास दृग चीकने, भौंहें सरल सुभाय ।
तऊ खरे आदर खरो, खिन खिन होय सकाय ॥

प्रणय मान का एक उदाहरण अति ही मर्मस्पर्शी है। देखिये:—

> कपट सतर भौहैं करी, मुख सतरौहैं बैन ।
> सहज हँसौहे जानिके, सोहैं करत न नैन ।।

इसी भाव को एक दूसरे दोहे में दुहराया है:—

> मान करत बरजत न हो, उलटि दिवावत सोंह ।
> करी रिसौंही जायगी, सहज हँसौही भोहँ ।।

जैसा कि ऊपर बता चुके हैं मान चिरस्थाई नहीं होता। थोड़े बहुत काल के पश्चात् उसका मोचन हो जाता है। यदि तलाक देने की प्रथा भारतवर्ष में भी प्रचलित होती तो कदाचित् ऐसा न होता। जो मान किसी प्रकार नहीं छूट सकता वह रस से बाहर हो रसाभास कोटि में आ जाता है। देखिये बेनीप्रवीन क्या कहते हैं:—

> छुटत न मान असाधि जो, परिबो पाय वृथाहिं ।
> रसाभास सो जानिये, कविजन बरनत नाहिं ।।

भाव-मोचन के छः साधन माने गए हैं। वह नीचे के श्लोक में दिये गए हैं।

> साम भेदाऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम् ।

इसके अर्थ में देव जी का निम्नाङ्कित दोहा देना पर्याप्त होगा।

> साम दान अरु भेद करि, प्रणति उपेक्षा भाय ।
> अरु प्रसंग विध्वंस ए, मोचन मान उपाय ।।

इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

> साम क्षमापन सो कहै, हर्ष दान सो दान ।
> भेद सखी समता मिलै, प्रणति नम्रता जान ।।

वचन अन्यथा अर्थ जहँ, उपेक्षा ही की रीति ।
सो प्रसंग विध्वंस जहं, अकस्माद सुष भीति ॥

अब इनकी पृथक् पृथक् व्याख्या दी जाती हैं:—

सामः—मधुर वचनों द्वारा मानिनी का मान मोचन करना साम द्वारा समझा जायगा। नीति में भी साम, दाम, दण्ड और भेद का प्रयोग होता है, किन्तु जहाँ पर प्रेम का आधिक्य है वहाँ पर भौतिक दण्ड अस्वाभाविक हो जाता है। मृदु उपालम्भ ही दण्ड का कार्य्य देता है। मधुर वचन प्रणय में अधिक कार्य्य साधक होते हैं। जहाँ पर स्वाभाविक प्रेम है वहाँ पर थोड़ी सी ही अनुनय काम दे जाती है। मधुर वचनों से मानिनी को कम से कम इतना निश्चय अवश्य हो जाता है कि कम से कम उसका प्रियतम उससे रुष्ट नहीं है। साम का बेनीप्रवीन ने अच्छा उदाहरण दिया है। देखिये:—

नैनन की पुतरी तुही राधिके, कौन सी और लखी हम बाला ।
तेंहि बसै निशि वासर ही उर, अन्तर बाहरि रूप रसाला ॥
दीन्ही बनाय हमैं चतुरानन, भाग ते 'बेनीप्रवीन' विसाला ।
गेह की सोभ सनेह की सीम, सजीवनि जीव की कंठ की माला ॥

विद्यापति ठाकुर के उदाहरण देखिये:—

मानिनि अरुन पूरब दिसा बहित सागर निसा गगन भेल चन्दा ।
मुदि गेलि कुमुदिन तइ अयो तोहर धनि मूदल मुख अरविन्दा ॥
चाँद वदन कुवलय दुहु लोचन अधर मधुर निरमाने ।
सागर सरीर कुसुमे तुम सिरिजल किए दहु हृदय परवाने ॥
असकति करह ककन नहिं परिहह हार हृदय भेल भारे ।
गिरि सम गरुअ मान नहिं मुञ्चसि अपूरुब तुव बेवहारे ॥

अवगुन परिहरि हेरह हरखि धनि मानक अवधि बिहाने ।
राजा सिव सिंह रूपनरायन कवि विद्यापति भाने ॥

इस पद्य के चार भाव हैं । पहिला यह कि मनाते-मनाते अरुणोदय हो गया । अरुणोदय के साथ कमल विकसित होते हैं सो तेरा मुख-कमल क्यों मुदा है । दूसरा भाव यह है कि तुम्हारा सारा शरीर कमल सा कोमल है फिर तुम्हारा हृदय क्यों पाषाण सा है । तीसरा भाव यह है कि तुम्हारी सुकुमारता के कारण जब हृदय पर हार भी भारी लगता है तो गिरि के समान मान कैसे धारण किये हुए हो । चौथा भाव प्रार्थना का है । तीन भाव युक्ति से सम्बन्ध रखते हैं ।

(२) दानः—जहाँ पर स्नेह की इतनी प्रगाढ़ता नहीं होती कि कोरे बन्धनों से काम चल जाय, वहाँ पर दान का उपयोग किया जाता है । ओविड (Boid) अपने Lover's hand book में कहते हैं कि जो कार्य्य सैकड़ों अनुनय-विनय से नहीं होता वह सुवर्ण से हो जाता है । स्त्रियाँ स्वभाव से ही आभूषण प्रिया होतीं हैं और उनका आभूषणादि उपहार का देना एक प्रकार से क्षम्य समझा जाता है । पूर्ण प्रणय में दान की आवश्यकता नहीं, केशवदास जी के मत से तो दान से मान मोचन होता है, वहाँ पर बार-बधू के लक्षण आ जाते हैं । देखिये:—

जहाँ लोभ ते दान ते, छांड़ै मानिनि मान ।
बारबधू के लक्षणहि, पावै तबहिं प्रमान ॥

दान में भी साम की आवश्यकता रहती हैं क्योंकि कोई स्त्री इतना नीच नहीं बनना चाहेगी कि वह यह प्रकट होने दे कि केवल कुछ देने के कारण मान छोड़ दिया । केशवदास जी ने

जो उदाहरण दिया है उसमें साम और वाक्चातुर्य्य अच्छा है। नायक ने सखी द्वारा गजमोतियों का हार भेजा। सखी कहती है कि यह मोती हिंसक हाथी की कुसंगति में रहे इसके अपराध में यह छेदे गए और बाँधे गए। अब यह वेणी (त्रिवेणी) आदि से भूषित तीर्थ रूप आपके शरीर में वास करना चाहते हैं, देखिये:—

मत्त गयंदन साथ सदा इहि थावर जंगम जंतु विदार्‍यो।
ता दिन ते कहि केशव बेधन बन्धन कै बहुधा बिधि मार्‍यो॥
सो अपराध सुधारन शोधि इहै इति साधन साधु बिचार्‍यो।
पावनपुञ्ज तिहारे हिये यह चाहत है अब हार बिहार्‍यो॥

(३) भेद:—जहाँ पर नायक सखी को अपनी ओर मिला लेता है वह उपाय भेद कहलाता है। स्त्रियाँ प्रायः अपनी सखी और चेरियों के हाथ में हुआ करती हैं; जहाँ पर मान कुछ अधिक स्थाई रहता है वहाँ पर भेद का उपयोग हुआ करता है। नायिका के साथ हर समय रहने का नायक को समय नहीं मिलता इसलिये उसे सखी को अपनी ओर मिलाना पड़ता है और वह अपनी युक्ति से नायिका को अपने वश में कर लेती है। भेद का उदाहरण बेनीप्रवीन ने इस प्रकार दिया है:—

भानु सो मैन तपैगो भटू तब, होइगो मानु समूल पटा पर।
मालती फूलन को मधु पान कै, होइगे मत्त मालिन्द भटा पर॥
भूलिहीं जाइगो बेनीप्रवीन, कहो बतिया जे सदा की नटा पर।
आप ही जाय मिलैगो तबै जब, चन्द छटा छिटकैगी अटा पर॥

(४) प्रणित:—भेद का उपाय भी एक प्रकार से बाहरी है प्रणय के अनुकूल नहीं है। जहाँ सम्बन्ध की प्रगाढ़ता

है वहाँ किसी तीसरे की आवश्यकता नहीं। ऐसी अवस्था में यदि मधुर वचनों से काम न चला तो विनय का सहारा लेना पड़ता है। प्रायः स्वकीया नायिकाएँ अपने पति को विनय करते हुए देखना नहीं चाहतीं। इससे यदि और किसी कारण से नहीं तो इस कारण से कि पति को अधिक काल तक नमन करने का कष्ट न उठाना पड़े वह अपना मान मोचन कर देती हैं। नमन में अपराध के लिए पश्चात्ताप और क्षमा प्रार्थना रहती है। नमन के आगे प्रायः कोई युक्ति नहीं ठहर सकती और बड़े से बड़ा अपराध क्षम्य हो जाता है। प्रणित के केशवदास जी ने तीन कारण बतलाए हैं वह नीचे के दोहे में दिये जाते हैं।

अति हित ते अति काम ते, अति अपराधहि जान।
पाँय परै प्रीतम प्रिया, ताको प्रणति बखान॥

प्रणति का एक साधारण उदाहरण बेनीप्रवीन का दिया जाता है:—

आपनी सी करि हारी सखी सब, कोकिलै कैतिकौ कूक मचाई।
गुञ्जत भौंरन के रहे पुञ्ज, मनोजहु ओज कमान चढ़ाई॥
मान्यो न बेनी प्रवीन भनै, यह प्रीति की रीति अलौकिक माई।
आपनी प्रान पियारी पिया पर, पायन प्यारे है कण्ठ लगाई॥

उपेक्षा—जहाँ पर हठ पड़ जाता है और किसी प्रकार अनुनय-विनय काम नहीं देती वहाँ पर उस बात की थोड़ी देर के लिये चर्चा छोड़ देना श्रेयस्कर समझा जाता है। उस बात की चर्चा छोड़ने से चित्त स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है और उसी के साथ भीतरी प्रेम जो मान के कारण दबा हुआ होता है

बाहर निकल आता है। केशवदास जी ने उपेक्षा की इस प्रकार व्याख्या की है:—

मान मुचावन बात तजि, कहिए और प्रसंग।
छूटि जाय जहँ मान तहँ, कहत उपेक्षा अंग॥

उदाहरण:—

मातन सिखण्डी मरजाद सरछण्डी मिलि,
नदिन उमण्डी मधुमण्डी उफनात है।
दौरि-दौरि दमकि-दमकि देखौ दामिनी हौ,
झमकि-झमकि घन घनन समात है॥
भनत 'प्रवीन बेनी' सहज सो मत नर,
नारिन के भ्रमन की कहत न बात है।
नेह उपजावन मदन मनभावन सो,
सावन में स्याही कैसो अंक लपटात है॥

× × × ×

(६) प्रसंग विध्वंस:—जहाँ पर मान इतना गुरु होता है कि प्रसंग भुला देने पर भी वह नहीं हटता, उसका विचार बना ही रहता है। वहाँ पर उन भावों की जागृति की जाती है जिनका कि आत्म-रक्षा से सम्बन्ध होने के कारण मान से भी तीव्र प्रभाव होता है। भय का भाव ऐसा प्रबल और सहज है कि उसके आगे कोई कृत्रिम भाव नहीं ठहर सकता। भय में मनुष्य अपनी पूर्ण स्वाभाविकता को पहुँच जाता है। कहा गया है कि यदि किसी मनुष्य का यह पता न चले कि वह कौन देश का है तो उसको या तो पीछे से एक चुटकी लेकर देखे कि कौन सी भाषा बोलता है अथवा उसको किसी भय की स्थिति में रख दे तो वह अपने सब बनावटी भाव भूल,

स्वाभाविक भाव में ही अपने भावों का व्यञ्जन करेगा। भय का भाव बड़ा सामाजिक है। वह शत्रु को भी मित्र बना देता है "दीरघ दाघ निदाघ" के भय से "अहि मयूर मृग बाघ" अपना परस्पर विरोध त्याग कर "एकत वसत" एकत्र वास करते हैं। जब विरोधी तक वैर-भाव त्याग देते हैं तो फिर प्रियतमा का कहना ही क्या है? इस मान-मोचन-साधन में इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का काम किया जाता है। इसमें भय का उत्पादन जितनी आकस्मिकता से किया जाय उतना ही फल अच्छा होता है। सोच-विचार के लिये यदि समय रहता है तो मान के भाव की विजय होने की सम्भावना रहती है। घोर वर्षा तथा गरजते हुए बादलों से उत्पन्न हुआ भय मानवती स्त्रियों का किस प्रकार मान भुला देता है। इस विषय में महाकवि कालिदास जी लिखते हैं:—

पयोधरैर्भीमगम्भीरनिस्वनैः स्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशाम्।
कृतापराधानपि योषितः प्रियान् परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम्॥

अर्थात् बादलों की भीम तथा गंभीर गर्जन एवं बिजली की चमक से भय-भीत हो स्त्रियाँ अपने अपराधी पतियों को भी बार-बार आलिङ्गन करने लग जाती हैं। उसमें उनको भय से आश्रय की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है। केशवदास जी ने प्रसंग-विध्वंस की इस प्रकार व्याख्या की है:—

उपज परे भय चित्त भ्रम, छूट जाय जहँ मान।
सो प्रसंग विध्वंस कवि, 'केशवदास' बखान॥

बैठे-बैठे ही एक साथ किसी कोने की ओर स्वयं, भय व आश्चर्य के साथ चिल्ला उठना कि 'अरे सर्प'! इसका उदाहरण

हो गया। अथवा वन में शेर का भय दिला देना इसका उदाहरण होगा। तुरन्त ही प्राण-रक्षा का भाव जागृत हो मान को दबा लेगा। इसमें अनौचित्य का अवश्य ध्यान रखना पड़ता है। घर के भीतर शेर का भय अथवा पहाड़ पर मगर का भय दिखाना अनौचित्य होगा।

साँझ समय वा छैल की, छलनि कही नहिं जाय।
बिन उर बन डरपाय के, लियो मोंहि उर लाय॥

देव जी का उदाहरण देखिये:—

कंचन बेलि सी नौल बधू जमुना जल-केलि सहेलिनि आनी।
रोमवली नवली कहि 'देव' सु गोरे से गात नहात सुहानी॥
कान्ह अचानक बोलि उठे उर बाल के बालबधू लपटानी।
धाइकै धाइ गही ससवाइ दुहूँ कर झारति अंग अयानी॥

बिना भय के भी कभी स्वाभाविक रीति से मान मोचन हो जाता है। नायिका यह तो नहीं दिखलाना चाहती कि उसने मान छोड़ दिया है किन्तु ऐसी स्थिति बना लेती है जिससे कि यह प्रकट हो कि मान था ही नहीं; तब मोचन किसका होता? नीचे के दोहे में निद्रा की स्वाभाविक, हाथ-पैर चलाने की क्रिया-द्वारा नायिका नायक का आलिङ्गन कर मान छोड़ देती है। देखिये:—

सोवत लखि मन मान घटि, ढिग सोयो प्यो आय।
रही सपन की मिलन मिलि, तिय हिय सों लपटाय॥

इन सब उपायों के अतिरिक्त केशवदास जी ने मान-मोचन के कुछ और साधन बतलाए हैं। वह इस प्रकार से हैं:—

देश काल बुधि वचन ते, कल धुनि कोमल गान ।
शोभा शुभ सौगन्ध ते, सुख ही छूटत मान ॥

उद्दीपनों द्वारा मान छूटने का केशवदास जी इस प्रकार उदाहरण देते हैं:—

घनन की घोर सुनि मोरन की शोर सुनि,
सुनि सुनि अलाप अली जन को ।
दामिनी दमकि देखि दीप की दिपति देखि,
सुख सेज देखि सुन्दर सुवन को ॥
कुंकुम की बास घनसार की सुवास भयो,
मन फूलि कै मलन को ।
हँसि हँसि बोले दोऊ अनही मनाये मान,
छूट गयो एक बार राधिका रमन को ॥

मान-मोचन में उद्दीपन सामग्री का जो प्रभाव होता है उसके सम्बन्ध में भर्तृहरि महाराज कहते हैं—

प्रिय पुरतो युवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः ।
भवति न यावच्चन्दनतरुसुरभिर्मधु सुनिर्मल पवनः ॥

अर्थात् अपने प्रियतम के प्रति मानिनी स्त्रियों का मान उनके हृदय में तभी तक रहता है जब तक चन्दन की सुगन्ध से युक्त मलयाचल का सुरभित समीर नहीं चलता ।

बिना अनुनय-विनय के मान-मोचन का देवजी का उदाहरण इस प्रकार है:—

रूठि रही दिन द्वेक ते भामिनि, मानै नहीं हरि हारे मनाइ कै ।
एक दिना कहूँ कारी अँध्यारी, घटा घिरि आई घनी घहराइ कै ॥

और चहूँ पिक चातक मोर को, सोर सुनो सो उठी अकुलाइ कै।
भेटि भटू उठि भावते को धन, धोषे ही धाम अँधेरे में धाइ कै॥

जहाँ पर वास्तविक प्रेम एवं सौजन्य है वहाँ पर मान-मोचन इतना कठिन नहीं होता। जहाँ परस्पर हित की कोई बात आ जावे उसके बतलाने वा अनहित से बचाने में मान नहीं रहता। एक-सी रुचि में भी यही बात होती है। जहाँ सम्मिलित रुचि की कोई बात आगई वहाँ दोनों को एक ही साथ आनन्द लेने की पड़ जाती है। सुन्दर सुहावनी चित्ताकर्षक वस्तुओं के देखने से भी मन, मान की ओर से हट कर उस ओर चला जाता है। प्रियतम के अनिष्ट की शंका होते हुए भी मान नहीं रहता। झूठ-मूठ का कहा हुआ अनिष्ट-सूचक वाक्य काम कर जाता है। कभी-कभी मान के बदले मान अथवा उपालम्भ एवं आक्षेप मान-मोचन में सहायक होते हैं। स्वयं न अपराधी बन कर दूसरे को अपराधी ठहराने में अपनी सफाई ही नहीं हो जाती वरन् दूसरी ओर से सफाई देने की नौबत आ जाती है। लेकिन है सब बात वहीं जहाँ पर प्रीति का भय होता है। केशवदास जी ने ठीक ही कहा है कि भय से तो प्रीति होती है किन्तु प्रीति से भी भय होता है। मान इसी भय पर निर्भर होता है। मान से प्रीति की परीक्षा हो प्रणय का मूल्य बढ़ जाता है। देखिये,

प्रीति बिना भय होय नहिं, भय बिनु होय न प्रीति।
प्रीति रहै जँह भय रहै, यहै मान की रीति॥

प्रवास

प्रवास का वियोग मान के वियोग से तीव्रतर होता है क्योंकि मान का वियोग नायक नायिका के हाथ ही में रहता है

और प्रवास का वियोग प्रायः अन्य कारणों से होता है, जिन पर कि अपना वश कम होता है। पर मिलन की आशा रहती है। प्रवास के तीन कारण माने गए हैं:—

(१) कार्य्यवश—अर्थात् आजीविका के सम्बन्ध में अथवा अन्य किसी कारणों से।

(२) शापवश—जैसा मेघदूत में वर्णित यक्ष का हुआ है।

(३) भयवश—राज भय से, रोग भय से अथवा अन्य किसी भय से।

कार्य्यवश उत्पन्न होने वाले प्रवास के भूत, भविष्य और वर्तमान रूप से तीन भेद किए हैं। इन भेदों में विशेष महत्व नहीं है। भविष्य प्रवास का साहित्य दर्पण से उदाहरण दिया जाता है:—

> यामः सुन्दरि, याहि पान्थ दयिते शोकं वृथा मा कृथाः।
> शोकस्ते गमने कुतो मम ततो बाष्पं कथं मुञ्चसि॥
> शीघ्रं न व्रजसीति, मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा।
> भूयानस्य सहत्वया जिगमिषोजीर्वस्य मे संभ्रमः॥

अर्थात् नायक अपनी प्रिया से बिदा माँगते हुए कहता है कि "हे सुन्दरी! मैं जाता हूँ"। वह उत्तर में कहती है कि "हे पथिक (प्रियतम नहीं कहती क्योंकि वह जाने पर ही उतारू है) जाओ"। नायक कहता है कि "प्रिये! वृथा शोक मत करो।" उत्तर में नायिका कहती है "तुम्हारे जाने का मुझे शोक कहाँ है?" नायक प्रत्युत्तर में कहता है "तो तब यह आँसू क्यों बहा रही हो?" तब फिर उत्तर मिलता है कि "इस

लिये कि तुम शीघ्र नहीं जाते हो" नायक फिर प्रश्न करता है कि "मेरे शीघ्र भेजने की तुम्हें क्यों इतनी चिन्ता?" इस पर फिर नायिका उत्तर देती है कि "सुबह होते ही तुम्हारे साथ जाने को मेरे प्राणों की यह उत्सुकता है कि वह तुम्हें शीघ्र भेज कर अपना निश्चय कर लें और सम्भ्रम में न पड़े रहें।" नायिका के वचन कितने मर्मभेदी, शोक तथा व्यङ्ग से पूर्ण हैं। भविष्य प्रवास के संस्कृत कवियों में और भी अच्छे अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

एक और लीजिए—

यामीति प्रियपृष्टायाः प्रियायाः कण्ठवर्त्मनि।
वचो जीवितयोरासाद्बहिर्निःसरणे रणः॥

अर्थात् चलते समय जब प्राणपति ने बिदा माँगते हुए कहा "मैं जाता हूँ"। इसका उत्तर देने को प्रियतमा उद्यत हुई किन्तु उसका गला रुँध गया और वह कुछ न कह सकी। उसका गला रुँध जाने का असली कारण यह था कि उसके प्राणों और वचनों में युद्ध होने लगा कि कौन पहिले निकलें, इसी झगड़े में मुँह से निकलने वाले शब्द रुक गए। एक हिन्दी के दोहे में भी करीब करीब ऐसा ही भाव मिलता है:—

आज सखी हौं सुनति हौ, पौ फाटत पिय गौन।
पौ में हिय में होड़ है, पहिले फाटत कौन॥

—बिहारी

एक हिन्दी कवि का उदाहरण देखिये:—

छाँड़ि के घूमनो नित्त ही को सब साधु कुटीनन में अनुरागत।
त्यागि विदेशी विदेश को बास भये सबही निज धाम समागत॥

कैसे तुन्हें सिखवै "चिरजीव जु" ऐसे समै हमते तुम भागत।
पावस माँहि प्रवीन सुनो निज धाम न भूलि पखेरुहुँ त्यागत॥

भूत प्रवास का उदाहरण लीजिये:—

जागी ना जुन्हाई लागी आगि है मनोभव की,
लोक तीनों हियो हेरि हेरि हहरात है।
बारि पर जरे जल-जात जरि बारि बारि,
वारिद के बाड़व अनल परसत है॥
धरनि ते लाई झारि छूटी नभ जाय कहै,
'देव' याहि जियत जगत यों जरत है।
तारे बिन गारे ऐसे चमकत चहूँ और,
बैरी विधु मंडल भभूखो सो बरत है॥

नायक की ओर से प्रवास में विरह वर्णन का मेघदूत से एक उदाहरण दिया जाता है। देखिये क्या ही अच्छा भाव है।

शिला पै गेरू ते, कुपित ललना तोहि लिखि के।
धर्यो जौ लौं चाहूँ, तन अपन तेरे पगन में॥
चलै आँसू तौ लौं, दृगन मग रोके उमँगि के,
नहीं धाता धाती चहत, हम याहू विधि मिलैं॥

नायिका भेद में प्रोषित-पतिका के उदाहरण प्रवास के ही सम्बन्ध में हैं, जिनका वर्णन हिन्दी साहित्य में प्रचुरता से मिलता है।

हौं ही बोरी बिरह वस, कै बोरौ सब गाँव।
कहा जानि ये कहत हैं, ससि हि शीत कर नाँव॥ (बिहारी)

भविष्य प्रवास का उदाहरण इस प्रकार से है:—

जा दिन ते चलिबे की चर्चा चलाई तुम,
ता दिन से वाके पिवराई तन छाई है।

कहै "मतिराम" छोड़े भूषन बसन पान,
सखिन सों खेलन हँसिन बिसराई है ॥
आई ऋतु आनन्द की सुहाई प्रीत वाके चित्त
ऐसे में न जाव कहा रावरी बढ़ाई है ।
सोवत न रैन दिन रोवत रहत बाल,
बूझत कहत सुध मायके की आई है ॥

बिहारी लालजी का भी एक दोहा इस प्रकार का है:—

अजहुँ न आये सहज रंग, विरह दूबरे गात ।
अब ही कहा चलाइयतु, ललन चलन की बात ॥

करुणात्मक

करुणात्मक का लक्षण देवजी ने इस प्रकार से दिया है:—

दंपतीन में-से एक को, विषम मूरछा होय ।
यह अति व्याकुल दूसरो, कहि करुणारस सोय ॥

यह वियोग की अन्तिम अवस्था है। जहाँ पर मिलन की आशा नहीं रहती वहाँ पर विरह करुण में परिणत हो जाता है, किन्तु जहाँ पर करुण के साथ मिलन की असम्भव आशा रहते हुए भी रति का भाव वर्तमान रहता है वहाँ पर करुणात्मक वियोग शृंगार होता है। शृंगार का स्थायी भाव रति है। रति का भाव या अभाव ही करुणात्मक वियोग शृंगार और शुद्ध करुण में भेद करता है।

करुणात्मक शृंगार जहँ, रति अरु शोक निदान ।
केवल सोक जहाँ तहाँ, भिन्न करुण रस जान ॥

बहुत से आचार्य्यों का यह मत है कि मरण के पश्चात् भी

जब किसी दैवी कारणवश सशरीर मिलने की आशा लगी रहती है तब करुणात्मक वियोग शृंगार होता है। साहित्यदर्पणकार का यही मत है। कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता का उपाख्यान इसका उदाहरण है। यह बात साधारणतया मिलती है। मरण के बाद सशरीर मिलने के बहुत कम उदाहरण हैं और आज कल लोग उनमें विश्वास भी न करेंगे। श्रीरामचंद्रजी का सीता-वनवास के पश्चात् विलाप है। वह इस प्रकार के वियोग का उदाहरण है।

हा हा प्यारी फटत हृदय यह जगत शून्य दरसावे।
तन बन्धन सब भये शिथिल से अन्तर ज्वाल जरावे॥
तो बिनु जनु डूबत जिय तम में छिन छिन धीरज छीजै।
मोहावृत सब ओर राम यह मन्द भाग्य का कीजै॥

देवजी का नीचे लिखा हुआ उदाहरण बहुत अच्छा है:—

कालिय काल, महा विष ज्वाल, जहाँ जल ज्वाल जरै रजनी दिनु।
ऊरध के अध के उबरे नहीं, जाकी बयारि बरै नह ज्योतिनु॥
ता फनि की फन फांसिन मैं फंदि जाय, फँस्यो, उकस्यो न अजौं छिनु।
हा ब्रजनाथ, सनाथ करौ, हम होती हैं, नाथ अनाथ तुम्हे बिनु॥
लाल बिना बिरहाकुल बाल, वियोग की ज्वाल भई झुरि झूरी।
पानी सों, पौन सों, प्रेम कहानी सों, पान ज्यों पोषत हूरी॥
"देवजू" आज मिलाप की औधि, सो जीतत देख विसेख बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ायबे को, उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥

काली नाग के नाथने को जब भगवान गये थे तब उनका थोड़ी देर तक न दिखाई पड़ने के कारण विरह की दशा को उपस्थित कर दिया था।

दश दशाएँ

वियोग शृंगार की दश दशाएँ मानी गई हैं। वे इस प्रकार हैं:—

अभिलाषा सुचिन्ता गुण कथन, स्मृति उद्वेग प्रलाप।
उन्माद व्याधि जड़ता भये, होत मरण पुनि जाय॥

अब इनका एक एक करके वर्णन किया जाता है।

(१) अभिलाषा

यह वियोग की प्रथम श्रेणी है। यह विशेषकर पूर्वानुराग में होती है। मिलने की इच्छा को ही अभिलाषा कहते हैं। इसका लक्षण केशवदासजी इस प्रकार देते हैं—

नैन बैन मन मिलि रहे, चाहै मिलन शरीर।
कहि 'केशव' अभिलाष यह, वर्णत है मतिधीर॥

अभिलाषा की दशा का देवजी ने अच्छा वर्णन किया है।

मूरति जो मन मोहन की मन मोहनी के ढिग ह्वै थरकी सी,
'देव' गोपाल को बात सुनै सिय रात सुधा छतिया छिरकी सी।
नीके झरोके ह्वै झाँकि सकै नहिं नैनन लाज घटा घिरकी सी,
पूरण प्रीति हिये हरि की खिरकी खिरकी न फिरै फिरकी सी॥

इसमें यह दिखलाया गया है कि लाज तथा अभिलाषा के वश नायिका फिरकी सी फिरती है।

तोषनिधि का दिया हुआ उदाहरण देखिये:—

कब कान्ह सो मान करैगी, अरी कब कान्ह के मान मनावहिंगो।
कब बैठिकै बंसी बरा के तरे हठि रीझि कै तान गवावहिंगी॥
कहि 'तोष' कबै गुरु लोगन मैं निज नैनन सैन बतावहिंगी।
कबधौं बन कुंजन के घर में मुरलीधर को उर लावहिंगी॥

अभिलाष का उदाहरण पं० सत्यनारायणकृत मालती-माधव से दिया जाता है:—

लख्यौ जब सों वाकौ मुख चंद ।
फँस्यौ मन जाइ प्रेम के फन्द ॥
लौटायो लौटे नहीं, त्यागि दई सब लाज ।
बिसर्यो धीरज संग ही, विनय विवेक समाज ॥
आज निज भूल गयो छरछन्द ।
फँस्यो मन जाइ प्रेम के फन्द ॥
तबतो तिहि छवि लखि रुचिर भूल्यो सब को ध्यान ।
विस्मय-मोहित मुदित मनु करत अमिय स्नान ॥
अहा कैसो आयो आनन्द ।
फँस्यो मन जाइ प्रेम के फन्द ॥
अब वाके देखे बिना, काहू विधि कल नाहिं ।
लोटै बारहि बार यह मनौ अँगारनु माहिं ॥
कष्ट काहू बिधि सो नहिं मन्द ।
फँस्यो मन जाइ प्रेम के फन्द ॥

(२) चिन्ता

यह अभिलाष से बढ़ी हुई है । इसमें दुःख की मात्रा अधिक होती है । इसमें दर्शन की लालसा और भी अधिक हो जाती है । इसका उदाहरण मतिराम से दिया जाता है ।

जै ये अकेली महावन बीच, तहाँ 'मतिराम' अकेलोई आवै;
आपने आनन चंद की चाँदनी, सो पहिलै तन ताप बुझावै ।
कूल कलिंदी के कुंजन मंजुल, मीठे अमोल वै बोल सुनावै,
ज्यौं हँसि हेरि लियो हियरो हरि, त्यौं हँसि कै हियरे हरि लावै ॥

(३) गुण-कथन

जहाँ मिलन की इच्छा पूरी नहीं होती वहाँ पर प्रियतम वा प्रिया के गुणों की चर्चा से ही थोड़ा संतोष कर लिया जाता है। मेघदूत में कहा है-"कान्तो दन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किचिदून:" कुछी न्यून है कामिनियों को प्रिय संगम से प्रिय गुनगान। अभिलाषा और चिन्ता मन ही में रहती हैं। गुणकथन अभिलाषा का बाहरी व्यञ्जक है, किन्तु यह बाहरी व्यञ्जकों में मृदुतम है। गुणकथन का उदाहरण:—

मोर पखा 'मतिराम' किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुण्डल डोलनि में छबि छाई॥
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं ? मीठी लगै अँखियान लुनाई॥

भृकुटी मटकन पीत यह, चटक चटकती चाल।
चल चख चितवनि चोर-चित, लियो 'बिहारीलाल'॥

मालती-माधव से उदाहरण दिया जाता है:—

मञ्जुलता के निधन की रही सो देवि समान।
सुन्दरता के सार को मानहु महल महान॥
सिरजी निज कर मैन सो परब्रह्म को रूप।
ससि मृनाल औ अमिय सों अँग अँग रचे अनूप॥

४ स्मृति

यह कुछ बढ़ी हुई श्रेणी है। स्मृति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

और कछू न सुहाय जहँ, भूलि जाहि सब काम,
मन मिलिबे की कामना, ताहि स्मृति है नाम।

स्मृति का उदाहरण देखिये—

शोभा सो रति सुन्दरी, नव सनेह सो बाम।
तन बूड़त मन प्रीत में, रंग बूड़त घनश्याम॥

देवजी ने स्मृति के कारण जो स्तम्भ हो जाता है उसका बहुत ही अच्छा उदाहरण दिया है—

अंग डुलै न उतंग करै, उर ध्यान धरे, विरह-ज्वर बाधति;
नासिका अग्र की ओर दिये अधमुद्रित लोचन को रस माधति।
आसन बाँधि उसास भरैं, अब राधिका 'देव' कहा अवराधति;
भूलिगो भोग, कहैं लखि लोग, वियोग किधौं यह योगहि साधति॥

५ उद्वेग

सुखदायक वस्तु भी दुःखदायक लगने लगती है। इसमें मन की गति बहुत तीव्र हो जाती है। संसार और का और लगने लगता है। देव जी की उक्ति देखिये:—

वेष भये विष भावै न भूपन भूष न भोजन कौ कछु ईछी।
मीच के साधन सौंधे की साध न दूध सुधा दधि माखन छीछी॥
चन्दन त्यों चितयौ नहिं जात चुभी चितमाँहि चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यौं सूल सिला सम सेज बिछौननि बीच बिछी मनु बीछी॥

आलमजी ने भी एक गोपिका की ऐसी ही दशा दिखाई है। देखिये—

पंकज पटीर देखे दूनो दुख पीर होत,
सीर हू उसीरनि तें पीर चीर हार की।
अँवा सो अबास भयो तवा सो तपत तनु,
अति ही तपत लागै क्षार घनसार की॥

'आलम' सुकवि छिन-छिन मुर्झाति जाति,
सखिन विचारि तजी रीति उपचार की।
मन ही मरूरे मर रही मन मारि मारि,
एक ही मुरारि बिनु मारी मरै मार की ॥

सुन्दरदास जी के निम्नलिखित सवैया में प्रोषित-पतिका की उन्माद दशा का बहुत ही सुन्दर उदाहरण है—

प्रीतम गौन किधौं जिय गौनु कि भौनु कि भास भयानक भारो।
पावस पावक फूल कि सूल पुरन्दर चाप कि 'सुन्दर' जारो ॥
सीरि बयारि किधौं तरवारि है वारिदवारि कि बान बिषारो।
चातक बोलि कि चोट चुभै चित इन्द्र बधू कि चकोर को चारो ॥

देवजी ने इस उद्वेग को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। फूलों को शूल बताते हैं और सेज को शिला। यहाँ तक तो गनीमत है किन्तु जब यह कहते हैं कि "बिछौननि बीच बिछी मनो बीछी" तब उसके विचार से ही शरीर काँपने लगता है। खटमलों के भय से तो विष्णु भगवान को शेष-शायी होना पड़ता है, किन्तु जहाँ बिछौने में 'बीछी' भरी हों तो वहाँ का कहना ही क्या, क्योंकि साँप के काटने से तो मनुष्य सुख-शैया पर सोता है, किन्तु 'बीछी' का विष तो छटी के दूध की याद दिला देता है।

६ प्रलाप

प्रलाप उसी मानसिक उद्वेग का शाब्दिक व्यञ्जक है। प्रलाप में बुद्धि का ह्रास हो जाता है। प्रलाप का लक्षण इस प्रकार है—

भ्रमत रहै मन भौंर ज्यों, है तन मन परताप।
बचन कहै प्रिय पक्ष सों, तासों कहत प्रलाप ॥

प्रलापावस्था का देवजी इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

कान्ह भई वृषभानु सुता भई प्रीति नई उनई जिय जैसी।
जानै को 'देव' बिकानि सी डोलै लगै गुरु लोगन देख अनैसी॥
ज्यों ज्यों सखी बहरावति बातन त्यों त्यों बकै वह बावरी ऐसी।
राधिका प्यारी हमारीसी तू कहि कालिह की बेनु बजाई मैं कैसी॥

७ उन्माद

प्रलाप में जो उद्वेग वचनों द्वारा होता है वह उन्माद में क्रिया द्वारा होता है। आचार्य केशवदास जी उन्माद का इस प्रकार लक्षण देते हैं।

तरकि उठै पुनि उठि चलै, चितै रहै सुख देखि।
सो उन्माद गनाव ही, रोवै हँसै विशेखि॥

देवजी ने पाँच प्रकार का उन्माद माना है।

मद विमोह अरु बिसमरन कहि बिच्छेप बिछोह।
पाँच भाँति उन्माद कहि जहाँ भूरि भ्रम मोह॥

यहाँ पर विक्षेप उन्माद का उदाहरण दिया जाता है।

आक बाक बकति बिथा मैं बूड़ि-बूड़ि जाति,
पी की सुधि आये जी की सुधि खोइ खोइ देति;
बड़ी बड़ी बार लगि बड़ी बड़ी आँखिन ते,
बड़े बड़े अँसुवा हिये समोय मोय देति॥
कोह भरी कुहँकि बिमोह भरी मोहि मोहि;
छोह भरी छिति पै छली सी रोइ रोइ देति।
बालि बिन बालम बिकल बैठी बार बार,
बपु में बिरह बिष बीज बोइ बोइ देति॥

देवजी ने मोहोन्माद का इस प्रकार वर्णन किया है। देखिये—

जब ते कुँवर कान्ह रावरी कला निधान
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तब ही से 'देव' देखी देवता-सी हँसति-सी
खीजति सी रूठति रिसानी सी॥
छोहीसी छली सी छीन लीनी सी छकी छिनसी
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी।
बाँधी सी बँधी सी विष बूड़ति विमोहति सी
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी॥

८ व्याधि

इसमें मानसिक उद्वेग शरीर पर अपना सत्व जमा लेता है। अङ्ग वरण विवरण हो जाता है। श्वास की तीव्रता हो जाती है और प्रत्यक्ष में व्याधि के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। यह अवस्था तभी प्राप्त होती है जब आशा की मात्रा बहुत कम रह जाती है। व्याधि का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

अंग बरण बिबरण जहाँ, अति ऊँची उश्वास।
नैन नीर पर ताप बहु, व्याधि सुकेशवदास॥

भवभूति के मालती-माधव में नायक और नायिका दोनों की व्याधि अवस्था इस प्रकार दिखाई है। माधव के विषय में मकरन्द कहता है:—

पग परते हैं आलस भरे, छबि हीन सकल सरीर है।
हैं खुले दृग तऊँ लावत नहिं, कछु साँस चलत गंभीर है॥
यह का भयो भगवान! कारन और होइ सकै कहा।
जग फिरत मदन दोहाइ, मनहिं अधीर भाव करै महा॥

मालती की अवस्था का इस प्रकार वर्णन किया कया है। स्वयं मालती ही अपनी अवस्था बतलाती है।

फैलत सारी देह में, लगन अँगनि अँग लागि।
हौ को सी धधकत हिया, बिन धुँआँ की आगि॥
चढ़ो विषम ज्वर सरिस सोइ, अँग अँग जारत जाय।
तात न मात न तुमहुँ कछु, मो कहँ बचे सकाय॥

६ जड़ता

इस अवस्था में आशा प्रायः छूट जाती है। उद्वेग की अतिशयता में सोये हुए, लट्टू की सी स्थिरता प्राप्त हो, जड़ता को उत्पन्न कर देती है। जड़ता का इस प्रकार लक्षण दिया गया है।

भूलि जाय सुधि बुधि जहाँ, सुख दुख होइ समान।
तासों जड़ता कहत है, केशव दास सुजान॥

बिहारी के निम्नलिखित दोहे में इसका अच्छा वर्णन मिलता है।

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि।
कहू डीठि लागी लगै, कै काहू की डीठि॥

जड़ता का भारतेन्दु जी से एक और उदाहरण दिया जाता है।

तू केहि चितवत चकित मृगी सी।
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी।
तन सुधिकरु उघरति री आँचर कौन ख्याल तू रहति खगी सी॥
उतर न देत जकी सी बैठी मद पीया कै रैन जगी सी॥
चौकि चौकि चितवति चारहु दिस सपने पिय देखति उमड़ीसी।
भूल बैखरी मृग छौनी ज्यों निज दल तजि कहुँ दूर भगी सी॥

करति न लाज, हार घरवर की, कुल मरजादा जाति डगी सी।
हरीचन्द ऐसिहि उरझी तौ, क्यों नहिं डोलत संग लगी सी॥

१० मरण

यह अन्तिम दशा है। बहुत से आचार्य्यों ने इससे पूर्व मूर्छा की एक और अवस्था मानी है। बहुत लोग रस-विच्छेद होने के कारण मरण का वर्णन नहीं करते। प्रायः मरणतुल्य दशा का वर्णन कर दिया जाता है। अथवा मरने की आकांक्षा दिखला दी जाती है। कोई कोई आचार्य वास्तविक मरण बतलाकर जन्मान्तर अथवा पुनर्जीवन की आशा दिला रस-विच्छेद से बचा लेते हैं। वियोग में प्राणों से शरीर का वियोग होने के विषय में कविवर बिहारी लालजी कहते हैं—

विरह विपति दिन परत ही, तेज सुखनि सब अंग।
रहि अब लों दुःखऊ किये, चला चली जिय संग॥

वह कहते हैं कि दुःख की अवस्था में, विपत्ति में संग नहीं त्यागा था, किन्तु अब वह छोड़ कर चलता है। एक और उक्ति देखिये। मरण का तो वर्णन कर दिया किन्तु मर कर जीते रहने का भी कारण बतला दिया तथा नायिका की भी प्रशंसा कर दी। एक दूती कहती है—

तव विरहविधुरबाला सद्यः प्राणान् विमुक्तवती।
दुर्लभमीदृशभंगंमत्वा न ते प्रनस्तामजहुः॥

अर्थात् तेरे विरह से व्याकुल हो नायिका ने तुरन्त प्राण छोड़ दिये, किन्तु प्राणों ने यह विचार किया कि ऐसा उत्तम शरीर फिर न मिलेगा इस विचार से बने रहे।

देवजी ने शरीर में-से पाँचो तत्वों के निकल जाने का हिसाब बतला दिया। शरीर में कुछ न रहा, केवल आशा रही, अतः जीवित है:—

साँसन ही सों समीर गयो अरु, आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु, भूमि गई तनु को तनुता करि॥
"देव" जिये मिलवे हो की आसन आसहु पास अवास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

यह सब दशाएँ पूर्वानुराग की मानी गई हैं। यद्यपि साधारण कविता में यही दशाएँ प्रवास के वर्णन में आती हैं तथापि प्रवास की दशाएँ अलग बतलाई गई हैं। वह इस प्रकार से हैं—

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशता रुचिः।
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्छनाः॥

× × ×

मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह॥

दश दशाओं की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

(१) असौष्टव—मलिनता को कहते हैं (२) संताप—विरह ज्वर को कहते हैं (३) पाण्डुता (४) कृषता (५) अरुचि (सब वस्तुओं से वैराग्य होने को कहते हैं) (६) अधृति चित्त के एक स्थान पर स्थिर न रहने को कहते हैं (७) अनालम्ब, मन की शून्यता को कहते हैं (८) तन्मयता—भीतर बाहर चारों ओर प्रियतमा के देखने को कहते हैं (९) उन्माद (१०) मूर्छा, मरण का जैसा और स्थानों में अर्थ लगाया जाता है, वैसी ही है।

चौथा अध्याय

हास्य रस

मानव जीवन में हास्य का स्थान

मनुष्य ही हँसने वाला जीवधारी है और जानवरों में घोड़े, गौ आदि रोते हुए कहे जाते हैं किन्तु उनको हँसने का गौरव नहीं दिया जाता है। बन्दर खिलखिलाता है किन्तु यह एक भौतिक क्रिया है। हास्य के लिये मानसिक क्रिया आवश्यक है। हमारे जीवन में हास्य का बड़ा ऊँचा स्थान है। सब ही मनुष्य दुःख-सुख से प्रभावित हो कर रोते–हँसते हैं। हँसने के लिये सुख भी आवश्यक नहीं। वास्तव में हास्य का हँसना केवल भौतिक सुख के हँसने वा विज्ञापन संसार के क्रूशन साल्ट Kruschen salt खाने वाले के हँसने से कुछ भिन्न है। केवल अच्छे अन्न-वस्त्र, धन-धान्य सम्पन्न होने के सुख से जो सुख मनुष्य को होता है वह एक प्रकार से भौतिक है। इसी प्रकार से जो गुलगुलाने से हँसी आती है वह भौतिक है।

यद्यपि यह सब हास्य के हँसने से थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि सब प्रकार हँसने की भौतिक शारीरिक क्रिया एक ही है तथापि हास्य का हँसना एक उच्च प्रकार का हँसना है, इसका सम्बन्ध हास्यमय परिस्थिति के ज्ञान से है। इसमें बुद्धि से काम लेना पड़ता है।

जिस मनुष्य में हास्य की मात्रा नहीं उसका जीवन असह्य

हो जाता है। ऐसे मनुष्य से लोग बचने लगते हैं। गम्भीर से गम्भीर मनुष्य के मन में भी हास्य को झलक आ जाती है। जो लोग हास्य में रुचि रखते हैं उनको जीवन की निराशाओं से ऐसा घोर संताप नहीं होता जैसा कि अन्य पुरुषों को। मनुष्य गाम्भीर्य्य का भार बहुत काल तक नहीं सहन कर सकता। बालकों की भाँति मनुष्य भी गाम्भीर्य्य से छुट्टी पाने के लिये उत्सुक रहता है। इसी लिये नाटककार लोग गाम्भीर्य्यपूर्ण दृश्यों के साथ स्थान-स्थान पर हास्यपूर्ण दृश्यों का समावेश कर देते हैं। हास्य से प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। समाज-सुधार में हास्य से बड़ा काम निकलता है। बाबू हरिश्चन्द्र के "वैदकी हिंसा हिंसा न भवति" नाम के नाटक में गोस्त और शराब के पक्षपातियों की अच्छी हँसी उड़ाई गई है। अंग्रेजी में स्विफ्ट का लिखा हुआ गुलीवर्स ट्रैविल्स (विचित्र विचरण) (Swift's Gulliver's Travels) तत्कालीन अंग्रेजी समाज का उपहास है। सामाजिक सुधार के अतिरिक्त हास्य से जो हमारा विनोद होता है, उसकी हमारे जीवन में बड़ी उपयोगिता है। नीचे थेकरे (Thackeray) के शब्दों में हास्यप्रिय लेखक की उपयोगिता दी जाती है। पं० ईश्वरी प्रसाद जी के 'चना-चबेना' की बाबू शिवपूजन सहाय लिखित "चना जोर गरम" नामक प्रस्तावना में उल्लिखित है।

"The humorous writer professes to awaken and direct your love, your pity, your kindness, your scorn for untruth, pretension, imposture fore linderness for the weall, the poor, the

opressed, the unhappy. A literary man of the humourous turn is pretty sure to be of a philanthropic nature, to have a great sensibility to be easily moved to pain or pleasure, keenly to apppreciate the varieties of temper of people round about him, and sympathise in their langhter, love, amusement, and tears. The best humour is that which is flavoured through out with linderness and kindness".

अर्थात् हास्यप्रिय लेखक, आप में प्रीति, अनुकम्पा एवं कृपा के भावों को जागृत कर उनको उचित और नियंत्रित करता है। असत्य दम्भ तथा कृत्रिमता के प्रति घृणा और कमज़ोरी, दरिद्रों, दलितों और दुःखी पुरुषों के प्रति कोमल भावों के उदय कराने में सहायक होता है। हास्यप्रिय साहित्यसेवी निश्चय रूप से ही उदारशील होते हैं। वह तुरन्त ही सुख दुःख से प्रभावित हो जाते हैं। वह अपने पार्श्व-वर्ती लोगों के स्वभाव को भली भाँति समझने लगते हैं एवं उनके हास्य प्रेम विनोद और अश्रुओं में सहानुभूति प्रगट कर सकते हैं। सब से उत्तम हास्य वही है जो कोमलता और कृपा के भाव से भरा हो। जो लोग स्वयं हास्यप्रिय होते हैं और दूसरों पर अपने हास्य का प्रभाव डालते हैं वह समाज का बड़ा उपकार करते हैं। वह लोग समाज में उदार भाव उत्पन्न कर, लोगों का जीवन सरस बना देते हैं। प्रसन्न वदन लोगों की सभी जगह प्रशंसा होती है और वह समाज में सुख और आनन्द के कारण होते हैं। देखिये :—

दया को द्रवत बैन फूल से झरतबैन,
साँचे रौन सौन शील साजे हैं।
बिहँसत बोलै बलदेव गुण खोलै प्रेम,
पथ से न डोलै मध बोलै कृत काजे हैं॥
मौन सुख भारी उपकारी धीर धारी सुख,
स्वच्छता सचारी रीति रोचक में छाजे हैं।
सिद्धि के सदन उर काहू सों करन यहि-
भांति जग बदन प्रसन्नते विराजे हैं॥

हास्य से भौतिक और मनोवैज्ञानिक लाभ भी है। हँसने से हमारे फेफड़ों को व्यायाम हो जाता है। उल्लास के बढ़ने से रुधिरसंचार तीव्रता से होने लगता है। आवश्यक स्थानों में रुधिर पहुँच जाता है और व्यायाम का पूरा फल मिल जाता है। मनोवैज्ञानिक लाभ यह होता है कि हास्य मानसिक खिंचाव को दूर कर देता है। तीव्र चिन्ता का शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ता है। हास्य चिन्ता को दूर कर मन को हलका कर देता है। भारमयी स्थिति को दूर कर एक नवीन स्थिति उत्पन्न कर देता है। यदि हँसना आनन्द का फल है तो आनन्द भी हँसने का फल है।

हिन्दी काव्य के अनुकूल हास्य का वर्णन

अब देखिये हिन्दी साहित्य वाले हास्य के विषय में क्या कहते हैं:—

भाषा भूषन भेष जहँ, उलटे ह्वै करि भूल।
हँसी सु उत्तम, मध्य, लघु कह्यो हास्यरस मूल॥

हास्य रस में शृंगार रस की भाँति परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होता। यह परिवर्तन इतना होता है कि विपरीतता का रूप

धारण कर लेता है, किन्तु यह परिवर्तन अप्रसन्नता का कारण नहीं बनता क्योंकि इस परिवर्तन का मूल भूल में रहता है।

हास्य के अनेक रूप हैं और उसके अनेक कारण होते हैं। वह सब विपरीतता के अन्तर्गत हैं। हम किन-किन बातों पर हँसते हैं उनका यहाँ पर उल्लेख करना अनुचित न होगा। हम कुरूपता पर हँसते हैं (यदि हम स्वयं कुरूप न हों) बड़े छोटे के कुजोड़ पर हम हँसते हैं। लम्बे पति वाली ठिनगी स्त्री सहज ही में हमारे हास्य का विषय बन जाती है। शहरी लोग गँवारों पर हँसते हैं तथा गँवार लोग शहर वालों पर। जरूरत से अधिक फैशन और उसका नितान्त तिरस्कार हमारी हँसी का कारण होता है। अपूर्ण अनुकरण से भी हँसी आती है। जो लोग अंग्रेजी पोशाक उचित रीति से नहीं पहिनते या छुरी काँटे से यथार्थ रूप से नहीं खाते वह हास्यास्पद बन जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई विदेशी आदमी हमारी भाषा बोलता है तो हम को हँसी आ जाती है। बन्दर का तमाशा भी हमको इसी कारण से प्रसन्न करता है। स्त्रियाँ अपने प्रेमियों पर हँसती हैं क्योंकि प्रेमी लोग स्वयं अपनी मूर्खताओं को नहीं देख सकते। हम मूर्खों की मूर्खता, दुष्टों की निष्फल दुष्टता, अपने सफल परन्तु हानिकारक षड़यन्त्रों पर, धोखे की टट्टी टूटने पर, दूसरे की सादगी, झूठे की अविश्वासयोग्य झूठ, अहमन्यों की असफलता तथा अयोग्यों की अनधिकार चेष्टाओं पर, हँसते हैं; और इन बातों का जितना ही अच्छा वर्णन हो, हमारे मनोविनोद का कारण होता है। इन वर्णनों में जब शब्दों का लौट फेर, विचारों की तुलना, युक्ति-कौशल, स्वच्छन्दता एवं आलंकारिक

नमक-मिर्च मिला दिया जाता है, तभी यह साहित्यिक हास्य का रूप धारण कर लेते हैं।

यूरोपीय देशों में भी विपरीतता हास्य का कारण मानी गयी है।

"The essence of the laughable then is the incongruous, the dis connecting one idea from another, or the jostling of one feeling against another". W. Hazlitt—

केवल विपरीतता हास्य का कारण नहीं। वैपरीत्य तो बीभत्स अद्भुत और करुण में भी होता है।

विपरीतता के साथ यदि भूल वा इच्छा का अभाव हो तब ही विपरीतता हास्य का कारण होती है। इसके साथ वह भूल ऐसी हो जिसका संशोधन हो सके वा जिससे विशेष हानि न हो। वर्गसन् महाशय (Mr Bergson) आधुनिक तत्व-ज्ञानियों में बहुत ऊँचा स्थान पाते हैं। उन्होंने हास्य पर "Laughter" नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने दिखलाया है कि जब मनुष्य अपनी स्वतंत्रता छोड़ मशीन की भाँति काम करने लगता है तभी हास्य का विषय बन जाता है। जैसे, यदि कोई मनुष्य चलते चलते गिर पड़े तो उसकी स्वतन्त्रता जाती रहती है और वह उतने समय के लिये मिट्टी के ढेले की भांति बन जाता है। हास्य-रस में विपरीतता सदा भूल से तो नहीं उत्पन्न होती, किन्तु जो मनुष्य हास्य-रस का पात्र होता है उसकी क्रियाओं में या तो स्वतन्त्रता का अभाव ही होता है या अनुचित स्वतन्त्रता रहती है जिसे एक

प्रकार से वास्तविक स्वतंत्रता का अभाव ही कहेंगे। वर्गसन् महाशय (Mr Bergson) के मत से मनुष्य ही हँस सकता है और मनुष्य के ही संबन्ध में हँसी हो सकती है। यह बात वर्गसन् महाशय (Mr Bergson) की व्याख्या मे स्वाभाविक रूप से निकलती है। जहाँ पर बुद्धि का ह्रास दिखाई पड़ता है, मनुष्य जड़वत् आचरण करता है वहीं पर मनुष्य हास्य का विषय बन जाता है। यदि हम जानवरों या निर्जीव पदार्थों पर हँसते हैं तो या तो वह मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाला होता है या उनमें मनुष्यत्व का आरोप कर लिया जाता है। दूसरी बात जो वर्गसन् महाशय (Mr Bergson) ने बतलाई है वह यह है कि हास्य में एक बुद्धि से दूसरी बुद्धि के लिये संकेत रहता है अर्थात् हास्य सामाजिक है। जब कोई हँसता है तो वह हमेशा यह सोच लेता है कि दूसरे आदमी भी इस बात पर हँसेंगे। वर्गसन महाशय की इस बात में बहुत कुछ सार है। उनके मत से हास्य सुधार का मूल्य रखता है। जिस भूल में हास्य का उदय होता है हास्य द्वारा उसका सुधार हो जाता है। मनुष्य, मनुष्य की भाँति आचरण करने लगता है, जड़ पदार्थ की भाँति नहीं।

हास्य की समस्या यूरोपीय दार्शनिक-समाज में बहुत उल्थी पल्थी गई है। हास्य क्या है ? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है। विकास-वादी लोग हास्य को हर्ष का एक बाह्य सूचक मानते हैं। जिस प्रकार प्रसन्नता के सूचकों में से नृत्य, ताली बजाना इत्यादि है उसी तरह हास्य भी एक प्रकार है। उनके मत से हास्य अथवा हास्य की उत्पत्ति

उपहासयोग्य वस्तु के विवेचन से प्रायः नहीं होती। जंगली जानवर एवं बच्चे भी हँसते हैं। उनके मत से हास्य में मुख खुलना इस कारण से होता है कि मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था में उसको भोजन मिल जाना ही उसके परम हर्ष तथा संतोष का कारण होता था। इस प्रकार भोजन और हर्ष की क्रिया का एक ऐसा सम्बन्ध हो गया जिसका कि अङ्ग हमारे स्नायु-संस्थान में जम गया। जब हमको हर्ष होता है तभी पूर्व-कालीन संस्कारों से स्थापित किया हुआ सम्बन्ध हमारे मुख की पेशियों को चलायमान कर देता है। इसमें थोड़ी कष्ट-कल्पना है, किन्तु इसके साथ इसमें थोड़ी चमत्कारिकता भी है। किन्हीं किन्हीं आचार्य्यों का कथन है कि जब मस्तिष्क में रुधिर का सञ्चार स्थगित हो जाता है तभी हास्य का उदय होता है, किन्तु इससे यह बात स्पष्ट नहीं होती कि उपहासयोग्य वस्तु के ज्ञान में कौन सी ऐसी बात है जो रुधिर के सञ्चार को स्थगित कर देती है। किन्हीं आचार्य्यों का कहना है कि हास्य विजय के भावों का सूचक है। यह परिभाषाएँ सब विकासवाद के ही सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। अब आजकल की दो एक नवीन कल्पनाओं की विवेचना की जाती है जो मानसिक हास्य की व्याख्या पर आलोक डाल सकेंगी।

आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्रियों का कथन है कि हमारी प्रायः सभी क्रियाओं का मूल हमारी अननुबुद्ध अवस्था में रहता है। कुछ भाव ऐसे होते हैं जो कि सामाजिक वा नैतिक बंधनों के कारण हमारी उद्बुद्ध अवस्था में बाहर नहीं आने पाते। स्वप्न में, उपहास में तथा भूल में ये बन्धन उठ जाते हैं

और ऐसे विचार बाहर प्रकाश पा जाते हैं। हम बहुत से लोगों के प्रति घृणा करते हैं, किन्तु हम प्रगट रूप से यह मानने को तैयार नहीं होते कि हम उनके प्रति ऐसे भाव रखते हैं। उपहास में वह गुप्त घृणा के भाव प्रगट हो जाते हैं। यह बात नहीं कि लोग अपने को घृणा न करते हों और इसी कारण प्रायः अपने ऊपर भी उपहास कर लिया जाता है। अधिकतर उपहास ऐसे लोगों का किया जाता है कि जिनके प्रति हम गुप्त रूप से घृणा करते हैं; किन्तु सामाजिक भय से उस घृणा को बाहर नहीं आने देते। उपहास में घृणा एक सुन्दर वेश धारण कर समाज में बाहर आने के योग्य बन जाती है और चित्त के भीतर रखने का जो अवरोध का भाव होता है वह मिट जाता है। मनुष्य अपने को हल्का अनुभव करने लगता है। अधिक लोग डाक्टरों, वैद्यों, कञ्जूस-आदमियों तथा पोस्टमास्टरों का उपहास करते हैं। कभी-कभी कुछ लोग गरीब आदमियों का भी उपहास कर बैठते हैं, ऐसी अवस्थाओं में यह घृणा सम्बन्धी कल्पना काम नहीं देती। कुछ लोगों का यह कथन है कि जब हम दूसरों को भूल करते देखते हैं तो हमारे आत्म-भाव की मात्रा बढ़ जाती है और विजय का सा अनुभव होने लगता है। मैकडूगल साहब (William MacDoughal) जिन्हें कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में बहुत ऊँचा स्थान मिला है कहते हैं कि प्रकृति ने हास्य द्वारा मनुष्य में स्वाभाविक सहानुभूति की अतिशयता को रोक कर मनुष्य को जरा जरा सी बातों के लिये दुःखी होने से बचाए रखने की सद्योजना की है। उपहासयोग्य कार्यों में अपनी वा किसी अन्य पुरुष की भूल

होती है और प्रत्येक भूल थोड़े बहुत दुःख का कारण होती है। मनुष्य की स्वाभाविक सहानुभूति दूसरों की भूलों पर उसको दुःखित होने के लिए बाधित करती है किन्तु कुछ भूलें ऐसी हैं कि जिनके कारण विशेष दुःख करना उचित नहीं है। प्रकृति ने मनुष्य को ऐसे दुःखों से बचाने के निमित्त उपहास की योजना की है। उपहास में यद्यपि सहृदयता का अभाव दिखाई पड़ता है तथापि वह अभाव इतना नहीं है कि वह मनुष्य को पशु बना दे। मैक गल (W. Macaoghal) साहब का विचार है कि मनुष्य में यदि इतनी सहृदयता की मात्रा बढ़ी हो कि ज़रा-ज़रा सी बात पर दुःख होने लगे तो उसका जीवन कठिन हो जायगा। इसके अतिरिक्त वास्तविक सहृदयता की बातों में अन्तर न रहेगा क्योंकि वेदना तो प्रायः दोनों ही में बराबर होगी। वास्तव में हास्य यदि अपने को वेदना से बचाता है तो वह दूसरों में अवश्य थोड़ी बहुत वेदना उत्पन्न करता है। इसी आधार पर कुछ आचार्यों का कथन है कि उपहास का मूल मनुष्य की उन स्वाभाविक प्रकृतियों में है जो कि खेल तथा लड़ने से सम्बन्ध रखती है।

उपहास करने वाला सदा अपने को दूसरों से उत्तम समझता है और उसका उपहास कर अपनी उत्तमता एवं श्रेष्ठता की छाप जमाना चाहता है। शहर के लोग गाँव वालों पर इस लिये हँसते हैं कि वह अपने को उनकी अपेक्षा उत्तम समझते हैं; इसी लिये बहुत से सज्जन उपहास को पसन्द नहीं करते।

उपहास के साथ जो वेदना का सम्बन्ध है उसीके कारण वही वस्तु एक मनुष्य के निमित्त, जिसका कि हृदय कठोर है,

उपहास का विषय बन जाती है और दूसरे के लिये जिसका कि हृदय कोमल है, सहानुभूति का कारण हो जाती है। उदाहरण-तया, जब कोई लड़का किसी कुत्ते को ज़ोर से ईंट फेंक कर मारता है और वह कुत्ता चिल्लाता हुआ भाग जाता है तो नटखट लड़के उस कुत्ते की ऐसी वेदना-जन्य-अवस्था पर हँसते हैं और कहते हैं "खूब लगी' किन्तु सहृदय-सज्जन उस तरफ से आँख फेर लेते हैं और उन लड़कों को दुत्कारते हैं।

इस विवेचना से यह न समझना चाहिये कि हास्य मनुष्य जाति में एक प्रकार से कलङ्क स्वरूप है; क्योंकि बहुत सी ऐसी स्थितियाँ होती हैं कि जहाँ पर उपहासस्पद को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। वह स्वयं भी उस उपहास में सम्मिलित हो जाता है और इस प्रकार अपनी हानि में उत्पन्न हुई मानसिक बेदनाओं को भी भूल जाता है। समाज में वेदना-शून्य-हास्य भी हो सकता है और ऐसे ही हास्य में मनुष्य की बुद्धि और कौशल देखा जाता है। साहित्यिक हास्य प्रायः ऐसे ही होते हैं। ऐसे वेदना-शून्य-हास्यों की सम्भावना होते हुए हम मैकडूगल साहब (Ms. Macugall) की व्याख्या को व्यापक नहीं कह सकते, अस्तु।

यद्यपि ऊपर की विवेचना में कोई बात निश्चयात्मक एवं व्यापक नहीं सिद्ध की जा सकती तथापि हम अपने हेतु कुछ हास्यसम्बन्धी सिद्धान्त निश्चित कर सकते हैं। वह इस प्रकार से हैं:—

(१) हास्य स्वास्थ्य का सूचक है और उसके साथ उसके उत्पा-दन में सहायक भी है। हास्य से हमारा मानसिक बचाव हो

जाता है और एक प्रकार से हमारे चित्त में शान्ति स्थापित हो जाती है। जो कि हमारे स्वास्थ्य के लिये परम आवश्यक है।

(२) हास्य का विषयी प्राय: अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करता है और हास्य के विषय की हीनता का। बहुधा यह उत्त-मता का भाव दूसरों के प्रति आन्तरिक घृणा से सम्बन्ध रखता है। वह घृणा उपहास में छिप कर एक सौम्य रूप धारण कर लेती है और घृणा के भाव को दबाए रखने से जो वेदना होती है उससे मनुष्य को बचाए रखने में योग देती है।

(३) हास्य का वेदना से विशेष सम्बन्ध है। मनुष्य की स्वाभा-विक सहानुभूति उसको दूसरों की वेदना में सम्मिलित होने के लिये रुकाती है किन्तु ऐसा होने में मनुष्य संसार के दु:ख का भार न सह सकेगा। इसीलिये सहानुभूति का पलड़ा बराबर करने के निमित्त प्रकृति ने मनुष्य में उपहास की शक्ति दी है। दो मनुष्यों को दु:ख न होकर एक ही को दु:ख होता है। उच्च-हास्य एक आदमी का दु:ख बचाने का भी प्रयत्न करता है। उपहास, बदला लेना, घृणा करना, अपनी उत्तमता स्थापित करना और दूसरों के दु:ख से दु:खित होने के भार से अपने को बचाए रखने की अश्लाघनीय भावनाओं के अतिरिक्त दूसरों के सुधार की ओर उनको अपना सा बना लेने की सद्भावना भी लगी रहती है।

(४) दूसरों पर उपहास करने का कारण उपहास कर्ता के मन

में चाहे घृणा चाहे प्रतीकार की इच्छा और चाहे आत्म-भाव प्रकट करने की हो किन्तु उपहासयोग्य वस्तु में उस को साधारण प्रवाह से विपरीतता ही कारण है। अर्थात् उपहासयोग्य वस्तु भी कोई न कोई बात साधारण से विपरीत होती है। मैकडूगल साहब (Mr. MacDonghall) ने विपरीतता के सिद्धान्त को इतना व्यापक बना दिया है कि उनके मत से गुलगुलाने में जो प्राकृतिक हँसी आती है उसका भी मूल कारण विपरीतता में है। उनका कथन है कि यद्यपि गुलगुली की हँसी शारीरिक हँसी है तौभी उसका मन से एक गुप्त सम्बन्ध है। जो मनुष्य गुलगुलाया जाता है वह प्रायः इस विपरीतता पर हँसता है कि मैं इतना बड़ा मनुष्य होकर ज़रा सी उँगली के संचालन अथवा पैसा वा पर से खुजलाने को सहन नहीं कर सकता यही अवस्था विपरीतता से सम्बन्ध रखती है। उपहास मनुष्य का ही होता है तथा मनुष्य ही कर सकते हैं। प्रत्येक उपहास-कर्ता उपहास के समय यह विचार अनुभव करता रहता है रस कि अवस्था में केवल मैं ही नहीं हँसूँगा वरन् मेरे और भो साथी हँसेंगे। उपहास सामाजिक है। अब कुछ उदाहरणों से यह पुष्ट किया जावेगा कि हास्य के विषय में कुछ न कुछ साधारण से विपरीतता रहती है। काव्य में जो हास्य होता है उसमें ऐसी विपरीतता होती है कि जिसको वास्तव में कोई स्वीकार न करेगा।

जैसे:—

अत्तुं वाञ्छति वाहनं गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी।
तं च क्रौन्चपतेः शिखी च गिरिजा सिंहोऽपि नागाननम्॥

गौरी जन्हुसुतामसूयति कलानाथं कपालाननो ।
निर्वाणः स ययौ कुटुम्बकलहादीशोऽपि हालाहलम् ॥

नीचे के छन्द में इससे मिलता जुलता भाव दिया जाता है:—

बार बार बैल को निपट ऊँचो नाद सुनि,
हुँकरत बाघ विरझानों रसरेला में ।
'भूधर' भनत ताकी बास पाई शोर करि,
कुत्ता कोतवाल को बगानो बगमेला में ॥
हुँकरत मूषक को दूषक भुजंग तासों,
जंग करिबे को झुक्यों मोर हर तेला में ।
आपुस में पारषद कहत पुकारि कछु;
ररिसी मची है त्रिपुरारि के तबेला में ॥

उपर्युक्त संस्कृत छंद का भाषानुवाद यह है कि:—भूजंग-भूषण का गल-हार सर्प क्षुधातुर होकर गणेश-वाहन मूषिक-राज को खा जाना चाहता है, उस सर्प को भी षड़ानन का मयूर भक्षण करना चाहता है ? भवानी-वाहन सिंह भी गजानन पर टूटा पड़ता है । धूर्जटी के जटा-जूट में रमण करने वाली गंगा से पार्वती ईर्षा-द्वेष प्रगट कर रही है और उधर त्रिलोचन शङ्कर के ललाट—लोचन की दिव्य ज्वाला को देख कर मस्तकस्थ चन्द्र देव आशा कर रहे हैं, बस अपने कुटुम्ब में कर्कश कलह-कोलाहल देखकर भगवान् ईश शिव ने व्यथित चित्त एवं उदासीन होकर हालाहल (विष) पी लिया ।

यद्यपि इस वैपरीत्य को कोई सचमुच स्वीकार करने को तैयार न होगा तथापि हास्य रस ने इसमें सार्थकता सी उत्पन्न कर दी है । और भी देखिये:—

"असारे खलु संसारे सारं श्वशुरमन्दिरम् ।
हरो हिमालये शेते हरिः शेते महोदधौ ।"

अर्थात् "इस निस्सार संसार में केवल ससुराल ही सार पदार्थ है, क्योंकि भगवान विष्णु क्षीर-सागर में शयन करते हैं और शङ्कर जी हिमालय के शिखर (कैलास) पर "असारे खलु संसारे । कह कर इस श्लोक का आरम्भ तो इस प्रकार किया गया है कि मानो कोई बड़ा वेदान्त का सिद्धान्त बतलाया जावेगा, और आगे चलकर ससुराल की गुण-गरिमा का गायन किया जाता है, इसी में विपरीतता है ।

और लीजिये:—

कमले कमला शेते, हरः शेते हिमालये ।
क्षीराब्धौ च हरिः शेते, मन्ये मत्कुणशंकया ॥

लक्ष्मी जी कमल पर सोती हैं, महादेव जी हिमालय पर्वत पर और विष्णु भगवान क्षीर सागर में, मालूम होता है कि खटमलों के ही भय का यह कारण है । एक जरा सी चीज़ खटमल, उससे विष्णु भगवान और काल-रूप महादेव का भय करना ! बस इसमें यही विपरीतता है । यही भाव हिन्दी के निम्नाङ्कित पद्य में भी अच्छा दिखाया गया है ।

देखिये:—

जगत के कारन करन चारो वेदन के,
कमल में बसे वे सुजान ज्ञान धरिकै ।
पोखन अवनि दुख सोखन तिलोकन के,
समुद में जाय सोये सेज सेस करि कै ॥

मदन जरायो औ संहार्‌यो दृष्टि ही सों सृष्टि,
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरबरि कै।
बिधि हरि हर बड़ इनमें न कोऊ तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन सों डरि कै॥

विपरीतता का अर्थ हमको विस्तृत रूप में लेना पड़ेगा। जो कुछ हम साधारणरीत्या देखते हैं, जो कुछ हम आशा करते हैं, उसके अनुकूल न होने को ही विपरीतता कहते हैं। इसमें छोटी बात को बहुत छोटी, या छोटी को बड़ी, बड़ी को बहुत बड़ी, और बड़ी को छोटी करके दिखाना ये सभी बातें आ जाती हैं। व्यङ्ग चित्र जो बनाये जाते हैं वह प्रायः छोटी बात को बड़ी करके ही दिखाते हैं। ऐसा हास्य समाज में अनुवीक्षण-यन्त्र का काम करता है। जो बात कहनी है वही सामने रख दी जाती है। हमको हँसी इस बात में आती है कि यह वस्तु कैसी होनी चाहिये थी और कैसी है। बेनी कवि की कविता में इस प्रकार के हास्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। देखिये:—

चींटी की चलावै को मसा के मुह आय जाय,
स्वास की पवन लागै कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनुअरमान की समानता खगत है॥
'बेनी' कवि कहैं और कहाँ लौं बखान करौं,
मेरे जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीने दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सों लगत है॥

एक कवि को किसी ने बूढ़ी भैंस दान दी थी उसका क्या ही उत्तम वर्णन है।

ल्याये हौ मोहि दया करि कै तो हरी हरी घास खरी भुस खैहौं।
ब्यान पचासक ब्याइ चुकी अब भूलि नहीं सपनेहु ब्यैय हौं॥
हौ महिषासुर ते बड़ी बैस में तो घर जात कलङ्क लगै हौं।
दूध को नाम न लेहु कबीसुर मूतन ते नदी नार बहै हौं॥

दयाराम के आम छोटे और नीरस अवश्य होंगे, किन्तु खाली छोटे और रसहीन कहने से इतना प्रभाव न पड़ता। ऐसे हास्य में मनोविनोद के साथ मतलब भी गठ जाता है तथा सुधार भी हो जाता है। ऐसा ही भैंस का हाल होगा। एक सूम दाता का और वर्णन सुन लीजिये:—

साल छ सातक की दार दराय कै साहु कह्यो यह लेहु नई है।
फूंक दई लकड़ी बहुतेरिक साँझ ते आधिक रात लई है॥
खाय लियो अकुलाय कै काच ही चाक ही चूल्हे निहारि गई है।
खोय दियो मुजरा दरबार को दाल दधीच की हाड़ भई है॥

हिन्दी कवियों ने बहुत से हास्य-पूर्ण वर्णन किये हैं। इन वर्णनों की यही विशेषता है कि ज़रा सी बात को खूब बढ़ा कर कहा गया है। इसके साथ-साथ शाब्दिक चमत्कार भी हास्य को तीव्रता देता है। वैद्य अच्छे भी होते हैं और बुरे भी तथा डाक्टर एवं वैद्यों की खुशामद-ख़ातिर जरूरत पर ही की जा सकती है। कवि लोग वैद्यों की अथवा अन्य ऐसे लोगों की धूल उड़ाकर समाज की ओर से बदला चुका लेते हैं। इसमें चित्त की प्रसन्नता के साथ मनोविनोद हो जाता है।

पेट पिराय तो पीठि टटोलत पीठि पिराय तो पाँय निहारैं।
दै पुरिया पहिले विष की पुनि पीछे मरे पर रोग विचारैं॥
बीस रुपैया करैं कर फ़ीस न देव जवाब न त्यागत कारैं।
भाखैं 'प्रधान ये बैद कसाई हैं दैव न मारैं तो आपहि मारैं॥

और भी देखिये:—

बैदिक पढ़ो है ना पढ़ो है लोभ लालच में,
माठा सोंठ धनियाँ पिआवैं महा जुद को।
बैठि निज द्वार पै बिसाल माला डारि गरे,
सौं गुनो कसाई तें न मानें देव गुर को॥
कविराम नहरी बहती बाके गहरी सुवैद,
अगर हर्रा हमारो मन मुर को।
जाने निज नारी को न भेद धावै नारी हेत,
धरै जाकी नारी सो सिधारे यमपुर को॥

एक और वैद्य जी का वर्णन देखिये। इसमें औषधियों के प्राय: सब रूप हैं:—

दै पुरिया दस बीसक मारे पचासक आसन पेर संहारे।
त्यौं रस के बस कैं बहुतेरन गोलिन से सत साठिक तारे॥
चूरन से किये चूर अनेक जुलाब के जोर को लाखन मारे।
बेद भये हर गोविन्द जो तब से जमदूत फिरैं सरतारे॥

अब ज़रा चपरासी राम का वर्णन देखिये:—

जगद्गुरू है बामन देवता, तिनके गुरु सन्यासी।
तासु गुरू चपरासी राजत, धरे चारुता खासी॥
× × × ×

और भी:—

ऐंठे से रहत बैन सूधे ना कहत हठ,
आपनी गहत करै काई को न पास हैं।

म्याने कद डील राखै आँख में न सील राखै
इनमें असील ते चलत चाल रास हैं ॥
धन्य यह बाना कबि 'राम' खूब जाना
इने जिन पतियाना ते नसाना जग खास हैं ।
पावैं आठ आना तोइ खाना कौ उदास फिरै
बाँधे खपरट सी चपरासी चपरास हैं ॥

पेशकार महोदय का जरा गुण गान सुन लीलिये:—

कार बड़ो पेशकार को पाय कै धर्म को लेस मिटावन लागै ।
ग्वाहन को बुरकी दिखराय के आपनो ढंग जमावन लागै ॥
बैठि समीपहि हाकिम के तुरफैन सों सैन चलावन लागै ।
मुद्रिका पाँच लिये जब हीं तब झूठ को साँच बतावन लागै ॥

× × × ×

म्यान सों कमलदान करते निकारि तामें
स्याही जल विष में बुझाई बार बार है ॥
चारुयुक्ति जौहर जगावत सनेह संग
अकिल अनेक तामें सिकिल सुठार है ॥
'जुगल किसोर' चलै कागद धरा पै धाय
धारै ना दया को नेकु लागे वार पार है ।
पाइ कै गँवार गाइ साफ करैं साइत में
मुनसी कसाई की कलम तरवार है ॥

× × × ×

उपर्युक्त वर्णन अधिकांशरूपेण सत्य हैं, किन्तु इनमें और वर्णनों से अधिक रोचकता है। इसका कारण यह है कि इन विषयों पर लोग बहुत कम लिखते हैं। कविता के विषय प्रायः राजा और देवता ही समझे जाते हैं। इनको कविता का पात्र बना कर हम साधारणता से बाहर चले जाते हैं। यदि कोई

ताजमहल का विशद वर्णन करे तो हम उसको उत्तम कह कर ही ठहर जावेंगे, यदि हँसेंगे तो हमारी हँसी कवि की उक्ति का, उसकी कल्पना के विस्तार पर प्रसन्नता सूचनार्थ होगी, हास्य की नहीं। हास्य की हँसी तथा प्रसन्नतासूचक हँसी में भेद है। यदि कोई पुत्रोत्पत्ति से प्रसन्न होकर हँसे तो उसकी हँसी हास्य रस के आस्वादन की हँसी न होगी। ताजमहल का वर्णन पढ़ कर जो प्रसन्नता होती है, पुत्रोत्पत्ति की-सी प्रसन्नता है। चपरासी अथवा मुन्शी जी के वर्णन में जो आनन्द आता है वह हास्य रस का आनन्द है। कलम को तरवार की उपमा देना और उसको सर्वांगी बना देने में ही हास्य है। छोटी वस्तु को महत्व देना विपरीतता की परिभाषा में आ जाता है। नीचे रुपये का क्या ही उत्तम वर्णन है:—

> जा में दू अधेली चार पावली दुअन्नी आठ,
> तामें पुनि आना लखो सोरह समात हैं।
> बत्तीस अधन्नी जामें चौसठ पईसा होत,
> एक सौ अट्ठाइस अधेला गुन मात हैं॥
> युग शत छप्पन छदाम तामें देखियतु,
> दमरी सु पाँच शत बारह लखात हैं॥
> कठिन समैया कलिकाल को कुटिल दैया,
> सलग रुपैया भैया कापै दियो जात है॥

रुपये का जो वर्णन दिया गया है उसमें जो कुछ लिखा है वह सत्य अवश्य है, किन्तु उसमें जो रुपए का विस्तार किया गया है वह हमारे हास्य का कारण होता है। वह तो सभी जानते हैं कि रुपए में दो अठन्नी एवं चार चवन्नी हैं, किन्तु

उसका पूर्ण से पूर्ण विस्तार कर बतला देने में हमारा मन यह देखने में लग जाता है कि आगे और क्या निकलता है। यही बात हमारे मन को हलका कर देती है। इसके साथ ही इस पद का जो अन्तिम चरण है उसकी भाषा में हास्य की मात्रा कुछ अधिक है 'कठिन समैया कलिकाल को कुटिल दैया सलग रुपैया भैया कापै दियो जात है' रुपए देने में लोग संकोच अवश्य करते हैं किन्तु इसलिये नहीं कि 'चौंसठ छदाम' होती हैं वरन् इसलिये कि वह मूल्यवान है। संख्या का मूल्य नहीं है वरन् उसकी क्रय-शक्ति का मूल्य है। फिर 'कठिन समैया' अवश्य है, किन्तु रुपया खर्च करना ही पड़ता है। सो भी यदि सम्पन्न आदमी यह कहे कि "रुपैया भैया कापै दियो जात है" तो हम को अवश्य हँसी आ जाती है।

मूर्खों की मूर्खता हास्य का कारण होती है विशेष कर जब कि वह बड़े आदमियों की हो। ऐसी अवस्था में विपरीतता स्पष्ट ही रहती है किन्तु साधारण मनुष्यों की मूर्खता में भी एक प्रकार की मूर्खता अव्यक्त रहती है वह यह कि मूर्खता मनुष्योचित नहीं मनुष्य स्वभाव से ज्ञानवान माना गया है। यह मूर्खता तब ही तक हास्य का कारण होती है जब तक कि विशेष हानि का कारण न हो। अन्धेर नगरी के राजा का मूर्खता पूर्ण न्याय बहुत हँसी दिलाता है, देखिये महा अन्धेर नगरी नाटक से एक उदाहरण लीजिए।

बटोही—दुहाई महाराज की इसने मेरी स्त्री के छ महीने का गर्भ नष्ट कर दिया—न्याव हो।

किसान—महाराज इसकी गदही (घोड़ी) ने मेरा खेत

खाया उसको मैंने खेदा उस पर से यह स्त्री गिर पड़ी तो मेरा क्या कसूर ?

राजा—ठीक है अच्छा इस औरत को अपने यहाँ ले जा जब छ महीने का गर्भ हो जाय तो इसे वापस कर देना ! जाओ बाहर !!! नहीं तो फाँसी दिलवा दूँगा ।

अब जरा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के चूरन का लटका सुनिये :—

चूरन अमलवेद का भारी । जिसको खाते कृष्ण मुरारी ॥
मेरा पाचक है पचलोना । जिसको खाता श्याम सलोना ॥
चूरन बना मसालेदार । जिसमें खट्टे की बहार ॥
मेरा चूरन जो कोई खाय । उसको छोड़ कहीं नहिं जाय ॥
हिन्दू चूरन इसका नाम । विलायत पूरन इसका काम ॥
चूरन जब से हिन्द में आया । इसका धन बल सभी घटाया ॥
चूरन ऐसा हट्टा कट्टा । कीना दाँत सभी का खट्टा ॥
चूरन चला दाल की मंडी । इसको खायेंगी सब रंडी ॥
चूरन जमके सब जो खावैं । दूनी रुशवत तुरत पचावें ॥
चूरन नाटक वाले खाते । इसकी नकल बचाकर लाते ॥
चूरन सभी महाजन खाते । जिसमें जमा हजम कर जाते ॥
चूरन खाते लाला लोग । जिनको अकिल अजीरन रोग ॥
चूरन खावें एडीटर जात । जिनके पेट पचे नहिं बात ॥
चूरन साहब लोग जो खाते । सारा हिन्द हजम कर जाते ॥
चूरन पुलिस वाले खाते । सब कानून हजम कर जाते ॥
ले चूरन का ढेर । बेचा टके सेर ॥

व्यङ्ग में जो हास्य है वह विपरीततामूलक है । उसमें जो बात नहीं होती है उसी का भाव बतलाया जाता है । सूम को

दानी बताना और मूर्ख को पण्डित बनाना व्यङ्ग से ही होता है। एक दाता का व्यङ्ग-वर्णन नीचे दिया जाता है।

पौंर के किवार देत घर सब गार देत
साधुन को दोष देत प्रीति ना चहत हैं।
माँगते को ज्वाब देत बात कहे रोय देत
लेत देत भाँज देत ऐसे निबहत हैं॥
बागे हू के बंद देत बारन की गाँठ देत
पर्दन के काँछ देत काजई कटत हैं।
ऐते पै कहत सबै लाला कुछ देत नाहिं
लाला जू तो आठों जाम देतई रहत हैं॥

× × × ×

देखिये, लक्ष्मण-परशुराम संवाद में लक्ष्मण जी कोप-मूर्ति भृगुनन्दन परशुराम जी का कैसे बालोचित चञ्चल व्यङ्ग-वचनों द्वारा उपहास करते हैं।

× × × ×

लपन कहेउ मुनि सुयश तुम्हारा। तुमहि अछत को बरनै पारा।
अपने मुख तुम आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥

× × × ×

कहेउ लपन मुनि शील तुम्हारा। को नहिं जान बिदित संसारा।
मातहिं पितहिं उरिन भय नीके। गुरु ऋण रहा सोच बड़ जी के॥
सो जनु हमरे माथे काढ़ा। दिन चलि गयेउ ब्याज बहु बाढ़ा।

घोर गम्भीर श्रीरामचन्द्र जी भी उनके ऊपर व्यङ्ग किए बिना नहीं रहते।

क्षमहु चूक अनजानत केरी । चहिये विप्रउर कृपा घनेरी ।
हमहिं तुमहिं सर वर कस नाथा ! कहहु तो कहाँ चरन कहँ माथा ॥
राम मात्र लघु नाम हमारा । परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा ।
देव एक गुण धनुष हमारे । नव गुण परम पुनीत तुम्हारे ॥

× × × ×

इन वचनों के सुनने से हम को इस बात में आनन्द आता है कि यहाँ तो "कोप के भार में भूजो भरत हौं" कहने वाले परशुराम जी के क्रोध का आवेश और कहाँ बालक लक्ष्मण की उपेक्षा तथा उदासीनता ! शक्ति तथा क्रोध का तिरस्कार सब ही को अच्छा लगता है, फिर कैसे चातुर्य्य के साथ ! 'मात पिता उरिन भए नीके' में कितना व्यंग भरा हुआ है । 'चहिये विप्र उर कृपा घनेरी'—विप्रोचित कृपा और क्षमा का जैसा परशुराम जी ने परिचय दिया वह पाठकों को विदित ही है । जिन श्रीरामचंद्र जी ने परशुराम जी के गुरु का धनुष छूते ही तोड़ डाला था वह परशुराम जी से क्या डरने वाले थे । तब भी वह उनको बड़ाई देते हैं किन्तु वह बड़ाई व्यंग से खाली नहीं । श्रीरामचंद्र जी कहते हैं कि आप की बड़ाई परशु में है और वह परशु आप का यहाँ काम न देगा । धनुष को भंग कर राम ने अपनी बड़ाई सिद्ध कर ही दी थी किन्तु परशुराम जी को बड़ाई देकर व्यंग तथा विनय दोनों ही प्रदर्शित किये । श्रीरामचंद्र जी ने पहिले वास्तविक विनय की थी किन्तु जब उससे परशुराम जी का कोप न दूर हुआ तो थोड़ा व्यङ्ग भी कर डाला ।

आध पाव तेल में तयारी भई रोशनी की,
आध पाव रूई में पोशाक भई वर की।
आध पाव छाले को गिनौरा दियो भाइन को,
माँगि माँगि लायो है पराई चीज घर की
आधी आधी जोरि 'बेनी कबि की बिदाई कीनी,
ब्याहि आयो जब से न बोले बात फिर की।
देखि देखि कागद तबीयत सुमादी भई,
सादी काह भई बरबादी भई घर की।

एक ओर आध पाव तेल में रोशनी की तैयारी हो गई और सब चीजें भी आध ही आध पाव में तैयार हो गईं और उधर सूमराज जी जब अपने घर का हिसाब देखते हैं तो उसको घर की बरबादी कहते हैं। दो चार हजार उठ जाते तो दूसरी बात थी। यह विपरीतता है अवश्य, किन्तु वास्तविक विपरीतता नहीं। हास्य रस में परिवर्तन विपरीतता को पहुँच जाता है। यह वास्तविक विपरीतता नहीं वरन् यह केवल ध्यान को आकर्षित करने के लिये, भूल से अथवा कल्पना में आरोपित की जाती है। इसका फल यह होता है कि विपरीतता के कारण ध्यान आकर्षित हो जाता है और यह विपरीतता वास्तविक न होने के कारण चित्त में किसी प्रकार की अशांति नहीं मचाती। अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक हैं हैजलेट। (Haglit) इनका कहना है कि लोगों को कठपुतली के नृत्य में सब से अधिक आनन्द इसी कारण होता है कि कठपुतली मनुष्य न हो करके मानवीय कृत्य करती है। जरा सी पुतली राजा का-सा गौरव रखती है किन्तु उसके पतनोत्थान में विशेष दुःख भी नहीं होता

है । जिस प्रकार कठपुतली को टक्करें तथा ठोकरें खाने के पश्चात् झाड़ पोंछ कर रख देते हैं वैसे मनुष्य को झाड़ पोंछ कर नहीं रखते हैं । मनुष्य को हँसी का विषय बनाने में थोड़ी लज्जा और आत्म-ग्लानि होती है, किन्तु कठपुतलियों में नहीं । यद्यपि कठपुतलियाँ भी मनुष्य की कृति का ही अनुकरण करती हैं । ज़रा से काठ के टुकड़े को राजा और मंत्री का गौरव देने में हास्य का मूल है । अन्तिम फल यह होता है कि मन के ऊपर से भार उतर जाता है और चित्त में प्रसन्नता आ जाती है । यह बात, पुराने कवियों की नकलें करके जो हँसी उड़ाई जाती है, उसमें अधिक होती है । उसमें किसी घटना की विपरीतता तो नहीं होती वरन् एक गम्भीर बात को साधारण बना दी जाती है । ऐसे में तुरन्त ही मन भारी से हलका हो जाता है ।

ज़रा देखिये :—

चित्रकूट के घाट पै, भइ सन्तन की भीर ।
'तुलसीदास' चन्दन घिसैं, तिलक देत रघुबीर ॥

इसके सुनने से धार्मिक भाव का उदय हो आता है, किन्तु कुछ लोगों ने इसकी एक नकल बनाई है । उसके सुनते ही एक साथ चित्त आमोदपूर्ण हो जाता है । वह नक़ल इस प्रकार है :-

"चित्त कूट के घाट पर, (यहाँ तक तो लोग यह आशा करते हैं कि आगे यही होगा कि 'भई सन्तन, की भीर' किन्तु आगे क्या सुनने को मिलता है) 'भई भडवन (लुटेरों) की भीर' 'तुलसीदास (आगे चन्दन घिसत नहीं हैं) चोरा करत, कुटत फिरत रघुबीर" इसको सुनते ही मन का गाम्भीर्य्य दूर हो जाता है ।

"आगे चलै बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक परवत नियराई ॥"
की भी इसी प्रकार नक़ल की गई है। सुनिये —

आगे चलै बहुरि रघुराई, पाछे लड़िकन धूल उड़ाई ॥

इसी प्रकार उर्दू की कविताओं का मज़ाक उड़ाया जाता है —

करीमा विबख्शाय बर हा लिया।
करीमा की माँ बड़ी जा लिया॥

इसी प्रकार की नकल में पं० प्रताप नारायण मिश्र जी की 'हरगंगा' बहुत ही अच्छी है। देखिये—

आठ मास बीते जजमान, अब तो करौ दच्छिना दान। हर गंगा॥
आज काल्हि जो रुपया देव, मानों कोटि जग्ग करि लेव। हर गंगा॥
माँगत हमको लागै लाज, पर रुपया बिन चलै न काज। हर गंगा॥
जो कहुँ देहो बहुत खिजाय, यह कौनेहु भलमंसी आय। हर गंगा॥
हँसी खुशी से रुपया देउ, दूध पूत सब हमसे लेउ। हर गंगा॥
काशी पुत्र गया माँ पुन्न, बाबा वैजनाथ माँ पुन्न। हर गंगा॥
तो अधीन ब्राह्मन के प्रान, जादा कौन बकै जजमान। हर गंगा॥

पं० ईश्वरी प्रसाद के 'चना चबेना' में भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं—

घन घमण्ड गरजत है घोरा। टका हीन कलपत मन मोरा॥
दामिनि दमक रही घन माहीं। जिमि लीडर की मति थिर नाहीं॥
बरषहिं जलद भूमि नियराए। लीडर जिमि चन्दा धन पाए॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। लीडर बचन प्रजा सह जैसे॥
क्षुद्र नदी भरि चल उतराई। जस कपटी नेता मन भाई॥

लेखक ने भी एक स्काउट गीत की नक़ल की है। उसका यहाँ पर उल्लेख किया जाता है, एतदर्थ क्षमा की जावे।

सुख-सेवक नर हैं हम हम हम ।
दुख से भय करते हम हम हम ॥

कभी कष्ट नहिं आवैं हम पर,
शयन करें नित मौजी बनकर ।
नाम काम का लेंय न छन भर,
भोजन डटैं सदा ही मन भर ॥
गप्पों में जाते रम रम रम ॥

आग लगी हो भी झर झर झर,
माल रहा हो जल फर फर फर ।
लोग उठाते हों सर सर सर,
तौ भी हम सोवें घर घर घर ॥
कभी न करते हैं ,, ,,

काम स्वप्न में भी सुन पावें ।
तो हम चुपके कान दबावें ।
नहीं भूलकर हाथ चलावें ।
चाहे भूखों भी मर जावें ।
रहैं डटे ही हम जम जम जम ।।

कैसा भी अपमान सहैं हम ।
तब भी पूरन शान्त रहैं हम ।
नहीं कभी निज कष्ट कहैं हम ।
बस खटिए की शरण गहैं हम ।
दुनिया है सारी भ्रम भ्रम भ्रम ।। सुख सेवक० ॥

बङ्किम बाबू ने अपने वसन्त-वर्णन में शृंगारी कवियों का बड़ा ही सुरुचिपूर्ण हास्य किया है। वह इस प्रकार से है:—

रेवती—सखी ! ऋतुराज वसन्त पृथ्वी पर उदय हुए हैं । आ, हम दोनों वसन्त का वर्णन करें, क्योंकि हम दोनों ही वियोगिनी हैं । पहिले की वियोगिनियाँ सदा से वसन्त का वर्णन करती आई हैं । आ, हम भी करें ।

सेवती—वीर ! तैंने ठीक कहा । हम कन्या-विद्यालय में पढ़-लिखकर भी चक्की-चूल्हे में मरती हैं । आ, आज कविता की आलोचना करें ।

रेवती—सखी ! तो मैं आरम्भ करती हूँ । सखी ! ऋतुराज वसन्त का समागम हुआ । देख, पृथ्वी ने कैसा अनिर्वचनीय भाव धारण किया है । देख,

चतलाता कैसी नव मुकुलित—
सेवती—और सहजने की कलियाँ लटकित—
रेवती—सीतल सुगन्ध मन्द वायु बहती—
सेवती—उड़कर धूल देह पर जमती—

रेवती—चल हट, यह क्या बक रही है ! सुन, भ्रमर फूलों पर गूँज रहे हैं—

सेवती—मक्खियाँ मीठे पर भिन-भिना रही हैं—

रेवती—वृक्षों पर कोयल पञ्चम स्वर से कूक रही है—

सेवती—गधा अष्टम स्वर से रेक रहा है—

रेवती—जा, तेरे साथ वसन्त वर्णन न बनेगा । मैं मालती को पुकारती हूँ । अरी, ओ मालती । इधर आ, वसन्त वर्णन करूँ !!

इसीसे मिलता-जुलता वसन्त-वर्णन कर्पूर-मञ्जरी से दिया जाता है । वह इस नाटक के विदूषक आचार्य-कपिञ्जल का कहा हुआ है । देखिये:—

आयो आयो वसंत आयो वसंत ।
वन में महुवा टेसू फुलंत ॥
नाचत है मोर अनेक भाँति, मनु भैंसा का पड़वा फूल फालि ॥
बेला फूले बन बीच बीच, मानो दही जमायो सींच सींच ।
बहि चलत भयो है मन्द पौन, मनु गदहा का छान्यो पैर ॥
गेंदा फूले जैसे पकौरि ।
लड्डू से फले फल बौरि बौरि खातन में फूले भात-दाल ।
घर में फूले हम कुल के पाल ॥
आयो आयो वसन्त आयो आयो वसन्त ।

हम बसन्त राजा बसन्त रानी बसन्त यह दाई भी बसन्तै ॥
सीटी देकर पास बुलावे, रुपया दे तो निकट बैठावे ।
ले भागे मोहिं खेलहि खेल, क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि रेल ॥

× × × ×

धन लेकर कुछ काम न आवै, ऊँची नीची राह दिखावे ।
समय परे पर साधे गुंगी, क्यों सखि सज्जन, ना सखि चुंगी ॥

इन मुकरियों में केवल अनुकरण का ही आनन्द नहीं है वरन् इस बात का भी उस प्रकार की रचना आज कल के विषयों में लागू हो जाती है । मुकरियों का विशेष आनन्द इस बात में रहता है कि अन्त तक यह प्रतीत होता है कि यह पहेलि का प्रियतम के सम्बन्ध में है और एक साथ ही उसका अर्थ दूसरे विषय में पलट दिया जाता है ।

इसी प्रकार साधारण-सी बात के वर्णन को स्तोत्र बना देना अथवा ऋचा का रूप दे देना हास्य का कारण होता है । मैक्सम्युलर का 'चटनी मन्त्र' और बंकिम का गर्धवस्तोत्र इसीका

उदाहरण है। भंग और तम्बाकू के विषय में जो श्लोक प्रचलित हैं वे इसी संज्ञा में आवेंगे। उनमें से कुछ यहाँ पर दिये जाते हैं।

आकाशे चण्डिका देवी, पाताले भुवनेश्वरी।
भूलोके विजया देवी, सर्वसिद्धिप्रदायिनी॥

तम्बाकू की प्रशंसा देखिये:—

"बिड़ौजाः पुरा पृष्टवान् पद्मयोनिं धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति।
चतुर्भिर्मुखैरुत्तरं तेन दत्तं तमाखुस्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुः"

और भी देखिये:—

'क्वचिद्धुक्का क्वचित्थुका क्वचिन्नासाप्रवर्तिनी।
एषा त्रिपथगा गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम्॥

अन्यच्च:—

तकारो तत्वरूपाय, मकारो मोक्षदायकः।
खकारो खेदनाशाय, त्रयगुणास्यतमालयः॥

और भी देखिये:—

जपादौ च जपान्ते च, जपमध्ये पुनः पुनः।
बिना तमालपत्रेण जपसिद्धिर्नजायते॥

पं० श्रीधर पाठकजी ने म्युनिसपलिटी की एक बहुत ही मनोरञ्जक स्तुति लिखी है। देखिये:—

शुक्लश्यामांगशोभाढ्यं, गौनसाड़ी-विभूषिताम्।
महामोहलसद्भालां, करालां, काल-सोदराम्॥
चन्दा चुङ्गीं विचिन्वन्तीं, खुली नालीं निकालतीम्।
गलतीं च नजर अपनीं, चारों जानिब रुआब से॥
टौनहॉले महा भीमे, टेबिल-चेयर-शतान्विते।
लैम्पलोलुपसन्दीप्ते, प्यूनभृत्यनिषेविते॥

उच्चासनसमासीनां, चेयरमैन-चलत्करात् ।
महाविचार में मग्नां, मनो लग्नां धनागमे ॥

तां श्री मह्राम्युनीसीपेलटीत, ख्यातां सतीं भारत-भाग्य-देवीम् ।
सर्वं वयं नम्रविनीत-शीर्षाः पुनः पुनः पौरजना नमामः ॥

पं० ईश्वरी प्रसाद जी के 'चना-चबेना' से दो चार श्लोक और दिये जाते हैं:—

भार्य्या यस्य बलं तस्य, तस्य बुद्धिर्वलीयसी ।
भार्य्या यस्य गृहे नास्ति, मरणं तस्य वै ध्रुवम् ॥
भार्य्या ही सुखदा लोके, मुक्तिदा परणात्परम् ।
शुभदा सौख्यदा भार्य्या, मुक्ति-भुक्तिप्रदायिनीम् ॥

अतिशयता भी हास्य का कारण होती है। क्योंकि उसमें भी एक प्रकार की साधारणता से विलक्षणता है। एक सूम के वर्णन में कहा जाता है कि देने के नाम से वह इतना डरता था कि 'दकार' से आरम्भ होने वाले शब्दों का उच्चारण न कर उनके परियायवाची शब्दों का व्यवहार करता था।

देवता को सूर औ असुर कहै दानव को,
दाई को सुधाय दार पैतियै लहत है।
दर्पन को आरसी त्यों दाख को मुनक्का कहै,
दास को खवास आमखास जिचरत है ॥
देवी को भवानी और देहरा को मठ सदा,
याही बिधि घासीराम रीति आचरत है।
दाना को चबेना दीपमाला को चिराक जाल,
देवे के डरन कबौ ददा ना कहत है ॥

हास्य रस का स्थायी भाव 'हास' आलम्बन हास्य-पद-पदार्थ,

उद्दीपन आकृति, भेष एवं भाषा इत्यादि, आलस्य, अवहित्था औत्सुक्यादि संचारी भाव हैं।

"श्रम चापल अवहित्थ अरु, निन्दा स्वप्न ग्लानि।
संका सूया हास्य रस, संचारी ये जानि॥

नेत्रों को मूँदना, मुस्कराना तथा हँसना आदि अनुभाव हैं। यद्यपि हास्य के आलम्बन और उद्दीपन में हास्यास्पद पदार्थ तथा भाषा भेष की विकृति ही माने गए हैं तथापि इनकी संख्या एवं व्याख्या अनुभव से बढ़ाई जा सकती है। हास्य के कारण अलग अधिकरण में दिये गए हैं, वही हास्य के विभाव समझे जायँगे।

इसका वर्ण श्वेत और इसके देवता प्रमथ हैं। प्रमथाधीश के शीश पर ही एक कवि ने बड़ी सफाई से हाथ फेरा है। देखिये कैसी उत्कट उक्ति है :—

"स्वयं पञ्चमुखः पुत्रौ गजाननषडाननौ।
दिगम्बरः कथं जिवेदन्नपूर्णा न चेद्गृहम्॥

इसी प्रकार प्रमथेश्वर से अनेकानेक स्थानों में कवियों ने बेतरह हँसी-मज़ाक किया है। कदाचित् यह उनके सीधेपन के कारण हो। बेचारे सीधे साधे भक्त-शिरोमणि गोस्वामी जी भी तो महादेव जी की वार्ता का वर्णन करते हुए उनकी हँसी उड़ाते हैं :—

बर अनुहारि बरात न भाई।
हँसी करै हो पर पुर जाई॥

हँसना कई प्रकार का माना गया है। मृदु-हास्य, सुख-हास्य,

स्मित-हास्य, उट्ट-हास्य, इत्यादि। वैष्णवाचार्यों ने छः प्रकार की हास्य रति मानी हैं। देखिये :—

उत्तम मध्य कनिष्ट में, क्रम ते दुइ दुइ देखु।
सुस्मितादि षटधा प्रकट, हास्य रती उवलेखु॥
सुस्मित हसित विहसित तथा, है अधहसित तुरीय।
अपहसित अति हासित पुनि, ये षट विधि वरनीय॥
गंड नासिका विकशित जामें, दन्त अलक्ष्य रहावैं।
सोई सुस्मित हासरती है, उत्तम में दरसावैं॥
किंचित दंतहु देखि परै अनु, गंड घ्रान विकसावैं।
कहिये हसित हास रति खासी, श्रेष्ठ न बीच लखावैं॥
मस्वन दशन प्रकट बढ़ि जामे, पूरबवत सब अंगा।
मध्यम में विहसित या होती, हास रती दुःख भंगा॥
नैन सकोच फूलिगो नासा, अधिक भये यहि रंगा।
सो अब हसित मध्य में होती, हास रती मन चंगा॥
नैनन नीर कंध कम्पित हुई, अधिक पूर्व की हासी।
सो अपहसित होत नीचन में, हास-रती सुखरासी॥
हस्त ताल दै गिरत धरनि में, पूर्व समान विभासी।
सो अतिहसित हास रति प्रकटै, नीचन में लखु बासी॥

हास्य में भी इसी प्रकार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट श्रेणियाँ होती हैं। हास्य वही उत्तम होता है जिस में किसी को हानि न पहुँचे। हानि न पहुँचने में ही हास्य का जीवन है। हानि जहाँ उचित मात्रा से बाहर हुई वहाँ हास्य करुणा में परिणत हो जाता है। इसी लिये लोग प्रायः ऐसे हास्य को अधिक पसन्द करते हैं जिसमें केवल शब्दों की ही लौट-फेर हो, किसी की भलाई-बुराई न हो। अंग्रेजी में ह्यूमर (Humour)

तथा विट (wit) में अन्तर रक्खा गया है। दोनों ही हास्य हैं। पहिले का तो किसी वस्तु के विकृत रूप या किसी स्थिति की विशेषता से सम्बन्ध है और दूसरे का सम्बन्ध है वाक्य-चातुर्य्य और शाब्दिक चमत्कारों से। सरल नाटक माला में 'हाँ में हाँ' नाम का एक छोटा प्रहसन है। उसमें 'हाँ में हाँ' मिलाने वालों की खासी हँसी उड़ाई गई है। एक ही साथ विपरीत बातों की पुष्टि की जाती है। उदाहरण लीजियेः—

राम—मैं बाजार में लौकी लेकर बढ़ा ही था कि एक म्यूनिसिपलिटी का चपरासी आ गया और एक लौकी टेक्स में माँगने लगा।

जोक—वह तो माँगेगा ही, जरूर माँगेगा, सरकारी नौकर है। उसे टेक्स लेने की आज्ञा है। वह तो ज़रूर माँगेगा।

राम—भाई, हम ने तो लौकी न दी।

जोक—बिलकुल ठीक किया। तुमने इतनी मिहनत से वह झाड़ लगाथा, तीन लौकी मुश्किल से उसमें फलीं। अगर तुम ने एक दे दी तो तुम्हारे पास बचा ही क्या ?

राम—जब मैंने लौकी न देनी चाही, तब वह मुझसे एक लौकी छुड़ाने लगा।

जोक—वह तो छुड़ावेगा ही ! वह हुआ टेक्स कलेक्टर !! तुमने उसे टेक्स न दिया, तो वह छुड़ावेगा ही।

इस प्रकार के हास्य को अंग्रेजी में ह्यूमर कहेंगे। ठोक-पीट कर वैद्यराज, मार मार कर हक़ीम, मूर्खता मञ्जरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति इत्यादि ग्रन्थों में ऐसे हास्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। पं० ईश्वरी प्रसाद जी का वर्षा-वर्णन जो

पीछे दे आए हैं अच्छी विट् (wit) का उदाहरण है। एक और उदाहरण लीजिये।

"एक बहुत मोटा मनुष्य था। उसकी मोटी अकल थी। एक उनके मित्र ने उनसे कहा कि 'आकारसदृशप्रज्ञः' जो महाकवि कालिदास ने महाराजा दिलीप के लिये कहा था, आपके लिये चरितार्थ होता है" इसमें हास्य यही था कि महाराजा दिलीप के लिये तो यह वाक्य इस अर्थ में आया था कि जैसा उनका विशाल शरीर था, वैसी ही उनकी विशाल बुद्धि थी और प्रस्तुत सम्बन्ध में शरीर के मोटेपन और समझ के मोटेपन का तादृश्य बतलाया। महाराज दिलीप की समानता दे दी और उसकी अकल को मोटी भी बता चुका।

एक भले आदमी रात भर ताश खेला करते थे। उनके मित्र ने उनसे कहा कि ऐसा क्यों करते हो ? उन्होंने कहा—

"या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी"

इसी प्रकार एक विद्यार्थी परीक्षा के लिये रात में बहुत देर तक पढ़ रहा था। उसको अविरत परिश्रम करते हुए देख एक सहृदय सज्जन ने कहा "या खुदा ! इमतहान में मत डाल" यह बाइबिल (Bible) के एक वाक्य "Lead us not unto temptation" का अनुवाद है। Temptation का उर्दू अनुवाद इम्तहान किया गया है किन्तु इम्तहान से विद्यार्थी की परीक्षा का अभिप्राय नहीं है वरन् उस लालच से मतलब है जिसमें कि पड़कर हम दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं।

ऐसा हास्य सुरुचि का परिचय देता है। केवल दूसरों की बुराई अथवा अश्लीलता में ही हँसी नहीं है। यद्यपि हास्य के

लिये कोई नियम देना बहुत कठिन है तथापि नीचे की बातों पर ध्यान रक्खा जावे तो हमारे हास्य में उत्तमता आ जावेगी ।

(१) हास्य ऐसा होना चाहिये जिससे कि किसीके गौरव की हानि न हो और न किसीके भावों को आघात पहुँचे । भक्त-समाज में देवताओं की हँसी उड़ाना सुरुचि का परिचय न देगा। तुलसीदास जी ने जो महादेव जी की हँसी की है वह विष्णु भगवान के मुँह से कराई है, स्वयं नहीं की है और वह भी बड़ी दुष्टता के साथ ।

(२) हास्य न तो ऐसा प्रकट हो जिसमें अकल का ज़रा भी काम न पड़े, और न ऐसा गूढ़ हो कि उसके समझने में सर दर्द की नौबत आ जावे ।

(३) हास्य जहाँ तक हो छोटे शब्दों में हो ।

(४) हास्य बुरे उद्देश्य से न होना चाहिये। कुछ उद्देश न हो तो अच्छा है ।

(५) हास्य अपने ऊपर हो तो अच्छा है। जहाँ पर दूसरों के साथ अपने को भी लपेट लिया जाता है वहाँ पर हास्य की तीव्रता जाती रहती है ।

(६) हास्य जहाँ तक साहित्यिक हो वहाँ तक अच्छा है ।

(७) जो हास्य कई बार कहा जा चुका है उसमें कोई आनन्द नहीं । हास्य के लिये नई बात चाहिये ।

(८) ज़रा सी बात पर न हँसना चाहिये। "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का नियम यहाँ पर भी लागू होता है ।

किसी पुराने कवि ने मसखरे का अच्छा वर्णन किया है। उसमें अच्छे हास्य के बहुत से गुण आ जाते हैं ।

व्यङ्ग ललित बोलत बचन, रसन हसन के दाव ।
जह जैसो कह चाहिये, तहँ तैसो ही भाव ॥

× × ×

ता हित जो बोलतु है अन्तर की कौन लहै,
बातन ते बात छानि बात ही में ठानी है ।
नाहिन हँसत मुसकात है न तारी देत,
बोलत विचार आना घात वैसो बानी है ॥
चातुर के चित तो सुनत ही करत पार
और तो सुनत है पै काहू नहीं जानी है ।
काहू ने कहो न होय ऐसो टोक लावतु है,
अब ही अछूती मानो अम्बर ते आनी है ॥

पाँचवाँ अध्याय

करुण रस

"विनठे ईठ अनीठ सुनि, मन में उपजत सोग।
आसा छूटे, चार विधि, करुण बखानत लोग॥"

विनाश होने पर अथवा इष्ट का अनिष्ट होने पर शोक का उदय होता है और आशा छूट जाती है, इसको चार प्रकार का बतलाते हैं। करुण रस में आशा का छूटना ही मुख्य है। जैसी ही निराशा की मात्रा अधिक होती है वैसी ही करुण की मात्रा अधिक होती है। यह चार प्रकार इस भाँति बतलाए गये हैं।

करुन अति–करुन औ महा–करुन लघु-करुन हेतु।
एक कहत हैं पाँच यो, दुःख में सुखहिं समेतु॥

करुण, अतिकरुण, एवं महाकरुण इनमे तो उत्तरोत्तर करुणा की मात्रा बढ़ती ही जाती है और लघु करुण में कुछ घट जाती है। वह केवल चिन्ता का रूप धारण कर लेती है। अनिष्ट का नाम रहता है, किन्तु आशा नहीं छूटती। चित्त दुविधा में रहता है। अनिष्ट निवारण का पूरी तरह से यत्न होता रहता है। सुख-करुण वह करुण है जो हर्ष में बदलने वाला हो किन्तु वहाँ पिछले वियोगजन्य करुण का प्रबल आवेग हर्ष को प्रभावित कर, मनुष्य को रुला देता है। हर्ष के आँसू इसी प्रकार के होते हैं।

साधारण करुण का इस प्रकार उदाहरण दिया गया है। इसमें चित्त दिखाई पड़ने लगता है। मन की दुखमयी वृत्ति संसार को शोक के रंग में रंग देती है। उत्साह एवं हर्ष में वही वस्तु अच्छी लगती है और शोक में वही वस्तु बुरी लगती है।

बेई शशि सूरज उवत निसि द्योस वही,
नखत समूह झलकत नभ न्यारो सो।
बेई "देव" दीपक समीप धरि देखे वही,
दून्यो करि देख्यो चैत पून्यो की उजियारो सो॥
बेई बन बागन विलोके सीस महल कनक-
मनि मोती कछू लागत न प्यारो सो।
वाही चन्द-मुखी की सुमंद मुसक्यान बिनु,
जानि पर्यो सब जग हाय अँधियारो सो॥

अब अति करुण का उदाहरण लीजिये:—

कालिया काल महा विकराल जहाँ जल ज्वाल जरै रजनी दिनु।
ऊरध के अधके उबरै नहिं जाकी बयारि बरै तरु ज्यों तिनु॥
ता फन को फन फासिन में फंदि जाय फँसे उकसे न कहू छिनु।
हा! ब्रजनाथ सनाथ करौ हम होती हैं नाथ, अनाथ तुम्है बिन॥

इसमें भयानक के साथ करुण मिला हुआ है। इसमें अनिष्ट होने की आशंका प्रबल है। उसके निवारण के लिए प्रार्थना है। भयानक का आधिक्य होने से जब कोई वश नहीं रहता तब प्रार्थना ही में सहारा लेना पड़ता है।

महा करुण का उदाहरण:—

हास तुलास हिए के लिए सु निरास उसास हमै दिए दोये।
'देव' लुन्यो सुख रूपन को बनु यामन में विष बीजु सो बोए॥

प्यास निगोड़ी रही गड़ि नैनन उज्जल सों निचुरै नित कोए।
आपुनो जागिबो सौंपि हमै अब नींद हमारी यों लै सुख सोए॥

क्या ही करुणामय विनिमय है! हास हुलास के बदले निराश और उल्लास, वृक्षों के सुख के स्थान में विष के बीज और निद्रा के स्थान में जागना हमको दे गये।

लघुकरुण का उदाहरण:—

तीर धस्यो जुग-हीर-गुहा गिरि धीर धस्यो सुअधीर महा है।
पूछत पीर भरे दृग नीर सु एकै समीर करै औ सराहै॥
एकै अँगोछती चीर लै लै तिय छीर लै लै छिरकै करि छाहै।
भेंटत भीर अहीरन की बर बीर जकी बर बीर की बाँहै॥

धस्यो निरन्तर सात दिन, गिरि पर गिरिधर लाल।
अज्यों हिये में धक् धकी, थकी न भुज केहुँ काल।

सुख करुण का उदाहरण:—

भाग की भूमि सुहाग को भूषन राज सिरी निधि लाज निवासू।
आइए मेरो दुहू कुल दीपक धन्य पतिवृत प्रेम प्रकासू॥
लंक ते आइ निसंक लिये सुख सर्वसु वारति कौसिला सासू।
पायन पै ते उठाई सियै हिय लाय बुलाय लै पोंछति आँसू॥

इसमें करुण का अन्त हो चुका है सुख का उदय हो गया है किन्तु जिस प्रकार एक अधिकारी के जाने पर जब दूसरा अधिकारी आता है तो कुछ काल तक लोग पिछले ही अधिकारी के गुण गाया करते हैं। इसी प्रकार दुःख के अन्त होने पर उसका प्रभाव मन पर रहता है। यह हर्ष में मिलकर हर्ष को कम नहीं करता बरन बढ़ा ही देता है। करुण में परिवर्तन होता है वह इष्ट वस्तु के अनिष्ट होने का। हास्य के परिवर्तन में इष्ट अनिष्ट का

विचार नहीं होता। करुण रस में तो इष्ट का अनिष्ट हो जाने से एक साथ चित्त हानि की ओर आकर्षित हो जाता है और मनुष्य हानि को नाना रूप में विचारने लगता है। यह रस भी बड़ा उत्तम रस है। यह निर्मल नवनीत सा सुस्निग्ध, सुष्ठु, सरस एवं दिव्य पदार्थ है। इसके द्वारा मानव-हृदय के उत्तमोत्तम सुकोमल भावों का उदय होता है। यह रस मानव हृदय में शुद्धता, सहानुभूति तथा सहृदयता की त्रिवेणी तरंगित करा देता है। जिसके हृदय-तल को यह त्रिवेणी परिप्लावित करती है उसका प्रेम-पुलकित गात्र मधुर शीतल और अमल अलौकिक अश्रु की पवित्र धारा से अभिषिक्त होता है। करुण कल्लोलिनी में देखते ही देखते बेढब बाढ़ आ जाती है और चारों ओर करुण का सागर उमड़ जाता है। करुण रस की तीव्रता भी बहुत है। कविता आदि का भी इसी रस में हुआ है। श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य ने कहा है:—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्नकृत दूसर—श्लोक का पद्यानुवादः—

रति विलास की चाह सों, मद माती सानन्द।
क्रौंचन को जोड़ी फिरत, विहरत जो स्वच्छन्द॥
हनि तिन में सों एक कों, कियो परम अपराध।
जुग जुग लों तोहि न मिलहि, कबहुँ बड़ाई व्याध॥

महाकवि भवभूति ने करुण रस को ही सब रसों का मूल माना है:—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा—
द्भिन्नः प्रथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

स्वर्गीय पं० सत्यनारायणजी कृत पद्यानुवाद:—

एक करुण ही मुख्य रस, निमित भेद सों सोई।
पृथक पृथक परिणाम में, भासत बहु बिधि होई॥
बुद्बुद भँवर तरंग जिमि, होत प्रतीत अनेक।
पै यथार्थ में सबनि को, होत रूप जल एक॥

कदाचित् इसीलिये भवभूति ने करुण रस को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है इनके करुण रस से "ग्रावा रोदति दलति वज्रस्य हृदयं!"

शोक इस रस का स्थायी भाव है। आलम्बन शोकजनक पदार्थ या बन्धुनाशादि, उद्दीपन प्रिय का शव-दाह, उसकी प्रिय वस्तुओं के दर्शन उसके गुण श्रवणादि। [1]निर्वेद, मोह [2]अपस्मार,

---

(१) विशेष ज्ञान होने से सांसारिक विषयों में निन्दा-बुद्धि उत्पन्न हुए मनोविकारों को निर्वेद कहते हैं—विपत्ति, ईर्षा, ज्ञानादि से स्वशरीर अथवा सांसारिक पदार्थों के तिरस्कार को निर्वेद संचारी कहते हैं। रस-कुसुमाकरे—

(२) किसी कारण से कम्पादि होकर पृथ्वी पर गिर पड़ने और मुख से फेन आने को अपस्मार कहते हैं—रसकुसुमाकरे—

ग्लानि, व्याधि इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। भाग्य-निन्दा, भूमिपतन, रोदन, दीर्घ निःस्वास, भूमि-लिखन इत्यादि अनुभाव हैं।

इसके उदाहरण रामायण में बहुत हैं। एक आध जो मर्म-स्थलभेदी हैं यहाँ देखिये:—

राम चले बन प्राण न जाहीं।
केहि सुख लागि रहत तन माहीं॥

दशरथ जी वारिविहीन मीन से तलफते हुए कहते हैं, श्री रामचन्द्रजी को, प्राण से तुलना करते हैं। फिर भी आश्चर्य मानते हैं कि राम चले गए, प्राण क्यों नहीं गये? 'राम चले बन!' न जाने प्राण अब किसकी आशा में लटके हैं। इष्ट का अनिष्ट हो गया है तब तो फिर संसार में सुख ही क्या रहा। (हाय प्राणप्यारे! रघुनन्द दुलारे! तुम बन को सिधारे प्रान तन लै रहोई मैं!) यह शोक की अत्यन्तावस्था है।

श्री सीता जी का हरण तो करुणा-रसपरिपूर्ण है हो किन्तु लक्ष्मण जी की शक्ति के आघात से मूर्छित होने के समय रामचन्द्र जी का दारुण दुस्सह विलाप बड़ा ही हृदय-द्रावक हुआ है। देखिये:—

सौमित्र! तुम सब काम में मुझ से सदा पीछे रहे,
मेरे लिये क्या क्या न तुमने हृद्विदारक दुःख सहे।
पर अग्रगामी आज क्यों बनने लगे हो बोल दो,
देखो तनिक मेरी दशा को शीघ्र आँखें खोल दो॥

पं० रामचरित जी उपाध्याय—

देखिये गोस्वामीजी कैसे मर्मभेदी शब्दों में श्रीरामचन्द्रजी से कहलाते हैं:—

यथा पंथ बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिवर कर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोही। जो जड़ दैव जिवावै मोही॥
जैहों अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि विसेष छति नाहीं॥
अब अवलोकु सोक सुत तोरा। सहहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम प्रान अधारा॥
सोंपेसि मोंहि तुम्हहिं गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतर काह दैहों तेहि जाई। उठि किन मोंहि सिखावहु भाई॥
बहु विधि सोचत सोच विमोचन। स्रवत सलिल राजिवदल लोचन॥

ठीक ही है, एक कवि कहते हैं कि "देशे देशे कलत्राणि, देशे देशे च बान्धवः। तं देशं नैव पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः"

सुमन्त और अज्ञानी घोड़ों की दशा का चित्र देखिये:—

राम राम सिय लषन पुकारी। परेउ धरनितल व्याकुल भारी॥

+ + +

देखि दखिन दिशि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख विहंग अकुलाहीं॥

+ × ×

नहिं तृण चरहिं न पियहि जल, मोचहिं लोचन वारि॥

बस, स्वाभाविकता की हद हो गई। हृदय को पानी पानी करने वाले भावों की प्रबलता बिलकुल पराकाष्ठा को पहुँच गई!

रघुवंश महा काव्य के अष्टं सर्ग में कुसुम कोमल आघात से सुकुमारांगी इन्दुमती का देहावसान होने पर महा कविने बड़े ओजस्वी शब्दों में अज का विह्वलता पूर्ण विलाप वर्णन किया है। उसमें करुण रस की तरंगिता नदी बे तरह उमड़ चली है। देखिए:—

स्रगियं यदि जीविता पहा हृदये किंनिहिता न हन्ति माम।
विषमप्य मृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥
शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्व चरं पतत्रिणाम्।
इति नौ विरहान्तर क्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः॥

अर्थात्, यदि यह माला (जिसके गिरने से इन्दु मती का प्राणान्त हुआ था प्राण की हरण करने वाली है तो हृदय पर रखी हुई मुझे क्यों नहीं मार डालती। सच है ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष का काम देता है। रात्रि का चन्द्रमा से मिलन फिर भी हो जाता है, चकवे को चकई फिर भी मिल जाती है। इस लिए वह किसी न किसी भाँति वियोग को सह लेते हैं किन्तु तेरा यह सदा के लिए वियोग मेरी देह को क्यों न जलावेगा! अपनी शोकावस्था का अज महाराज इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

धृतिरस्ति मिता रतिश्च्युताविरतं गेयमृतुर्निरूत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजन परिशन्यं शयनीयमद्य मे॥

अर्थात्—आज मेरा धैर्य्य नष्ट हो गया, हास-विलास का अंत हो गया, गाना शेष हो गया, ऋतु उत्सवहीन हो गई। गहने का प्रयोजन नहीं रहा, शैय्या सूनी हो गई।

क्या "स्रगि यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्" यह पद्य-खंड हिमालय को हिलाने—बल्कि पिघलाने वाला नहीं है? "नव-पल्लव संस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्। तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामारुचिताधिरोहणम्। अस्याः कुसुमशैयापि कोमलांग्या रुजाकारी। साधिशेते कथं देवो

ज्वलन्ती मधुनाचितम् ॥" यह श्लोक वास्तव में करुणा-कल्प-लतिका का जीवन प्राण है ।

इसी से मिलता-जुलता भाव सत्य हरिश्चन्द्र में मिलता है । शैव्या रोहिताश्व को चिता पर रखते हुए कहती है ।—"हाय ! जिन हाथों से मीठी मीठी थपकियाँ दे कर रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज इस धधकती चिता पर कैसे रक्खूँगी ! जिसके कोमल मुख में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे हाय !......"

ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं वह प्रायः मरणजन्य वियोग के सम्बन्ध में हैं साधारण वियोग, जहाँ पर मिलन की आशा नहीं रहती करुणात्मक हो जाता है, धैर्य्य जाता रहता है और चित्त शोक से पूर्ण हो जाता है । श्रीकृष्णचन्द्र के मथुरा गमन करने पर श्री राधिकाजी विलाप करते हुए प्रातःकालीन पवन से इस प्रकार कहती हैं :—

प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती ।
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से ॥

कालिन्दी के कल-पुलिन में घूमती सिक्त होती ।
प्यारे प्यारे कुसुम चय को चूमती गंध लेती ॥

तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को ।
हा ! पापिष्ठे फिर किस लिए ताप देती मुझे है ॥

क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है ।
तू है मेरी चिर परिचिता तू हमारी प्रिया है ॥

मेरी बातें सुन मत सता छोड़ दे वामता को ।
पीड़ा खोके प्रणत जन की पुण्य होता बड़ा है ॥

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नैन वाले।
जाके आए न मधुवन से औ न भेजा संदेसा॥
मैं रो रो के प्रिय-विरह से बावली हो रही हूँ।
जाके मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुना दे॥
जो ऐसा तू नहिं कर सकै तो क्रिया चातुरी से।
जाके रोने विकल बनने आदि ही को दिखा दे॥
चाहे लादे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी।
हा हा मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे॥

सीताहरण के पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी ने शून्य पर्णकुटी को देख कर इस प्रकार विलाप किया है :—

राज्यभ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान्परिधावतः।
क्व सा दुःख सहाया मे वैदेही तनु मध्यमा॥
यां बिना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम्।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता सुरसुतोपमा॥

× × × × × ×

वृक्षों को देखकर श्रीरामचन्द्रजी उनसे सीता का शोध लगाने का प्रयत्न करते हैं:—

अस्ति कच्चित्त्वया द्रष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम्॥
स्निग्धपल्लवसंकाशां पीतकौशेयवासिनीम्।
शंसस्व यदि सा द्रष्टा विल्वविल्वोपमस्तनी॥

गो० तुलसीदासजी ने सीताहरण के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी के विलाप का इस प्रकार वर्णन किया है:—

आश्रम देखि जानकी हीना, भए विकल जस प्राकृत दीना।
हा गुनखानि जानकी सीता, रूप सील व्रत नेम पुनीता॥

लछिमन समुझाए बहु भाँती, पूँछत चले लता तरु पाती।
हे खगमृग हे मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन, शुक, कपोत, मृग मीना, मधुप निकर कोकिला प्रवीना।
× × × × × ×
सुनु जानकी तोहि बिन आजू, हरषे सकल पाय जनु राजू।
किमि सहि जात अनप तोहि पाँही, प्रिया वेगि प्रगटसि कस नाही॥

शकुन्तला की बिदा का भी बड़ा ही करुणा जनक दृश्य है:-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषया,
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहे न या पल्लवम्।
आदौ वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं पाति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

जब शकुन्तला का आश्रम से इतना प्रेम था तभी तो महात्मा कण्व सांसारिक लोगों की भाँति कहते हैं:—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
अंतर्वाष्पभरोपरोधि गदितं चिन्ताजडं दर्शनम्॥
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेषदुःखैर्नवैः?

इस रस का रंग कपोत सा चित्रित (चितकबरा) होता है। देवता इसके वरुण हैं। तभी तो करुण रस में रोना ही रोना और जल ही जल है।

सजल नयन बिलखत बदन, पुनि पुनि कहत कृपाल।
जोवति उठति जरात दल, सोवत लछिमन लाल॥ भिखारी दास

दुःखान्त नाटकों में करुण रस का अधिक विस्तार पाया जाता है। यद्यपि भारतवर्ष की नाटयकला के अनुकूल कोई

नाटक दुःखान्त नहीं होता तथापि उनमें से कुछ दुःखान्त नहीं तो दुखमय अवश्य होते हैं। भवभूति की रचनाओं में करुण-रस पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया है। उनके उत्तर-रामचरित में करुणा की मात्रा अधिक है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि करुण रस को लोग क्यों पसन्द करते हैं ? दुःख सर्वथा हानि-कारक नहीं होता। दुःख से हमारी आत्मा शुद्ध एवं परिमार्जित हो जाती है। सुख और हास्य-विनोद में मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है। दुःख ही मनुष्य को कर्तव्य का स्मरण दिलाता है। लोगों ने कहा भी है कि जैसी श्मशान में बुद्धि होती है वैसी ही यदि मनुष्य की बुद्धि सदा बनी रहे तो स्वर्ग उससे दूर न रहे। सदा के लिये वैसी बुद्धि मनुष्य के लिये स्वास्थ्यकर न होगी, किन्तु कभी-कभी बिना किसी के मरे ही वैसी बुद्धि का हो जाना वाञ्छनीय है। वास्तव में दुःख हम को तभी होता है जब कि हम किसी योग्य व्यक्ति को कष्ट सहते हुए देखते हैं। जब हम सत्यव्रत हरिश्चन्द्र अथवा प्राण से भी प्रण को अधिक महत्ता देने वाले चक्रवर्ती महाराजा दशरथ को दुःख से व्याकुल होते देखते हैं, तब हमारे चित्त में भारी उद्वेग उत्पन्न होता है। कष्ट सहने वाले की जितनी ही महत्ता होती है उसीके अनुकूल हमारे दुःख का आधिक्य होता है। उत्तर-रामचरित में करुण की मात्रा इसी कारण से पराकाष्ठा को पहुँच जाती है कि वियोग-जन्य दुःख के सहने वाले एक ओर मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी हैं और दूसरी ओर सती सीता महारानी जिनके लिये अग्निपरीक्षा करना भी एक प्रकार का अपमान था। देखिये:—

अति पुनीत सिया निज जन्म सों, तेहि भला पुनि पावन को करै।
लहि सकै कहुँ अन्य पदार्थ सों, अनल तीरथ तोय विशुद्धता॥

उत्तर राम०

जब इस प्रश्न पर आते हैं कि हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यसंध महान पुरुषों को असह्य कष्ट क्यों सहने पड़े अथवा श्रीरामचन्द्र जी को राजसिंहासन छोड़ वन-वन में भ्रमण क्यों करना पड़ा तब हमारी बुद्धि चक्कर खाने लगती है और हम नाना भाँति की कल्पनाओं में शरण लेते हैं; कहीं तो हम अन्ध-काल-चक्र की कल्पना करने लगते हैं और कहीं आवागमन की शरण लेते हैं। हैगिल (Hegel) का वचन है "सत्य पुरुषों को कष्ट इसलिए नहीं होता कि वह सत्य का अनुसरण कर रहे हैं वरन् यह कि वह सत्य के एक अंश का ही अनुसरण करते हैं। सत्य के दूसरे अंश की उपेक्षा करना दुःख में ले जाकर अपनी आवश्यकता को सिद्ध कर देता है।" हैगल के मत से महाराज दशरथ के दुःख की व्याख्या की जावे तो यह कहना होगा कि उनको इस लिये दुःख हुआ कि उन्होंने केवल अपने व्रत पालन करने की परवाह की। उन्होंने इस बात का विचार न किया कि श्रीरामचन्द्रजी के राज-तिलक होने से प्रजा को कितना लाभ होता। इतने से भी यदि संतोष न हुआ तो सत्य की परीक्षा का सहारा लेने लगते हैं। बाइबिल में भी जोब की कथा हरिश्चन्द्र की सी है। उसकी भक्ति की परीक्षा के निमित्त उसको नाना प्रकार के कष्ट दिये गये थे। उसको धन, माल, असबाब, बच्चों तथा सभी से वञ्चित कर दिया था। ऐसी अवस्था में भी वह ईश्वरभक्त बना रहा। यह सब कल्पनाएँ इस बात की द्योतक

हैं कि हम लोग ऐसे सच्चरित्र पुरुषों को दुःख में नहीं देख सकते। हम ईश्वरीय न्याय पर विश्वास रखते हैं। संसार में जो कुछ होता है वह भले के लिये होता है। अन्याय और अकारण दुःख से हमारे चित्त में अशान्ति होती है और विना उसकी व्याख्या किये चित्त स्थिर नहीं होता। इसी लिये हमारे यहाँ के नाटककारों ने नाटकों को सुखान्त बनाने का नियम रक्खा है। सुखान्त हो जाने से पूर्वानुभूत दुःख की व्याख्या निकल आती है एवं चित्त को शान्ति हो जाती है। दुःख जितनी देर तक रहता है तब तक वह अपना आत्म-संशोधन-सम्बन्धी कार्य्य करता रहता है। जब हम देखते हैं कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी, पुण्यचरित्र पाण्डुपुत्रों, नल, हरिश्चन्द्रादि महान पुरुषों को कर्म के बन्धन में पड़कर दुःख सहना पड़ा है तो हमको कर्म की गहन और प्रबल गति का पूर्ण अनुभव होने लगता है और वह हमको कर्तव्यपरायणता की ओर ले जाता है यह बात अयोग्य एवं दुष्कर्मी लोगों के बुरे परिणाम से भी हो सकती है, किन्तु उसका इतना प्राबल्य नहीं होता जितना कि योग्य व्यक्तियों के दुःख सहने से। इसके अतिरिक्त उसमें हमारे प्रतिकार के भावों की तृप्ति होने के कारण वह हमको हमारे उद्दण्ड और तामस भावों को उत्तेजित कर देता है, जिसका कि प्रभाव हमारी आत्मा पर बुरा पड़ता है। अच्छे को दुःख सहते हुए देखकर हमारे मन में मनुष्य जाति के प्रति गौरव के भाव उदय होते हैं। हमको मनुष्य की अलौकिक शक्ति तथा सम्भावनाओं का परिचय मिलने लगता है। सत्यव्रत-हरिश्चन्द्र अपने प्रिय रोहिताश्व के मरणजन्य शोक-शल्य से मर्माहत होने पर

भी अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ते। अपने प्रिय पुत्र के शव-दाह सम्बन्धी श्मशान कर स्वरूप अपनी प्राणप्रिया के चीर का अर्ध भाग स्वीकार करना सहनशीलता की पराकाष्ठा को पहुँचा देता है।

सीताजी का परित्याग हो जाने पर धैर्य न छोड़ना और श्री रामचन्द्रजी को दोष न देकर अपना ही दोष बतलाना और फिर भी यह कहना कि अगले जन्म में भी श्रीरामचन्द्रजी उनको प्राप्त हों, उनके हृदय का अगाध प्रेम, पति-व्रत-धर्म-पालन एवं सहन-शीलता का परिचय देता है। देखिये:—

कल्याण बुद्धैरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाक विस्फूर्ज पुर प्रसह्यः॥
साहं तपः सूर्य विनिष्टदृष्टिरुर्ध्वं प्रसूतश्चरितुं यतिष्ये।
भूमो यथा मे जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

अर्थात् मुझे इस बात की शंका भी न करनी चाहिये कि आपने मेरा परित्याग अपनी इच्छा से किया है। यह तो मेरे ही पूर्व-जन्मों के किये हुए पापों का दुष्परिणाम है। प्रसूति से निवृत्त होने पर सूर्य की ओर दृष्टि लगा कर तप करने का यत्न करूँगी जिससे फिर भी आप मेरे भर्ता हों और वियोग न हो।

कष्ट में धैर्य रखना एक दैवी गुण है जिसके आगे सारे संसार को आदर से नत मस्तक होना पड़ता है। सीताजी का परित्याग-जन्य दुःख ऐसे अलौकिक भावों की दीप्ति को और भी बढ़ा देता है। वह दुःख हमारे शोक का कारण नहीं होता वरन् हमारी प्रशंसा का उत्तेजक होता है। ऐसे चरित्र देखकर हमारा हृदय उत्साह एवं गौरव से पूर्ण हो जाता है। अलौकिक शक्तियों के साथ युद्ध में मनुष्य को विजय पाते देख हम हर्षान्वित हो जाते

हैं। ऐसी परिस्थिति में ही शोक में हर्ष का उदय हो जाता है। यह भाव दुष्टों के दुष्परिणाम में नहीं होता। जो वास्तव में दुष्ट नहीं हैं, किन्तु अपनी अनधिकार चेष्टा के कारण थोड़ा बहुत दुःख उठाते हैं उनके देखने से हमारे मन में हास्य की जागृति हो जाती है। विदूषकों के कुटने-पिटने पर कोई आँसू नहीं बहाता। इसका कारण यह है कि न तो उस कुटने-पिटने को ही महत्व दिया जाता है और न पिटने वाले को। यदि उतनी ही मार किसी बड़े आदमी पर पड़े तो वह मार करुण का विषय हो जाती है। योग्य व्यक्ति का ही दुःख करुण का उत्पादक होता है।

छठा अध्याय

रौद्र-रस

बिच असाधु अपराध करि, उपजावत जिय क्रोध।
होत क्रोध बढ़ि रौद्र रस, जहँ बहु बाद विरोध॥

रौद्र का स्थाई भाव क्रोध है। कोई कार्य्य अपनी इच्छा अथवा अपने मन के विरुद्ध होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। शोक और क्रोध दोनों में ही इच्छा के विरुद्ध कार्य्य होता है—इष्ट का अनिष्ट हो जाता है; किन्तु अन्तर इतना ही है कि शोक में अनिष्ट का कारण ऐसा माना जाता है जिस पर अपना वश वा अधिकार नहीं, चाहे वह शक्ति प्राकृतिक हो अथवा दैवी। क्रोध में अनिष्ट का कर्ता अपने समान देह-धारी माना जाता है और उससे बदला लेने की सम्भावना रहती है। शोक में नैराश्य रहता है, पर क्रोध में नहीं। यह भेद दोनों के सञ्चारी भावों की ओर दृष्टिपात करने से मालूम हो जायगा।

करुण रोग दीनता स्मृति, ग्लानि चित्त निर्वेद।
चापल सूय उछाह रिस, रौद्र गर्व आखेद॥

करुणा में दीनता और ग्लानि प्रधान हैं और रौद्र में गर्व तथा रिस। गर्व एवं रिस के अतिरिक्त रौद्र में उछाह रहता है। उछाह रौद्र में सञ्चारी किन्तु वीर का स्थाई भाव है। यही रौद्र और वीर में भेद का कारण हो जाता है। गुस्से को बहुत निन्दनीय कहा गया है, किन्तु इसमें भी एक प्रकार की प्रसन्नता

लगी रहती है। भविष्य में बैरी के अनिष्ट कर सकने की निश्चित सम्भावना, चित्त को प्रसन्नता देती है। कोप कर लेने से मन हलका हो जाता है। जो लोग अपना क्रोध प्रकट करके कोप को निकाल नहीं देते उनको अधिक मानसिक पीड़ा होती है। 'क्रोध पाप कर मूल' कहा गया है, किन्तु क्रोध एक प्रकार से रक्षा के अर्थ एवं बुराई के नाश के लिये आवश्यक है। ऐसे ही क्रोध को सात्विक क्रोध कहते हैं। क्रोध में ख़राबी केवल इसी बात की है कि मनुष्य उसके वश, विचार, विवेचना तथा धर्म छोड़ बैठता है।

रौद्र रस के विभाव अनुभाव

रौद्र का आलम्बन वह वस्तु या पुरुष माना गया है जिस से किसी प्रकार का अनिष्ट, अपमान वा इच्छा का विरोध हुआ हो, ऐसे पुरुष को शत्रु कहते हैं। उसके वचन चेष्टादि, उसकी कारणता से नष्ट वा विकृत वस्तु सब उद्दीपन होवेंगे। परशुराम जी के क्रोध के लिये धनुष को तोड़ने वाला आलम्बन होगा और टूटा हुआ धनुष उद्दीपन होगा। क्रोध उसी पुरुष के विरुद्ध होगा जो या तो अपना कोई कार्य्य बिगाड़े या किसी इच्छा का विरोध करे, अथवा किसी प्रकार से हमारा अपमान करे अथवा हमारे सम्मानित पुरुषों वा सिद्धान्तों के प्रतिकूल कहे या करे। बहुत से शत्रु खास अपने शत्रु होते हैं और बहुत से अपने मित्रों के शत्रु अथवा शत्रुओं के मित्र होते हैं। जिस प्रकार बहुत से मनुष्य डरपोक प्रकृति के होते हैं वैसे ही बहुत से पुरुष जल्द ही क्रुद्ध हो जाने की प्रकृति रखते हैं। अरस्तू ने अपने अलङ्कार शास्त्र

(Rbetoric) में निम्न प्रकार के लोगों को शीघ्र क्रोध में आने वाला बतलाया है।

(१) वह लोग जो यह समझते हैं कि संसार में उनकी पूछ नहीं है।

(२) जो यह समझते हैं कि वह योग्य हैं और उपकृत होने के अधिकारी हैं।

(३) जो लोग कि विरोध, रुकावट, निस्सहाय होने को सहन नहीं कर सकते हैं।

इस कारण बीमार आदमी, गरीब आदमी, प्रेमी और साधारणतया वह सब लोग जिनको इच्छाओं की तृप्ति नहीं होती उन लोगों पर क्रोध प्रकट करते हैं जो उनकी अवस्था को देखते हुए भी उनकी कुछ मदद नहीं करते।

(४) जो लोग भले की आशा करते हों और बदले में बुरा मिले।

क्रोध प्रायः ऐसे लोगों के ऊपर आता है:—

(१) जो कि अपने साथ किसी प्रकार हँसी करते, वा हमको खिजावे वा चिढ़ाते हैं और हमारा किसी प्रकार का अपमान करते हैं अथवा जो लोग हमारी इष्ट वस्तुओं का पुरुषों वा सिद्धान्तों अथवा ऐसी वस्तुओं के प्रति जिनके लिये हमने बहुत सा समय लगाया हो, अपमान, अश्रद्धा वा तिरस्कार दिखलाते हैं।

(२) अपने मित्रों के प्रति—लोग अपने मित्रों के प्रति इस हेतु क्रोध करते हैं कि उनसे वह अधिक भलाई की आशा रखते हैं।

(३) जो लोग पेश्तर अर्थात् काम पड़ने पर आदर करते थे और अब नहीं करते ।

(४) जो हमारे उपकार या शिष्टाचार के बदले में अपकार वा अशिष्टाचार करते हैं ।

(५) जो हमारी चाल ढाल के विपरीत चलते हैं ।

(६) जो लोग हमारी आर्जू-मिन्नत को नहीं सुनते ।

(७) जो लोग हमारे दुःख तथा आपत्ति में सुखी एवं शान्त रहें ।

(८) जो हम को दुःख देकर स्वयं दुःखी न हों ।

(९) जो लोग जान बूझ कर हमारा अपमान देखते हैं ।

(१०) जो हमारे प्रतिद्वन्दियों, प्रेमास्पदों, एवं श्रद्धेय पुरुषों के सम्मुख हमारा तिरस्कार करें ।

(११) ऐसे लोग जिनसे सहायता की आशा हो और वह सहायता न करें ।

(१२) जो लोग कि ऐसे समय में जब कि हम गाम्भीर्य्य भाव धारण किये हों हम से हँसी करें ।

(१३) जो हम को भूल जाते हैं ।

यह बातें बहुत अनुभव से लिखी गई हैं । उपन्यास और नाटकों के लेखकों के लिये यह बात बहुत काम की हैं ।

साहित्य-दर्पण में रौद्र रस के अनुभाव और व्यभिचारी भाव इस प्रकार गिनाए गये हैं ।

भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्दंशं　　वाहुस्फोटनतर्जनाः ।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि　　च ॥

उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथयो मदः ।
अनुभावस्तथा क्षेप क्रूरसंदर्शनादयः ॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावाःस्युर्व्यभिचारिणः ।

अर्थात् भौंहें चढ़ाना, ओठ चबाना, ताल ठोकना, डाँटना, अपने पिछले कामों (वीरता) की बड़ाई करना, शस्त्र घुमाना, उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, वेपथु और मद ये इस रस के अनुभाव हैं। आक्षेप करना, क्रूरता से देखना मोह और अमर्षादि इसके व्यभिचारी होते हैं।

वैष्णव आचार्यों ने क्रोध के अनुभाव इस प्रकार बतलाये हैं—

हस्तनिष्पेषणं दन्तघट्टनं रक्तनेत्रता
दष्टौष्टता ति भृकुटी भुजास्फालनताडनाः
तूष्णीकता नतास्यत्वं निश्वासो भग्नदृष्टिता
भर्त्सनं मूर्द्धविधूतिर्दृगन्ते पाटलच्छविः
भ्रूभेदाधरकम्पाद्या अनुभावा इहोदिताः ॥

भक्तिरसामृतसिंधु

अर्थात हस्तमर्दन, दाँत से दाँत बजाना, रक्तनेत्रता, ओठ काटना, भौंहें चढ़ना, भुजाओं को चलाना, ताड़न, मौन रहना, मुख नीचा कर लेना, निश्वास, वक्रदृष्टि, भर्त्सना, शिर हिलाना, नेत्र के कोए लाल होना, भ्रूभेद और अधर-कम्पन यह अनुभाव है। देखिये विकासवाद के प्रधान आचार्य डारविन महोदय क्रोध के अनुभाव इस प्रकार बतलाते हैं:—

इसका श्वास पर भी प्रभाव पड़ता है। छाती बढ़ती घटती है। नथुने फूल जाते और फड़कने लगते हैं। शरीर सीधा खड़ा हो कार्य करने के उद्यत सा दिखाई पड़ता है कभी कभी क्रोध

के पात्र की ओर झुकता दिखाई देता अवयवों में कुछ सख्ती आ जाती है। दृढ़ता सूचन करते हुए मुख बन्द हो जाता है। दन्ती बँध जाती है अथवा दाँत घिसने लगता है मारने की मुद्रा में हाथ उठाना और मुट्ठी बाँधना भी प्रायः देखा जाता है।

विकास-वादियों ने रौद्र रस के अनुभावों की व्याख्या इस प्रकार की है। जब मानव-समाज में सभ्यता नहीं आई थी और विशेष अस्त्रशस्त्रादि नहीं बने थे तब शत्रु को देख कर लोग बड़े गुस्से से काट खाने को दौड़ा करते थे। अब दौड़ना बन्द हो गया है। किन्तु दौड़ने के साथ की बातें—पसीना आना और मुँह लाल हो जाना, अभी शेष हैं। लोग अब काट तो नहीं खाते पर मनुष्यों के दाँत अब भी निकल जाते हैं। गुस्से में नथनों का फूलना—इसकी व्याख्या भी इसी प्रकार की जा सकती है। यह विवरण क्रोधशील लोगों को अवश्य निरुत्साह करेगा। इस रस का वर्ण रक्त है। तभी तो कुपित होने पर चेहरा तमतमा उठता है। देवता हैं इसके रुद्र, जिनका काम है संहार करना। क्रोध भी सर्वनाश करने वाला है। विना क्रोध के संहार नहीं होता है परशुराम जी रौद्र रस की मूर्ति कहे गये हैं। जरा उनके वचन सुनिये :—

> बालक बोलि बधौं नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानसि मोही॥
> बाल ब्रह्मचारी अति कोही। विश्व विदित क्षत्री कुल द्रोही॥
> भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही। विपुल बार महिदेवन दीन्ही॥
> सहसबाहु-भुज छेदन हारा। परसु बिलोकु महीपकुमारा॥

इन वाक्यों में बदला लेने के अतिरिक्त बदला लेने का गर्व पूर्णतया व्यञ्जित है। इसमें अपनी पूर्व वीरता, क्षत्रिय-कुल से

स्वाभाविक विरोध, अपने बाहुबल का गर्व एवं अपने शस्त्र को दिखाना यह सब अनुभाव वर्तमान हैं। रामायण में लक्ष्मण-परशुराम तथा रावण-अङ्गद के संवादों में रौद्र रस भरपूर है। चित्रकूट में भरत का ससैन्य आगमन सुनकर लक्ष्मण जी ने जो प्रलयकारी क्रोध प्रकट किया है वह भी रौद्र रस का अच्छा उदाहरण है! नीचे के दो श्लोकों को देखिये तो पता लगेगा कि इनमें रौद्र रस का कितना भयङ्कर रूप और कैसा लोमहर्षण व्यापार है! शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

स्पृष्टा येन शिरोरुहे नृपशुना, पाञ्चालराजात्मजा।
येनास्या परिधानमप्यपहृतं, राज्ञां कुरूणां पुरः॥
यस्योरःस्थलशोणितासवमहम्, पातुं प्रतिज्ञातवान्।
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः, संरक्ष्यतां कौरवाः॥१॥
रे धृष्टा धार्तराष्ट्राः, प्रबलभुजबृहत्ताण्डवा पाण्डवा रे।
रे वार्ष्णेया सकृष्णाः शृणुत मम वचो यद् ब्रवीम्यूर्ध्वबाहुः॥
ऐतस्योतवानबहोद्रुपदनृपसुता तापिनः पापिनोऽहम्।
पाता हृच्छोणितानाम् प्रभवति यदि वस्तत्किमेतं न पाथ॥२॥

जिसने राजाओं और कौरवों के सामने पाञ्चाली का केशाकर्षण और चीरहरण किया था और जिसका वक्षस्थल विदीर्ण कर रक्तपान करने की मैंने प्रतिज्ञा की थी, वही मेरे भुज-पञ्जरों के बीच आ पड़ा है। मैं ललकार कर कहता हूँ कि हे कौरवगण! अब तो भला उसकी रक्षा करो।

अरे कौरव, पाण्डव, श्रीकृष्ण आदि! मेरा वचन सुनो मैं हाथ उठाकर कहता हूँ—द्रौपदी-पीड़क पापी की भुजाएँ उखाड़ कर मैं कलेजे का खून चूसता हूँ क्यों नहीं रक्षा करते!

अब ज़रा मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध देखिये—

दोहा

विनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होय न प्रीति ॥
लछुमन बान सरासन आनू । सोखौं बारिध्र विसिख कृसानू ॥

अब ज़रा परशुराम जी की भभकती हुई क्रोधाग्नि को देखिये—

बोरौं सबै रघुवंश कुठार की धार में बारन बाजि सरत्थहिं ।
बान की बायु उड़ाइ कै लच्छन लक्ष्य करौं अरिहा समरत्थहिं ॥
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार में भूँजौ भरत्थहिं ।
जो धनु हाथ धरैं रघुनाथ तो आजु अनाथ करौं दशरत्थहिं ।

रामचन्द्रिका से ।

बजरङ्गवली हनुमान जी का क्रोध देखिए—

बारि टारि डारौं कुंभकरणहिं बिदारि डारौं
मारौ मेघनादै आजु यों बल अनन्त हौं ।
कहैं 'पद्माकर' त्रिकूट हू को ढाहि डारों
डारत करेहीं जातुधानन को अन्त हौं ॥
अच्छहि निरच्छत कपि तच्छ ह्वै उचारो इमि
तोम तिच्छ तुच्छन को कछू ए न गनत हौं ।
जारि डारों लंकहिं उजारि डारों उपवन
काटि डारों रावण को तो मैं हनुमन्त हौं ॥

साहित्य दर्पण में रौद्र रस का इस प्रकार उदाहरण दिया गया है—

"कृतमनुमतं दृष्टा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिनिर्म्मर्य्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां समीपकिरीटना
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्"

अर्थात्—जिन शस्त्रधारी निर्मर्याद नर-पशुओं ने यह महा-पातक (द्रोणवध) किया है अथवा इसमें अनुमति दी है यद्वा इसे देखा है उन सबके तथा श्रीकृष्ण भीम और अर्जुन के रुधिर, चर्बी और मांस से मैं आज दिशाओं की बलि देता हूँ।

वैष्णवाचार्यों ने रौद्र के स्थाई क्रोध को तीन प्रकार का माना है देखिये—

अत्र क्रोधरतिः स्थायी स तु क्रोधस्त्रिधा मतः ।
कोपो मन्युस्तथा रोषस्तत्र कोपस्तु शत्रुगः ॥
मन्युर्बन्धुषु ते पूज्य समन्यूनास्त्रिधोदिताः ।
रोषस्तु दयिते स्त्रीणामतो व्यभिचरत्यसौ ॥

भक्तिरसामृतसिन्धु ।

अर्थात् यहाँपर (रौद्ररस में) क्रोध स्थाई होता है। वह क्रोध तीन प्रकार का होता है। कोप, मन्यु और रोष—कोप शत्रु के होता है। मन्यु बन्धुओं के प्रति होता है वह तीन प्रकार के होते हैं पूज्य सम और न्यून। रोष स्त्रियों के प्रति होता है।

सातवाँ अध्याय

वीर रस

रन बैरी सम्मुख दुखी, भिच्छुक आवे द्वार ।
युद्ध दया अरु दान हित, होत उछाह उदार ॥

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है । वैसे देखने पर तो रौद्र और वीर में अन्तर नहीं है, किन्तु वास्तव में इन दोनों में कई बातों का भेद है । क्रोध प्राय: अपने से कम बल वाले पर किया जाता है; किन्तु अपने से न्यून बल वाले पर कभी शूरता नहीं दिखाई जाती "जो मृग-पति-बध मेढ़कहिं, भलौ कहै को ताहि" । क्रोध में उदारता का अभाव रहता है और भर पेट बदला चुकाने की उत्कट वा उत्तेजित इच्छा की प्रधानता भी रहती है । किन्तु वीर में उदारता की पूरी मात्रा रहती है । क्रोध वर्तमान दशा से सम्बन्ध रखता है, पर वीर भावी दशा से । इसीलिये इसका स्थाई भाव है "उछाह" है । वीर रस में क्रिया का आधिक्य है । इसमें अपने आप पर निर्भर रहना होता है । क्रोध में अपने बल की डींग अधिक मारी जाती है । वीर के साथ धीरता और प्रसन्नता लगी रहती है । परन्तु क्रोध में इनका अभाव होता है । इस सम्बन्ध में उत्तम कवि का निम्नोल्लिखित दोहा और कवित्त पढ़ने योग्य है । एक साधारण वर्णन दे देना अनुचित न होगा ।

बड़े बोल बोले नहीं, भाखत कहूँ न दीन ।
रन बाँके सूधे सदा, मरन तिनूका कीन ॥

× × ×

आपनी बड़ाई कहूँ मुख ते ना करें आप,
दीनता न भाखें कहूँ बैठि के सुजन में ।
काल किन होय पै मुरै न रन माँझ तासों,
मरन तिनूका सम जानैं सदा मन में ॥
जेते सुख भोगते वे, होते हैं न भूल कभी,
लीन, उन माँझ रहै बिजुरी ज्यों घन में ।
'उत्तम' कहे जे सूर दाता औ सयाने सदा,
सूधे सब ही तें सदा बाँक रहें रन में ॥

वीर रस के सञ्चारी भावों पर दृष्टि डालने से वीर तथा रौद्र का अन्तर मालूम हो जायगा । वीर रस के सञ्चारी भाव इस प्रकार बतलाये गये हैं —

वीर रस के सञ्चारी भाव:—

धृति तर्क मति मोह गर्व अरु क्रोध ।
रोम हर्ष उग्रता रस वीरा वेग प्रबोध ॥

वीर कई प्रकार के माने गए हैं । युद्ध वीर, दान वीर, दया वीर और धर्म वीर । (Carlyle) कारलाइल ने Heroes and Hero worship नामक एक ओजपूर्ण ग्रन्थ लिखा है उसमें कवि, नीतिज्ञ, भविष्यद्वक्ता, लेखक एवं दार्शनिक, सब ही प्रकार के वीर हैं । जो इस विषय में असाधारण योग्यता रखते हैं वे ही वीर हैं । इस योग्यता को कारलाइल ने ईश्वरीय अंश माना है । कवि और दार्शनिक जो बड़े बड़े हुए हैं वे सभी वीर हैं ; इन सब के आलम्बन उद्दीपन अलग हैं । वीर रस हेम

वर्ण है; इसके देवता इन्द्र हैं। पूर्ण उत्साह की परिपुष्टता और प्रधानता होने से ही यह हेम वर्ण है।

अंग पुलक सुख अश्रु दृग, उर आनन्द गहीर।
उठि उछाह साहस समै, होत त्रिविधि रस वीर॥

युद्ध वीर का उदाहरण:—

छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हू की ओट में।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि पर हला वीर भट जोट में॥
'भूषन' भनत तेरी किम्मत कहाँ लौं कहों,
हिम्मत इहाँ लगि है जाकी भट झोट में।
ताव दै दै मूँछन कंगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदे परैं कोट में॥

दान वीर का उदाहरण:—

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावैं ताहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै 'पदमाकर' सुहेम हय हाथिन के,
हलके हजारनि को बितरि विचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
याही गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोय रही,
गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना॥

राजा बलि के दान का केशवदास जी ने बहुत ही उत्तम वर्णन किया है:—

कैटभ सों नरकासुर सों पल में मधु सों मुर सों जिन मार्‌यो।
लोक चतुर्दश रक्षक 'केशव' पूरण वेद पुराण विचार्‌यो॥

श्री कमला कुच कुंकुम मण्डित पंडित देव अदेव निहार्‍यो।
सो कर मागन को बलि पै करतारहु ने करतार पसार्‍यो॥

वैष्णवाचार्यों ने दानवीर दो प्रकार के माने हैं। एक बहु-प्रद और दूसरे सुदुर्लभ अर्थ त्यागी :—

दानवीर युग भाँति के, एक बहुप्रद जानु।
पाय सुदुर्लभ अर्थ को, त्यागी दूसर मानु॥
याचक को सरबस अपन, सहसा देत उठाय।
दानवीर बहुप्रद वही, कबिजन भनै सुभाय।

सुदुर्लभ अर्थत्यागी का इस प्रकार लक्षण दिया गया है।

अति प्रसन्न रघुवीर ह्वै, जनहिं दीन्ह चहुँ वर्ग।
तृन इव त्यागे पवनसुत, रामचरण संसर्ग॥

बहुप्रद के उद्दीपन, अनुभाव, संचारी और स्थाई वैष्णवाचार्यों ने इस प्रकार माने हैं—

याँचक लखिबो आदि उद्दीपन यामें कहैं सुजाना।
बाँधा से अधिकी हँसि बोलत देहिं धैर्य थिर आना॥
इत्यादिक अनुभाव लेखि कै लखहि संचारी नाना।
हर्ष सुउत्सुक आदि थाइ पुनि रति उत्साह सुदाना॥

× × × ×

वैष्णवाचार्यों ने सुदुर्लभ अर्थत्यागी के अनुभाव, उद्दीपन, सात्विक, संचारी एवं स्थाई भाव इस प्रकार गिनाये हैं:—

रामकृपा आलाप सुमुकी आदि उदीपन भावा।
दृढ़ता महिमा बरनन आदिक लखिये यहि अनुभावा॥
उर धीरज आदिक संचारी सात्विकहूँ कोइ आवा।
त्याग उछाह रती स्थाई इत इच्छा त्याग दिढ़ावा॥

वीर रस के वर्णन में प्रायः युद्ध वीर का वर्णन हुआ करता

है और उसके साथ वीर रस की उद्दीपन सामग्री फौज, हाथी, घोड़े अस्त्र-शस्त्र, एवं योद्धाओं की कृतियों का वर्णन होता है। वीर रस का उदाहरण साहित्य-दर्पण में इस प्रकार दिया गया है :—

भो लङ्केश्वर, दीयतां जनकजा, रामः स्वयं याचते,
कोयं ते मतिविभ्रमः स्मरनयं, नाद्यापि किंचिद्गतम् ॥
नैवं चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठा सृजा पङ्किलः
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥

अर्थात् हे लङ्केश्वर, जनक-नन्दिनी सीता को दे दो। देखो, रामचन्द्र स्वयं याचना कर रहे हैं यह तुम्हारी बुद्धि का विभ्रम कैसा ?! जरा नीति का भी विचार करो, अब भी कुछ नहीं गया है। खरदूषण और त्रिशिरा के कण्ठ के लोहू से यह भीगा हुआ बाण यदि मेरे धनुष पर चढ़ गया तो फिर यह नहीं सहन कर सकेगा।

ऊपर के पद्य में जिस गम्भीरता से श्रीरामचन्द्रजी ने रावण से कहा है उससे उनका धैर्य्य और वीरता प्रगट होती है। श्रीरामचन्द्रजी प्रथम तो याचना करते हैं। इस याचना में आत्मगौरव और दृढ़ निश्चय मिला हुआ है। वह रावण को यह बतला देना चाहते हैं कि उससे कोई मामूली भिखारी याचना नहीं कर रहा है वरन् स्वयं रघुकुल-शिरोमणि 'राम' याचना कर रहे हैं और वह राम भी कौन हैं सीतापति। वह अपने नैसर्गिक अधिकार से माँगते हैं। अपने मान के साथ उन्होंने अपने वैरी का भी मान रखा। यह उनकी उदारता थी इसी लिए उन्होंने रावण को लङ्केश्वर कह कर सम्बोधित किया। लङ्केश्वर 'याचते' के साथ ठीक बैठता है क्योंकि मांग राजा ही से सकते हैं। याचना

पहिली श्रेणी हुई। याचना के साथ वह शिक्षा भी देते हैं। धीर होने के कारण वह एक साथ अपने बल की डींग नहीं मारते और न उससे बदला ही चुकाना चाहते हैं। जो नीति की बात है वही उसे बतलाते हैं। वह सीता को न तो जबरदस्ती छीनना ही चाहते हैं और न अनधिकार से माँगते हैं। वह उसको प्रबोध करते हैं और कहते हैं कि तेरी बुद्धि को क्या भ्रम हो गया है ? वह अपने शत्रु को स्वभाव से इतना नीचा नहीं समझना चाहते कि वह वैसे ही अनर्थ करेगा, ज़रूर उसकी बुद्धि का भ्रम हो गया होगा। वह उसे नीति का भी स्मरण दिलाते हैं क्योंकि वह जानते हैं कि रावण पण्डित भी है। यह भी कहते हैं कि अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। वह युद्ध के अर्थ युद्ध नहीं किया चाहते। उन्होंने लंका पर जो चढ़ाई की है वह इसलिए नहीं कि धन और ऐश्वर्य के लिए, अपना साम्राज्य बढ़ावें वरन् अपनी प्रियतमा साध्वी सीता की मान-मर्यादा की रक्षा कर सकें। यह याचना और शिक्षा केवल तपस्वी याचकों की न थी। यदि वह केवल नीति का विचार कर सीता को नहीं लौटालता तो वह ऐसे अशक्त नहीं हैं कि सीता को वहीं छोड़ दें। वह चाहे दया और धर्म की दृष्टि से न मारें किन्तु जब एक बार मारने का संकल्प कर लेंगे तो उसके प्राणों की रक्षा नहीं हो सकती है। यह कोई अशक्त मनुष्य की सी धमकी नहीं है वरन् जो कुछ वह कहते हैं वह प्रमाण के साथ कहते हैं। उनके बाण पर से अभी खरदूषण और त्रिशरा के कण्ठ के रुधिर की कीच सनी हुई है अर्थात् उनके मरे हुए अभी बहुत दिन नहीं बीते जो कि रावण काल से अतीत होने से भूल जावे।

दया वीर का उदाहरण:—

सुनि कमला पति विनीत बैन भारी तासु,
आस चलिबे की लखो गति या दराज की।
छोड़ि कमलासन पिछौड़ी गरुड़ासन हू,
कैसे मैं बखानौं दौर दोरे मृगराज की॥
जाय सरसी मैं यों छुड़ाय गज ग्राह हू ते,
ठाढ़े आइ तीर इमि सोभा महराज की।
पीत पट लै लै कै अँगोछत शरीर कर,
कंजन सों पोछत भुसुंड गजराज की॥

ऊपर जिन प्रकारों की वीरता का वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की वीरताएँ हो सकती हैं। वीरता में केवल हाथ पैर ही की वीरता नहीं होती। वीरता का स्थायी भाव उत्साह है। जहाँ पर उत्साह का प्राधान्य है वहीं पर वीरता है। आज तक प्रायः हर समय युद्धस्थल में वीरता दिखाने के अवसर नहीं पड़ते। वीरता उचित स्थान में ही दिखाई जा सकती है। मानव-समाज युद्ध के विरुद्ध होता जा रहा है और इस बात का यत्न किया जा रहा है कि संसार से लड़ाई उठ जाय। राष्ट्रों के निःशस्त्र किये जाने की चेष्टाएँ की जा रही हैं। निःशस्त्र करना एक युद्ध के अन्त करने का बाह्य साधन है, किन्तु असली साधन सद्भावों का प्रचार है। जहाँ पर परस्पर समझौते के लिये हृदय में स्थान रहता है वहाँ पर अस्त्रों की धार मंद पड़ जाती है। शक्ति का होना बुरा नहीं। अंग्रेजी में कहा है "It is good to heve a giant's strangth but bad to use it lixe jiant" अर्थात् दानव की सी

शक्ति होना अच्छा है किन्तु दानव की भाँति उसका उपयोग करना अच्छा नहीं है। संहार की शक्ति रक्षा के अर्थ ही वाञ्छनीय समझी जा सकती है, सहार के लिये नहीं। संसार को अच्छा बनाने की जिसमें शक्ति है वही यथार्थ रूपेण शक्तिशाली है। विष्णु भगवान की प्रधानता इसी कारण है कि उनका कार्य रक्षा करने का है। यही वैष्णव लोगों की विष्णवता का गौरव है। संसार में साम्य भाव एवं विश्व-भ्रातृ-भाव के फैलाने से युद्धों की सम्भावना कम हो जावेगी (यदि मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रकृतियों के ऊपर विजय पा सका) किन्तु वीरता के लिये तब भी साधन रहेगा। हमको पद पद पर वीरता की आवश्यकता रहती है, जिससे समाज में वीरता के लिये काफ़ी स्थान है। शक्ति रखते हुए क्षमा करना एक अच्छे प्रकार की वीरता है। अपने शत्रु से सद्व्यवहार करना इसी कोटि में आता है। अंग्रेजी में जिसको (chivelory) कहते हैं वह इसी प्रकार की वीरता है। विपत्तियों से मुख न मोड़ना, असफलता से निराश न होना, कर्तव्य-पालन में अपने सुख-दुःख का न विचार करना ही सच्ची वीरता है। ऐसे ही वीर को कर्मवीर कहते हैं और इन कर्मवीरों की समाज में आवश्यकता रहती है। श्रीयुत अयोध्यासिंह जी उपाध्याय जी के नीचे के छंदों में बड़ी उत्तम रीति के साथ कर्मवीर के लक्षण दिये हैं। देखिये:—

देख कर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं।
रह भरोसे भाग के दुख भोग पछताते नहीं॥
काम कितना ही कठिन हो किन्तु उकताते नहीं।
भीड़ में चञ्चल बने तो वीर दिखलाते नहीं॥

हो गये एक आन में उनके बुरे दिन भी भले।
सब जगह सब काल में वे ही मिले फूले फले॥

× × ×

आज करना है जिसे करते उसे हैं आज ही।
सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही॥
मानते जी की हैं सुनते हैं सदा सबकी कही।
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आप ही॥
भूल कर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं।
कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं॥

× × ×

जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं।
काम करने की. जगह बातें बनाते हैं नहीं॥
आज कल करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं।
यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं॥
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके लिये।
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये॥
चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवें बना।
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना॥
जो कि हँस हँस के चबा लेते हैं लोहे का चना।
"है कठिन कुछ भी नहीं" जिनके है जी में यह ठना॥
कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं।
कौन सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं॥

× × ×

काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोड़ते।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोड़ते॥
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहिं तोड़ते।
सम्पदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते॥

बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन।
काँच को करके दिखाते हैं वो उज्ज्वल रतन॥

× × ×

कार्य्य थल को वे कभी नहिं पूँछते वह है कहाँ ?।
कर दिखाते हैं असम्भव को वही सम्भव यहाँ॥
उलझनें आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहाँ।
वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहाँ॥
डाल देते हैं विरोधी सैकड़ों ही अड़चनें।
वे जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें॥

× × ×

दया वीर में दधीचि, मोरध्वज और महात्मा बुद्ध आदि माने गये हैं। धर्म वीर का उदाहरण:—

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास तू मन्द।
रखिहौं निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥१॥

× × ×

चँन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द्र को, टरै न सत्य विचार॥२॥

× × +

धर्म वीर युधिष्ठिर माने गये हैं। उनकी एक उक्ति साहित्य दर्पण से दी जाती है। देखिये:—

राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये।
यच्च लोके समायान्तं तद्धर्माय सदोद्यतम्॥

अर्थात् राज्य, धन, शरीर, स्त्री, भाई, पुत्र इत्यादि जो कुछ भी मेरे अधीन हैं, वह सब सदा धर्म के हेतु उपस्थित हैं।

वैष्णवाचार्यों ने धर्मवीर के अनुभाव, उद्दीपन, सञ्चारी इत्यादि इस प्रकार बतलाये हैं:—

वेद पुराण शास्त्र सुन बोई आदि उद्दीपन पाये हैं।
संयम नियम सहनता आदिक बहु अनुभाव बखाने हैं॥
मति सुस्मृति आदि संचारी, उपजि भले दरसाते हैं।
धर्मोत्साह रती थाई है, जो अति धर्म दिढ़ाते हैं॥

साहित्य में जो वीर रस के वर्णन आते हैं वह प्रायः युद्ध वीर के होते हैं। युद्ध वीर के सम्बन्ध में चतुरङ्ग चमू, वीरों की गर्वोक्तियाँ, योद्धाओं के रोमाञ्चकारी पौरुषपूर्ण कार्य्य उनके आयुध और वस्तु, युद्ध के बाजे और रण का तुमुल कोलाहलादिकों का वर्णन होता है देखिए—

भूषणकृत महाराज छत्रसाल की करवाल का वर्णन-क्या ही उत्तेजक है।

निकसत म्यानते मयूखैं प्रलै भानु कैसी,
फारै तम तोम से गयन्दन के जाल को।
लगति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी,
रुद्रहि रिझावै दै दे मुंडन के माल को।
लाल छिति पाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करबाल को।
प्रति भट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को।

अब देखिये बरछी का भी वर्णन देखिये।

भुजभुजगेश की ह्वै संगिनी भुजंगिनी सी
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन बीच धसि जाति मीन
पैरि पार जात परबाह ज्यौं जलन के

रैया राय चंपति को छत्रसाल महाराज
भूषन सकत को बखानियों बलन के
पच्छी पर छीने ऐसे परे पर छीने बीर
तेरी बरछीने बर छीने है खलन

जरा युद्ध के वर्णन देखिये।

मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन॥
भूत फिरत करि बूत भिरत सुर दूत घिरत तहँ।
चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंड मचत जँह॥
इमि ठानि घोर घमसान अति भूषन तेज कियो अटल।
सिवराज साहि सुख खग्ग बल दलि अडोल बहलोल दल॥

ऐसे वर्णन कायर के मन में भयोत्पादक होते हैं और वीर के मन में उत्साहवर्धक होते हैं।

केशवदास जी कृत रामचन्द्र जी की सेना का वर्णन देखिए—

राघव की चतुरङ्ग चमू चलि धूर उठी जल हू थल छाई।
मानो प्रताप हुतासन धूम सो केशव दास अकास अमाई॥
मेटि कै पंच प्रभूत किधौ विधि रेणु मई नव रीति चलाई।
दुःख निवेदन को भुव-भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई॥

युद्ध के दो एक वर्णन और देख लीजिए—

दुह के वीच निशाचर अनी। कसमसाति आई अति घनी॥
देखि चले सम्मुख कपि भट्टा। प्रलय काल के जिमि घनघट्टा॥
शक्ति शूल तरवारि चमकहिं। जनु दश दिशि दामिनी दमकाहिं॥
गजरथ तुरग चिकार कठोरा। गर्जत मनहु बलाहक घोरा।
कपि लंगूर विपुल नभ छाये। मनहुँ इन्द्रधनु उगेउ सुहाये॥
उठी रेणु मानहुँ जल धारा। बाग वृन्द भइ वृष्टि अपारा॥

दुहुँ दिशि पर्वत करहिं प्रहारा। बज्रपात जनु बारहिं बारा।
रघुपति कोप बाण झरि लाई। घायल भे निश्चर समुदाई॥
लागत बान वीर चिक्करहीं। घुर्मि घुर्मि अगनित महि परहीं॥
स्रवहिं शैल जनु निर्झर वारी। शोणित सरि कादर भयकारी॥

वीर परजनु तीर तरु, लज्जा बह जनु फेन।
कादर देखत डरहिं जिय, सुभटन के मन चैन॥

× × × × × ×

अब उत्साहसूचक दो चार गर्वोक्तियों का आनन्द लीजिए—

बारि टारि डारौं कुम्भकरणहि बिदार डारौं,
मारौं मेघनादै आजु यों बल अनन्त हौं।
कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं,
डारत करेई यातुधानन को अंत हौं॥
अच्छहि निरच्छ कपि रिच्छहि उचारौ, इमि
तोत्र तिच्छ तुच्छन कछुवै न गनत हौं।
जारि डारौ लंकहि उजारि डारौ उपबन,
फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमन्त हौं॥

अङ्गद जी की भी जरा सुनिये—

कोशलराज के काज ही आजु,
त्रिकूट उपारि कै बारि निबोरौं,
द्वौ भुज दण्ड दे प्रचंड कहाहु,
चपेट के चोट चटाक के फोरौं,
आयुस भंग को जो न डरौं,
तौ मींज सभासद शोणित बोरौं,
बालिको बालक तौ तुलसी,
दशहूमुख के रण में रद तोरौं,

× × × ×

बाल-वीर लक्ष्मण की उक्ति देखिये:—

रघुवंशिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जस अनुचित बानी। विद्यमान रघु-कुल-मणि जानी॥
सुनहु भानुकुल पकंज भानू। कहौं सुभाव न कछु अभिमानू॥
जो राउर अनुसासन पाऊ। कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयुस होऊ। कौतुक करौं बिलोकिय सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढावों। सतयोजन प्रमान लै धावों॥
तोरों छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जो न करौं प्रभु पद शपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ॥

अब ज़रा माइकेल मधुसूदनजी दत्त कृत लक्ष्मणमेघनाद-संवाद देखिये:—

लक्ष्मण:—

पावक नहीं मैं, देख रावणि, निहार के,
लक्ष्मण है नाम मेरा, जन्म रघु-कुल में।
मारने को शूर सिंह, तुझ को समर में,
आया हूँ यहाँ मैं, अविलम्ब मुझे युद्ध दे।

× × × ×

देखिये फिर क्या कहते हैं:—

रे दुरन्त रावणि, कृतान्त मैं तो तेरा हूँ।
भूतल को भेद कर काटता भुजङ्ग है,
आयु-हीन जन को! तू मद से प्रमत्त है;
देव-बल से ही बली; तो भी देव कुल की
करता अवज्ञा है सदैव अरे दुर्मते!
आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना!

देवादेश से ही आज रामानुज मैं यहाँ
करता प्रचारित हूँ युद्ध हेतु तुझको।

× × × ×

अब जरा मेघनाद की उक्ति देखिये:—

रामानुज लक्ष्मण हो यदि तुम सत्य ही,
तो हे महाबाहो, मैं तुम्हारी रण-लालसा
मेटूँगा अवश्य घोर युद्ध में भला! कभी
होता है विरत इन्द्रजित रण-रङ्ग से?
लो आतिथ्य सेवा शूर-सिंह, तुम पहले,
मेरे इस धाम में जो आ गये हो, ठहरो!
रक्षःरिपु तुम हो, अतिथि तो भी आज हो!
सज लूँ ज़रा मैं वीर साज से। निरस्त्र जो
वैरी हो, प्रथा नहीं है शूर-वीर वंश में
मारने की उसको, इसे हो तुम जानते,
क्षत्रिय हो तुम मैं कहूँ क्या तुम से।

× × × ×

लक्ष्मण :—

छोड़ता किरात है क्या पा के निज जाल में
बाघ को अबोधी अभी वैसे ही करूँगा मैं।
क्षत्रियों का धर्म्म कैसे तेरे सङ्ग पालूँगा?
शत्रुओं को मारे, जिस कौशल से हो सके!

× × × ×

रण के जुझाऊ बाजे वीर रस के उद्दीपनों में माने गए हैं। नीचे के वर्णन में दुंदुभी के घोररव का प्रभाव बतलाया है:—

दुंदुभी की घोर सन रोदा ठनकार जाकी,
बढि बढ़ि रव और तीव्र सरसायें देत।

कुँज्जरनि पुंज जो गरजि गिरि, कुंजनि को,
गुंजत, तिनहुँ कान जुर उपजायें देत।
भाजत भयानक बिपुल मुंड रुंडनि सों,
काटि यह वीर महीतल पै बिछायें देत।
लागे जनु काल विकराल पूरन अघाय,
खाय खाय जूंठिन चहूँधा बिथरायें देत।

श्रीरामचन्द्रजी के डङ्के का वर्णन देखिये:—

धमक धकारन तैं फूटत फनिन्द फन,
बिहरत बिन्ध सूखि सिन्धु होत पङ्का है।
अररात मेदिनी ररिजात कच्छ पीठ,
बररात बाँये सो जहान राव रङ्का है॥
'परसाद' भनत गनत कौन लोक अहो,
धुव लोकहू लों परिजात यों अदङ्का है।
महा मन सङ्का करि हहरत लङ्कापति,
राम रन बङ्का को बजत जब डङ्का है॥

× × × ×

हाथी और फौज का वर्णन भी उद्दीपन में माना गया है। तलवार, बर्छी आदि का वर्णन ऊपर दिया जा चुका है।

मद भरे झूमैं चूमैं झुंडन विमान नभ,
गंडन पै भौंर झुंड घुमड़े परत हैं।
ललित छवीन छाये जड़ित जरीन वारे,
पाखर नवीन चारु झुमड़े परत हैं॥
फेरि-फेरि टारैं पग बेरि-बेरि झूमि-झुकि,
बैरिन के हेरि डर गुमड़े परत हैं।

राजा रामचन्द्र जू के प्रबल मतङ्ग गन,
सावन के घन ऐसे उमड़े परत हैं ॥

× × × ×

गुंजरत गरिज गनेस के वरन बेस,
बदन ललितभाल मद रहे झरि-झरि ।
कवि 'लछिराम' तोरैं कानन गरद मेलि,
फोरैं महा मन्दर अरिन्द मो हैं डरि-डरि ॥
ऐसे गनजराज महाराज रामचन्द वारे,
सान स्याम घन के बिदारैं मान करि-करि ।
भानु रथ रोकत भुसंडन के ऊँचे नीर,
आसमान गंग के तरङ्गन को भरि भरि ॥

× × × ×

भूलि रहे भुजदण्ड प्रचण्ड, सुकौच के वृन्द सबै करके हैं ।
त्यों 'लछिराम' विसाल प्रभा, मुख ज्वालिया रंग प्रलै करके हैं ॥
भारी गदा उछलै कर में वा लंगूर के लङ्गर यौं खरके हैं ।
रावन को चमू हेरत ही, हनुमान के रोम सबै फरके हैं ॥

× × × ×

आवे चढ़ी चारु चतुरंगिनी चपल जोर,
बहसी विलासमान रावन झमेले की ।
कवि 'लछिराम' सौं हैं भानु वंश भूखन के,
तरकत बंद भौं हैं कातिल कुलेले की ॥
फरके प्रचण्ड कर खरके धनुष-बान,
हरके न मानैं मन मौज बगमेले की ।
अरुन सरोज सों अमन्द मुख-भोज औरे,
मंद विहँसनि रामचन्द्र अलबेले की ॥

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—वर्तमान सभ्यता संसार में से युद्ध को निश्शेष कर देना चाहती है। समाज की स्थिति एवं मनुष्य जाति के हितार्थ यह सर्वोत्तम बात है; किन्तु युद्ध के निश्शेष हो जाने का यह अभिप्राय नहीं कि संसार से वीरता का ह्रास हो जावे। वीरता का भाव मनुष्य में एक अपूर्व शक्ति का सञ्चार कर देता है। वह शक्ति अंग-प्रत्यंग में प्रवेश कर मनुष्य के शरीर को हृष्ट-पुष्ट बना देती है और उसकी आत्मा को उत्साह से भरपूर कर देती है। मनुष्य में मनुष्यत्व स्थिर करने के लिये वीर भाव की परमावश्यकता है। वीर भाव के प्रकाश के हेतु रण-क्षेत्र ही एक मात्र स्थल नहीं है। वीर भाव जीवन-पथ के पद-पद में प्रकट किया जा सकता है। दीन-दुःखियों के लिये अपने जीवन को भय में डाल देना, उनके हेतु सर्वस्व समर्पण कर देना, देश और जाति का गौरव स्थापित करने के लिये, सब कार्यों में अपनी श्रेष्ठता दिखाने का उद्योग करना, अखाड़े में, द्वन्द्व युद्ध में, फुटबाल मैचों में, परीक्षा तथा दौड़ की प्रतिद्वन्द्विता में वीरता दिखाने के अनेकानेक अवसर प्राप्त होते हैं। वीर रस के अध्ययन से जातीयता के भावों की पुष्टि होती है और प्राचीन योद्धाओं की वीर कृतियों को पढ़ कर हमारे शरीर में एक अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा हम को ऐसे कार्य करने के निमित्त उद्यत करता है, जिससे जाति-गौरव देश-देशान्तर में चिरकाल के लिये स्थापित हो जावे। हम को अपनी शक्तियों को पुष्ट करना चाहिये किन्तु उनका दुरुपयोग करना सर्वथा अनुचित है। उचित स्थलों पर वीरता दिखाना मनुष्य के गौरव को बढ़ाता है। धर्मवीर और दानवीरों के कार्य हम को

मनुष्य जाति की अमित शक्ति का पता देते हैं कि मनुष्य क्या क्या कर सकता है ? वीर-पूजा प्रत्येक देश में मानी जाती है। जहाँ वीरों का आदर नहीं होता वहाँ पर जाति को किसी भी कार्य में सफलता नहीं हो सकती। वीरों की गुण-गाथा पढ़ना उनका आदर करना है और इससे अपने भावों का परिमार्जन भी हो जाता है। हमारा मन दुष्ट प्रवृत्तियों से हट कर सत् कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। बालकों में वीर-रस सम्बन्धी साहित्य का प्रचार करना उनका शारीरिक और मानसिक बल बढ़ाने के लिये परमावश्यक है। अभिमन्यु तथा बभ्रुवाहन के-से वीर बालक प्रत्येक जाति के गौरव हैं। ध्रुव, प्रल्हाद, लव और कुश आदि हमारे बालकों के लिये वीरता के आदर्श हैं। यदि हमारे देश के बालक और बालिकाएँ भीष्म की-सी दृढ़-प्रतिज्ञा, युधिष्ठिर की-सी धर्म-परायणता, हरिश्चन्द्र के-से त्याग तथा कर्तव्य-परायणता, राम एवं लक्ष्मण के-से भ्रातृ-प्रेम तथा आज्ञापालन, सीता सावित्री तथा दमयन्ती के-से पातिव्रत-धर्म धारण करने को समर्थ होंगे तब इस देश को अपना प्राचीन गौरव प्राप्त करने में विलम्ब न होगा।

आठवाँ अध्याय

भयानक-रस

× × × ×

घोर सत्व देखे सुनै, करि अपराध अनीति।
मिलै शत्रु भूतादि कै, सुमरै उपजत भीति॥
भीति बढ़ै रस भयानक, दृग जल वेपथु अङ्ग।
चकित चित्त चिन्ता चपल, विवरनता सुरभङ्ग॥

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। इसमें परिवर्तन की मात्रा अधिक है। यह परिवर्तन ऐसा होता है कि इसके देखनेवाले को अपनी शक्ति में हार मानकर भागना पड़ता है। यह परिवर्तन इतना घोर होता है कि मन इसकी ओर एक साथ आकर्षित हो जाता है तथा तुरन्त ही हट जाता है। भीति में ऐसी साधारण वस्तु का सामना करना पड़ता है कि जिसमें अपने से बल अधिक हो और जिससे भिड़ने पर प्राण जाने की आशङ्का रहती हो।

भयानक के आलम्बन एवं उद्दीपन :—

जिससे भय उत्पन्न हो वही इसका आलम्बन है। भीम काय पुरुष, हिंस्र जन्तु, अस्त्र-शस्त्र, शासक तथा दण्डदाता, जिसका कुछ अपराध किया हो यह सब भय के उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इसमें पुरुष एवं वस्तु दोनों ही आ जाते हैं। रात्रि, निर्जन वन, श्मशान, पर्वतादि इसके उद्दीपन माने जाते हैं। शत्रु

की चेष्टाएँ, गर्जन, दर्पोक्तियाँ, धनुष की टङ्कार आदि ये सब उद्दीपन हैं। विवर्णता, गदगद भाषण, प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और इधर उधर ताकना इत्यादि इसके अनुभाव हैं। जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार सम्भ्रम तथा मृत्यु आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। भय का सम्बन्ध अवस्था से भी होता है। जो वस्तु बाल्य काल में भय का कारण होती है वही यौवनावस्था में हमारे तिरस्कार वा उपहास का विषय बन जाता है। बच्चों को बहुरुपिया से भय लगता है, किन्तु वह हमारे विनोद का कारण है। वन, हिंस्र-पशु इत्यादि, यद्यपि भयजनक पदार्थ हैं तथापि बहुत से लोग इनमें आनन्द पाते हैं। स्वयं सीताजी ने भी भयानक वनों को दुबारा देखने की इच्छा प्रकट की थी। बहुत से भयानक पदार्थों में अद्भुत मिला रहता है। जहाँ पर हम कारण नहीं बतला सकते हैं वहाँ पर हमको भय होने लगता है। एक मनोवैज्ञानिक ने लिखा है कि जब रात में हड्डी का एक टुकड़ा एक डोरे से घसीटा जाता था तो उसका कुत्ता भय-भीत हो जाता था। वृह-दाकार भय का कारण होता है; क्योंकि उसकी हानि पहुँचाने की शक्ति अधिक समझी जाती है। जिससे हानि की शङ्का होती है, उसी का भय होता है अथवा जिससे प्रेम होता है उसका भी भय होता है क्योंकि प्रेम में कमी आना, उसका रुष्ट होना अथवा उसका दूर हो जाना उसको कष्ट पहुँचना एक प्रकार की हानि ही है। भय का समाज सुधार में बहुत कुछ काम पड़ता है। दण्ड का भय समाज के लोगों को दुष्कर्म करने से बचाता है। लोकापवाद का भी भय दण्ड का-सा भय होता है, भगवान

श्रीरामचन्द्रजी ने सती सीता का परित्याग लोकापवाद भय से ही किया था किन्तु जहाँ लोग समाज की परवाह नहीं करते वहाँ पर यह भय कुछ काम नहीं करता। अशिक्षितों और बालकों में भूत-प्रेतादि का भय बहुत काम करता है। किन्तु इस प्रकार के भय द्वारा शिक्षा देना उनकी आत्मा को कमजोर बनाना है। प्रीति का भय ही अच्छा भय है। जहाँ तक हो उसको काम में लाना चाहिये।

भयानक के अनुभाव

सिर, दृग, कर, पग कम्प लहि, तालु कण्ठ मुख सोष।
भीति रीति अनुभवत है, भय इसमें परिपोष॥

वैष्णवाचार्यों ने इसके अनुभाव इस प्रकार माने हैं।

मुख शोषन निश्वास बहु, भागि विलोकवि फेरि।
तनु गोपन घुमनी शरण, चाह आदि क्रिय टेरि॥

इन अनुभावों में आचार्यों ने बहुत कुछ अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने माना है कि भय के कारण मुह में थूक प्रवाहिनी जो ग्रन्थियाँ होती हैं, वह अपना कार्य बन्द कर देती हैं। Canon कैनन ने अपनी 'Bodily Changes in Pain, Hunger, Fear and Rage' नाम की पुस्तक में इस बात की पुष्टि में, कि भय में थूक सूख जाता है, हिन्दुओं की उस प्रथा का उल्लेख किया है जिसमें कि चावल चबवा कर चोरी पकड़ते हैं। चोर के मुख से सूखे चावल निकलते हैं, क्योंकि उसके मुख का थूक भय के कारण सूख जाता है। चूँ कि भय में प्रायः भागने का काम पड़ता है और भागने में दीर्घ निश्वास स्वभावतः हो जाता है। यद्यपि मनुष्य

वास्तविक रूप से न भागे तथापि सम्बन्ध नियम से भय की स्थिति उपस्थित होने पर विश्वास होने लगता है। मुह फेर कर देखना भागते हुए मनुष्य के लिये बहुत स्वाभाविक है। वह जानना चाहता है कि मैं भयोत्पादक वस्तु से कितनी दूर हूँ और वह कहीं उसका पीछा तो नहीं कर रही है।

शङ्का, दैन्य, मृत्यु, अपस्मार, ग्लानि, आवेग इत्यादि इसके सञ्चारी भाव हैं। इसका वर्ण काला है। यम इसके देवता हैं। इसका काला वर्ण होने का यह कारण है कि भय प्रायः अन्धकार में हुआ करता है और दानव आदि भयोत्पादक जीव काले माने गये हैं।

भयानक रस के उदाहरण

पौन पूत आगि को लगाय 'भगवन्त कवि'
लगत न घाव काहू तुपक न तीर को।
रातो भयो आसमान, तातो भयो भासमान
कारो पीरो नीर भयो नीरधि के तीर को॥
लंका लागी बरन जरन रनिवास लाग्यो,
व्याकुल ह्वै असुर धरैं न रनधीर को।
सुरन को जाप कैधों सीता को सराप है कि,
रावन को पाप कै प्रताप रघुबीर को॥

× × × ×

घोर प्रलै के घनावन लै बरष्यो मघवा ब्रज बैर सों जागत।
थावर जंगम जीव भ्रमैं भमरे भय में भरि भौननि भागत॥
आकुल गोपिय गोकुल ग्वाल बिहाल है अंक ते बालनि त्यागत।
तीर से नीर छरानि छरे बछरा उर तीछन गाइन लागत॥

× × × ×

कोल कच्छ दबे, फेन फैलत फनी के मुख,
धसि गई धरा धराधर उर धर के।

हर के रहे न भानु भरके तुरङ्ग कहूँ,
भागि चले नाहक विरञ्चि हरि हर के ॥
झम्पित गगन झुकि, कम्पित भुवन हत,
कम्पित दुवन गुन खैंचे रघुबर के।
दन्ती देव आसन, सकाने पाक सासन,
न कोऊ थिर आसन सरासन के करके ॥

× × ×

रुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि कै कर नारी।
फटफटाई दोउ पङ्ख उलूकहुँ रटत पुकारी ॥
अन्धकार बस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध गरुड़ हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ॥
रोवत सियार गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावहीं।
संग दादुर झींगुर रुदन धुनि मिलि खर तुमुल मचावहीं ॥
"सत्य-हरिश्चन्द्र"

भयानक रस का एक उदाहरण मालती-माधव से गद्य में दिया जाता है। देखिये:—

"अरे ओ भाई, मठ के रहनेवालो! भागो!! भागो!!! यह देखो जवानी के चढ़ाव में, खींच खींच के साँकरे तोड़ सिंह लोहे के पिंजड़े से निकल गया है, और झंडे की नांई पूँछ उठा के फटकारता हुआ मठ से चला जाता है। कितने जीव मार डाले! कटारी ऐसे दाँतों से हड्डियाँ कटकटा कर चबाता हुआ मुँह बाए, इधर-उधर दौड़ रहा है। एक ही थप्पड़ से मनुष्य, बैल, घोड़ा, मार के गिरा रहा है। उनके माँस गले में भर कर गर्जना कर रहा है। उसकी डपट से सब लोग डर कर भाग रहे हैं। उसके वज्र ऐसे नखों के लगने से इतना लोहू बहा है। हाय! हाय!! दौड़ो! दौड़ो!! प्यारी मदयन्तिका बाई को बचाओ! बचाओ!!"

और देखिये:—

पर तेल सो तूल सो पूँछि लपेट के पावक लाइ लगाइ दियो ।
नहिं 'तोष' तबै हनुमन्त बली करि कोप कँगूरनि कूद गयो ॥
चहुँधा लखि ज्वाल कुलाहल भो पुर लोग सबै दुःख ताप तयो ।
यह लंक दसा लखि लंकपती अति संक दसौ मुख सूखि गयो ॥

इसमें भय का अनुभाव मुह का सूखना आ गया ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो लंका-दहन का वर्णन किया है वह और भी उत्तम है । देखिये:—

हाट, बाट, कोट, ओट, अटनि अगार पौरि,
खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्ही अति आगि है ।
आरत पुकारत संभारत न कोऊ काहु,
व्याकुल जहाँ सो तहँ लोक चलो भागि है ॥
बालधी फिरावै बार बार झहरावै झरैं,
बूँदिया सी लंक पिघलाइ पाग पागि है ।
'तुलसी' विलोक अकुलानी जातु धानी कहैं,
चित्र हू के कपि सों निसाचर न लागि है ॥

× × × ×

व्रज के लोग उठे अकुलाय ।
ज्वाला देखि अकाश बराबर, दशहुँ दिशा कहुँ पार न पाय ॥
हरहरात बन पात गिरत तरु, धरनि तड़ाक हड़ाक सुनाय ।
जल बरसत गिरिवर तर बाचे, अब कैसे गिरि होत सहाय ॥
लटक जात जरि जरि द्रुम बेली, पटकत बाँस काँस कुसताल ।
उचटत कर अंगार गगन लो, 'सूर' बरखि व्रजजन बेहाल ॥

भहरात झहरात दावानल आयो ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंधेर बन, धरनि अकाश चहु पास छायो ।
बरत बन बाँस धरहरत कुस काँस जरि, उड़त हैं बाँस भांस अति प्रबल धायो ॥

झपटि झपटत, लपटत पटकि फूल फूटत द्रुम फटि चटकि लट लटकि नवायो।
अति अगिन झार भार धुंधार करि उचटि अंगार झंझार छायो॥
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरणी गिरायो।
भये बेहाल सब ग्वाल ब्रजबाल तब शरन गोपाल कहि के पुकारयो॥
त्रणाकेशी शकट बकी बक अघासुर बाम कर गिरि राखि ज्यों उबारयो॥

श्रीमद्भगवद्गीता के ग्याहवें अध्याय में विराट रूप का भयोत्पादक दृश्य अच्छा दिखलाया गया है।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं, स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि, व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः॥
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं त वेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥

× × × ×

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं, महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥
नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं, व्यात्ताननं दीप्तविशाल नेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा, धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि, दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

× × × ×

तुलसी कृत रामायण में भी भयानक रस के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। देखिये :—

अति गर्व गनत न सगुन, असगुन सबहि आयुध हाथ ते।
भट गिरहिं रथ ते बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ ते।
गोमायु गीध कराल खर रव स्वान बोलहिं अति घने।
जनु काल दूत उलूक बोलहि सकल परम भयावने॥

× × × ×

करुण-भयानक, रौद्र-वीभत्स इन रसों का परस्पर विशेष

सम्बन्ध है। इन सब रसों के कारण आत्मा को एक प्रकार का कष्ट होता है। भयानक में मनुष्य भागने की चेष्टा करता है, क्योंकि उसे अनिष्ट की आशंका मात्र रहती है। जितनी यह आशंका तीव्र होती है उतनी ही भागने की इच्छा होती है। जिस अनिष्ट की आशंका होती है उसकी पूरी हो जाने पर भया- नक करुण में परिणत हो जाता है। भागने की आवश्यकता नहीं रहती वरन् अनिष्टपर दुःख किया जाता है। जो बात हो ही चुकी उसका क्या निवारण हो सकता है। भयानक में मनुष्य अपनी स्वयं निर्बलता स्वीकार कर भयजनक वस्तु से भागना चाहता है। रौद्र में मनुष्य अपने बल के गर्व में अनिष्ट करने वाले का नाश करना चाहता है। वह स्वयं नहीं भागता, दूसरे को अपने सामने से भगाना चाहता है। भयानक सामाजिक है, रौद्र अ-सामाजिक। भय में मनुष्य अपने सजातीय लोगों से संगठन करना चाहता है। भय में दुश्मन भी दोस्त के भाव से देखे जाने लगते हैं। क्रोध में दोस्त भी दुश्मन बन जाते हैं।

धैर्य का अभाव रौद्र और भयानक दोनों में होता है। दोनों ही में तत्काल काम करने की प्रबल इच्छा रहती है। सोच विचार के लिये स्थान नहीं रहता। भयानक और बीभत्स दोनों में मनुष्य अपने को भय एवं घृणा के स्थान से हटाना चाहता है, किन्तु भयानक में भयजनक वस्तु का महत्व स्वीकार किया जाता है। वीर तथा बीभत्स में मनुष्य अपनी महत्ता प्रकट करता है। भयानक में धैर्य का अभाव रहता है, बीभत्स में धैर्य का अभाव नहीं। करुणा, भयानक, रौद्र और बीभत्स सब का भाव बहु काल स्थाई होता है।

श्रृंगार और शान्त को छोड़कर प्रायः इन सब रसों का मनुष्य की हित-हानि से सम्बन्ध है। करुण में हानि पूरी हो जाती है। हानि करने वाले पर कोई वश नहीं रहता। हास्य में थोड़ी बहुत हानि अवश्य होती है, किन्तु वह इतनी थोड़ी होती है कि मनुष्य उसको कुछ गिनता ही नहीं और उसका मानसिक भाव एक प्रकार से हलका हो जाता है। रौद्र में करुण की अपेक्षा हानि की मात्रा भी कम रहती है और हानि का उत्पादक भी ऐसा होता है जिससे कि प्रतीकार ले सकें। रौद्र में उत्साह अवश्य होता है किन्तु परिस्थिति के कारण वह कुछ रुका सा रहता है उसमें औचित्य-अनौचित्य का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। वीर का उत्साह किसी रुकावट को नहीं मानता और सदा औचित्य का ध्यान रखता है। भयानक में अनिष्ट की विकट सम्भावना रहती है और मनुष्य उस सम्भावना की पूर्ति से बचता है। भयानक के साथ शक्ति का भाव रहता है। बीभत्स में अनिष्ट की सम्भावना रहती है; किन्तु उसके साथ शक्ति और महत्ता का भाव नहीं रहता, वरन् घृणा का। अद्भुत में कभी कभी अनिष्ट की सम्भावना रहती है, किन्तु उसमें घृणा के स्थान में महत्ता एवं प्रशंसा का भाव रहता है। कभी कभी अनिष्ट की सम्भावना मिट जाने से प्रसन्नता का भी भाव रहता है। अद्भुत में अनिष्ट के हट जाने का कारण अथवा अनिष्ट होने का कारण असाधारण ही होता है। जहाँ पर बुद्धि व्याख्या करने में असमर्थ हो जाती है वहाँ पर अद्भुत को स्थान मिल जाता है। भयानक का आत्म-रक्षा से निकट-तम सम्बन्ध है। इन सब रसों में एक प्रकार से आत्मा गिरी-

सी हो जाती है। रौद्र में कुछ उत्साह की मात्रा अवश्य रहती है। रौद्र में एक प्रकार का सुख होता है क्योंकि उसमें शत्रु पर विजय पाकर उसका प्रतीकार करने की आशा रहती है। बीभत्स और भयानक इन दोनों में चित्त की रुचि मिट जाती है।

भयानक तथा घिनोनी चीज़ दोनों ही असाधारण हैं। अन्तर बस इतना ही है कि भयानक वस्तु के साथ उसकी हानि पहुँचाने वाली शक्ति का भय-जनक-भाव लगा हुआ है। घिनौनी वस्तु के साथ उसकी निन्दनीय नीचता का भाव लगा हुआ है। घृणास्पद पदार्थ से उसको निन्द्य और नीच समझ कर, अलग होने या हटने की इच्छा होती है। भयानक वस्तु के आगे से हम अपनी शक्तिहीनता देख कर भागते हैं। भीति का भाव जुगुप्सा से तीव्र है। क्रोध और भय में मनुष्य की शक्तियाँ केन्द्रस्थ हो जाती हैं और मनुष्य अपने में अलौकिक बल का अनुभव करने लगता है। बहुत से लोग इसी अपूर्व बल का अनुभव करने के लिये भयोत्पादक स्थानों में जाते हैं। उन लोगों को भयानक स्थानों में एक प्रकार का आनन्द आता है। भय की स्थिति में शरीर-रक्षा के अर्थ हमारे शरीर की शक्ति का भण्डार खुल जाता है और सब कार्य कुछ काल के लिये स्थगित हो जाते हैं और रुधिर-संचालनादि की क्रियाएँ जो कि शक्ति से सम्बन्ध रखती हैं तीव्र हो जाती हैं। भय और क्रोध के आवेग में लोग शक्ति से बाहर काम कर जाते हैं। बीभत्स में शक्तियों का विस्तार नहीं होता वरन संकुचन होता है। बीभत्स में भयानक की बराबर तीव्रता नहीं।

नवाँ अध्याय

बीभत्स-रस

वस्तु घिनौनी देखि सुनि, घिन उपजै जिय माहिं।
छिन बाढ़ै बीभत्स रस, चित को रुचि मिट जाहि॥

इस रस का स्थाई भाव जुगुप्सा है। मोह, अपस्मार, व्याधि तथा मरण इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। इसका रंग नीला और देवता महाकाल हैं। इसका आलम्बन माँस, रुधिर, मेदा, मल-मूत्र, दुर्गन्ध इत्यादि और उद्दीपन कृमि (कीड़े, मकोड़े) मक्षिकादि अत्यन्त मलिन एवं घृणोत्पादक पदार्थ हैं। इसके अनुभाव इस प्रकार हैं:—

मुख दृग नाक सिकोरिबो, नैन घूमिबो लेखि।
तुरत गमन ते अनुभवत, रस बीभत्स बिसेखि॥

बीभत्स-रस के उदाहरण देखिये:—

"मोटी भई चण्डी बिनु चोटी के दलन खाय"—

× × ×

भूषन बखाने भूरि भूतन के भौनन में,
टांगे चंद्रायतन सु लोथें लरकतु हैं।

× × ×

मार दुसासन फारि उर, रुधिर अंग लपटाइ।
आवत भीम तिन्हैं मिले, धर्मराज दृग नाइ॥

× × ×

अन्तावरी लै उड़त गीध पिशाच कर गहि धावहीं।
संग्राम पुर वासी मनहुँ बहु बाल गुड्डि उड़ावहीं॥
× × × ×

और भी देखिये:—

भाखा एक पिशाच दाँत मन खालरि फारत।
पीछे धरि निज गोद लोथ को खाल उतारत॥
पुट्टै कन्धे पीठ माँस पहिले सब खाई।
नौचत आँतैं नाड़ि आँख आव दाँत दिखाई॥
जो ऊँच नीच अब हाड़ में, लागो माँस तेहि चाव सन।
यह खैंचे खोपरी खात हैं, दरिद सरिस अति सचित मन॥
चरबी ऊपर चुरत ताप सन लोहू टपकत।
जरत चिता सन झपटि लोथ खैंचन हित लपकत॥
पैठि धुँआँ मह पकरि टांग तेहि बाहर लावत।
ढीले अँग के जोड़ मांस जबि नोच बहावत॥
गलि जंघ नली के बीच मँह, धारा सम गूदा बहत।
चुड़इल पिशाच करि घूम जब, ताहि पियत अति सुख लहत॥
× × ×

और लीजिए

आँतों के तार के मंगल कंगन हाथ में बाँध पिशाच की बाला।
कान में हालन के झुमका पहिरे उर में हियरान की माला॥
लोहू के कीचड़ सों उबटे सब अंग बनाये सरूप कराला।
पीतम के संग हाड़ के गूदे की मद्य पियें खुपरीन के प्याला॥
× × ×

मालती माधव

जाइ कपिन देखा सो वैसा, आहुति देत रुधिर अरु भैसा।
× × ×
कीन्हेसि वृष्टि रुधिर कच हाड़ा, बरसे कबहुँ उथल बहु छाड़ा॥

कादर-भयङ्कर रुधिर—सरिता बढ़ी परम भयावनी ॥

× × ×

बीर परे जनु तीर, मज्जा बह जनु फेन :
मज्जहिं भूत पिशाच बैताला ॥
काक कन्द लै भुजा उड़ाहीं । इकते एक छीनि धरि खाहीं ॥

× × ×

खैचहिं आँत गृद्ध तट भये । जनु बनसी खेलत चित दये ॥
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं । जिमि नावरि खेलहिं सरि मांहीं ॥

जगन्नाथदास रत्नाकर का स्मशानवर्णन और भी अच्छा है:—

कहूँ लागत कोऊ चिता कहुँ कोऊ जाति बुझाई ।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई ॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति ।
कहुँ चरबी सो चटपटाति कहुँ दह दह दहकति ॥
कहुँ फूँकन हित धर्‌यो मृतक तुरतहिं तहँ आयो ।
पर्‌यो अंग अधजर्‌यो कहूँ कोऊ कर खायो ॥
कहूँ स्वान इक अस्ति खंड लै चाटि चिचोरत ।
कहुँ कारो महि काक ठोर सो ठोकि टटोरत ॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत ।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत ॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बजारे ।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे ॥

× × ×

भये इकट्ठा आनि तहाँ डाकिन पिसाच गन ।
कूदत करत कलोल कलिक दौड़त तोड़त तन ॥
आकृति अति बिकराल धरे कुइला से कारे ।
बक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे ॥

कोऊ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दे ताली।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी को करि प्याली॥
कोऊ अँतिड़ी की पहिरि माल इतरात दिखावत।
कोऊ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लगावत॥
कोऊ मुण्डनि लै मानि मोद कन्दुक लों डारत।
कोउ रुण्डन पै बैठि करेजो फारि निकारत॥

भिखारी दास ने बीभत्स का इस प्रकार उदाहरण दिया है:-

बरषा के सरे मरे मृतकहु खात न,
घिनात करै मांसनि के कौर को।
जीवत बराह को उदर फारि चूसति हैं,
भावै दुर्गन्ध सो सुगन्ध जैसे बौर को॥
देखत सुनत सुधि करत हू आवे घिन,
साजै सब अंगनि घिनावने ही ठौर को।
मति के कठोर मानि धरम को तौर करै,
काम भी अघोर डरै परम अघोर को॥

× × ×

बीभत्स का उदाहरण होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मदिरा, माँस या रुधिर का ही वर्णन हो। जिस वस्तु से घृणा हो वही बीभत्स का विषय हो जाता है। यदि कोई निन्दनीय कार्य्य करें तो उसका कार्य बीभत्स रस का उत्पादक होगा। जहाँ पर शारीरिक या मानसिक कुरूपता का वर्णन हो उसको भी बीभत्स का अंग समझना चाहिये। नीचे के छन्द में दिया हुआ कर्कशा का वर्णन इसी कोटि का है। देखिये:—

सासु के विलोके सिंहनी सी जमुहाई लेइ,
ससुर के देखे बाघिनी सी मुँह बावती।

ननँद के देखे नागिनी सी फुफकारे बैठि,
देवर के देखे डाकिनी सी डरपावती ॥
भनत 'प्रधान' मोछें जारती परोसिन की,
खसम के देखे खांव खांव कर धावती ।
करकसा कसाइन कुबुद्धिनी कुलच्छनी ये,
करम के फूटे घर ऐसी नारि आवती ॥

कुबरी के प्रति जो गोपियों की उक्तियाँ हैं उन सब में बीभत्स मिला हुआ है । देखिये:—

आवति हैं हाँसी उपहासी कान्ह कथा सुनि,
किङ्करी को खासी मणि कीन्ही अवतंस की ।
फाँसी फसे ताहि की, उदासी रहै ताके बिन,
नासी सब लाज महाराज यदुबंस की ॥
भोरी मति भई कहा रावरी सिखाओ किन,
जोड़ी नहि बनै सुनौ ऊधो बकी हंस की ।
कहाँ सुखरासी ब्रजराज, शम्भु हृदै बासी,
जगत प्रकासी कहो कहाँ दासी कंस की ॥

एक घर का वर्णन देखिए :—

फूस नही फाँस नही छप्पर पै घास नहीं,
बड़ेरी नही बाँस तहाँ झींगुर झरा करैं ।
दिवार आर-पार हैं सुराख लाख चार हैं,
त्यों कोटिन प्रमान भूत भौन माँ फिरा करैं ॥
मकरी के मेल है बिछौती तहाँ रेल-पेल,
गिरगिट के खेल देख जियरा डरा करै ।
गोजर गिरो है साँप बिच्छू सिगरो है नाथ,
ऐसे ऐसे भौन हैं तो डेरा लै कहा करैं ॥

एक कुरूपिणी कर्कशा स्त्री का वर्णन देखिए—

होतहि प्रात जो घात करै नित पार परोसिन सों कल गाढ़ी।
हाथ नचावत मूंड़ खुजावति पौंर खड़ी रिस कोटिक बाढ़ी॥
ऐसी बनी नखतें शिखलौं ब्रज चंद ज्यों क्रोध समुद्र ते काढ़ो।
ईंट लिए बतराति भतार सों भामिनि भौन में भूत सी ठाढ़ी॥

× × × ×

लोहे की जेहरि लोहे की तेहरि लोहे की पाँव पएँजनि गाढ़ी।
नाक में कौड़ी औ काम में कौड़ी त्यों कौड़िन की गजरा अति बाढ़ी।
रूप मैं वाको कहाँ लौ कहौं मनो नील के माठ में बोरि कै काढ़ी॥
ईंट लिए बतराति भतार सों भामिनि भौन में भूत सी ठाढ़ी।

रसोई तपने वाले विप्र देवता का वर्णन देखिए:—

भात में लोन पहीत में पाथर डारि करै सब छूतिही छूकर।
माँगे हूँ सो परसै न कछू खल मैले महा मल को मनो सूकर॥
व्यंजन या विधि के हैं रचै मुख सौह किए मनौ आवत थूकर।
ए कबहूँ नहिं दूबर होत रसोई के विप्र कसाई के कूकर॥

ज़रा एक सूम के घर के पेड़ों का भी वर्णन श्रवण-गोचर कीजिए:—

चीटी व चाटति मूसे न सूँघत बास ते माछी न आवत नेरे।
आनि धरे जबते घर में तब ते रहे हैजा परोस को घेरे॥
माटिहु में कछु स्वादि मिले इन्हैं खाय सो ढूढ़त हर्र बहेरे।
चौंकि पर्‌यो पितु लोक में बाप सों पूत के देखे सराध के पेरे॥

ज़रा अब स्वयं सूम सम्राट का वर्णन देखिये:—

छेद हैं हज़ारन हज़ारन लगी हैं पाती,
मैलो गन्ध चीकटे सु चींथरा लपेटे हैं।

कारी-कारी हाड़ी फुटै पुरवा पतौवा दोना,
आपने सिराने बड़े जतन समेटे हैं ॥
'अम्बिका प्रसाद' कहैं इनसों बचावे ईस,
बाढ़े बार भालू कैसे कर में धुरेटे हैं ।
गाड्यो धन जामी में बिछाय राखी तापै, खाट
तापै रहैं लेटे ऐसे सूमन के बेटे हैं ॥

श्मशान आदि के वर्णनों में बीभत्स और भयानक में थोड़ा ही भेद रह जाता है । दुर्बल हृदय पुरुष के लिए वही भयानक हो जाता है जो कि हृष्ट पुष्ट निर्भय पुरुष के लिए बीभत्स होगा । भयानक में भयावह वस्तु से भाग कर आत्म-रक्षा की जाती है और बीभत्स में वस्तु को अपने से हटाकर या हटवा कर आत्म-रक्षा की जाती है । जो वस्तु हटाई नहीं जा सकती उससे स्वयं भागने का यत्न किया जाता है किन्तु बीभत्स में घृणित वस्तु घृणा करने वाले से नीच समझी जाती है । बीभत्स में भी भयानक की भाँति आत्म-रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो जाता है । जिन पदार्थों से घृणा की जाती है वह प्रायः शारीरिक वा मानसिक स्वास्थ के लिए हानिकारक होते हैं ।

भयानक में यद्यपि आत्म-भाव का ह्रास हो जाता है तथापि उसमें मनुष्य की शक्तियाँ केन्द्रस्थ हो जाती हैं और मनुष्य अपने में एक अपूर्व शक्ति का अनुभव करने लगता है । जो लोग भय वश भागते हैं वह अपनी शक्ति से अधिक काम कर बैठते हैं । क्रोध, वीर और भयानक में शक्ति का संचार होने लगता है । बीभत्स पदार्थों के सामने एक प्रकार से शक्ति का ह्रास हो जाता है । आज कल के मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध

किया है कि सुन्दर पदार्थों के अवलोकन से उदर के रस जो कि भोजनादि का पाचन करते हैं अधिक उत्पन्न होते हैं और भयानक तथा बीभत्स पदार्थों के सामने एवं क्रोध और शोक के आवेग में यह रस न्यूनता से उत्पन्न होते हैं। घर की सफाई, भोजन की सफाई एवं कपड़ों की सफाई से स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

बीभत्स के सम्बन्ध में यह भी प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि इसको रसों में स्थान नहीं देना चाहिए। एक दो आचार्यों ने इस रस को नवरस में स्थान नहीं दिया है। हिन्दी के आचार्यों में तोषनिधि ने बीभत्स को स्थान नहीं दिया है। आनन्द का अभाव, भयानक, करुणा और रौद्र में भी होता है, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि वास्तविक अनुभव और साहित्यिक वर्णन में भेद है। साहित्य में वर्णन होने के कारण उनका विभावन वा साधारणीकरण हो जाता है और उसीके साथ उसका भयावनापन वा घृणापन जाता रहता है और केवल आनन्द रह जाता है। घृणोत्पादक वस्तुओं का वर्णन घृणोत्पादक नहीं होता। यद्यपि उसे कोई आदमी यह नहीं चाहता कि घृणोत्पादक वस्तुओं का वर्णन ही लिखा या पढ़ा करें (उर्दू के कवि चिरकीन ने अपना नाम भी घृणात्मक रक्खा है। ऐसी प्रकृति वाले मनुष्य भी थोड़े ही होंगे) तथापि बीभत्स का वर्णन युद्ध की भयङ्करता को पुष्ट करने, अपने प्रतिद्वन्दियों के प्रति घृणा प्रकट कर उनसे प्रतीकार ले आत्मा को शान्त करने, बुरे को बुरा कहकर उसको दूर करने में समाज के साथ सहानुभूति प्रकट करने का आनन्द उत्पन्न करता है। जो लोग संसार

का त्याग कर आनन्द में मग्न रहना चाहते हैं उनके लिये सांसारिक पदार्थों की बीभत्सता उनके विराग में बड़ी सहायक होती है और उनके आनन्द का कारण बन जाती है। ज्ञानी लोग स्त्रियों की जो बुराई करते हैं उसमें बीभत्स की अधिक मात्रा रहती है। ऐसे स्थानों में बीभत्स में वैराग्य की पोशाक होती है। देखिये:—

सत्यत्वेन शशांक एष वदनी भूतो नवेंदीवर
द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यंगयष्टिः कृता,
किन्त्वेकं कविभिः प्रतारितमनास्तत्वं विजानन्नपि
त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दो जनः सेवते ॥

इसका पद्यानुवाद देखिये:—

नहिं शशांक सम वदन तिय नील जलज सम नैन।
अङ्ग कनक सम है नहीं, कोकिल सम नहिं बैन॥
कोकिल सम नहिं बैन, झूठ कवि उपमा दीन्ही।
जानत है सब भेद, तऊ पर आँखिन कीन्ही॥
हाड़ चाम मय नारि, मन्द मति निशि दिन सेवहिं।
करैं उपाय अनेक, ग्लानि चित्त नेक न देवहिं॥

इसी आधार पर बीभत्स रस के स्थाई भाव जुगुप्सा के दो प्रकार माने गये हैं। एक विवेकजा दूसरी प्रायिकी। इनके लक्षण इस प्रकार से हैं:—

विवेकजाः—रति विशिष्ट राघव भगत, उर विवेक ते जौनि।
घृना होइ देहादि में, है विवेकजा तौनि॥

प्रायिकीः—अति अमेध्य दुरगंध लहि, सब की सबही भाँति।
घृणा होति स्वाभाविकी, सो प्रायिकी लखाति॥

ऊपर का जो वैराग्यसम्बन्धी अवतरण दिया गया है, विवेकजा जुगुप्सा का उदाहरण है।

बीभत्स रस-सम्बन्धी वर्णन कभी कभी दया के भाव उत्पन्न कर समाज-सुधार में सहायक होते हैं। बीभत्स रसात्मक वर्णन घृणित पदार्थ की तुच्छता प्रकट कर आत्म-भाव की तुष्टि करते हैं, और इस प्रकार मनुष्य की प्रसन्नता के कारण होते हैं। साहित्यिक वर्णनों में कल्पना की पहुँच और वर्णन की यथार्थता हमारे आनन्द का कारण होती है। कवि की लेखनी की ही यह करामात है कि वह बीभत्स को भी आनन्दमय बना देती है। बाबू हरिश्चन्द्र जी ने जो काशी का वर्णन लिखा है उसमें बीभत्स की अधिक मात्रा है, किन्तु उसको पढ़कर मन में सुधार के भाव उत्पन्न होते हैं। वह समाज-सुधार के अर्थ ही लिखा गया है। देखिये:—

देखी तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी।
आधी कासी भाँड भँडरिया, बाभन औ सन्यासी,
आधी कासी रंडी मुंडी, राँड़ खानगी खासी॥
लोग निकम्मे भंगी, गंजड़, लुच्चे बे बिसवासी;
महा आलसी झूठे, सोहदे, बेफिकरे बदमासी।
मैली गली भरी कतवार से, सड़ी चमारिन पासी;
नीचे नल से बदबू उबले, मानो नरक चौरासी॥
फिरै उचक्का दै दै धक्का, लूटे माल मवासी;
कैद भए की लाज तनिक नहिं, बेसरमी नंगासी।
साहब के घर दौरे जावे, चंदा देइँ निकासी;
चढ़े बुखार नाम मन्दिर का, सुनतै होय उदासी॥

घर की जोरू लड़के भूखे, बनै दास औ दासी;
दाळ की मंडी रंडी पूजै, मानो इनकी मासी।
आप माल कचरैं छानैं उठि, भोरे कागावासी;
बाप की तिथि दिन वामन आगे धरैं सरा औ बासी॥
करि ब्योहार साख बाँधे मनु, पूरी दौलत दासी;
घाल रुपैया, काढ़ि देवाला, माल डकारैं ठासी।
काम कथा अमिरिति सी पीवैं, समुझैं ताहि बिलासी;
राम नाम मुँह से नहिं निकसै, सुनतै आवै खाँसी॥

दसवाँ अध्याय

अद्भुत रस

आहचरज देखे सुनै, विस्मय बाद जु चित्त।
अद्भुतरस विस्मय बढ़ै, अचल सचकित न मित्त॥

इस रस का स्थायी भाव आश्चर्य्य है। इसमें भी हास्य रस की-सी विपरीतता है, किन्तु अन्तर इतना ही है कि हास्य में विपरीतता साधारण होती है और उसका थोड़ा बहुत कारण भी ज्ञात रहता है; किन्तु आश्चर्य्य में हास्य की अपेक्षा विपरीतता अधिक होती है और उसका कारण नहीं ज्ञात होता। यदि उसका कोई कारण भी होता है तो दूसरे की भूल वा मूर्खता में नहीं, उसका कारण बिल्कुल लोकोत्तर ही होता है। आचार्य्य धर्मदत्त ने अद्भुत रस को इतनी महत्ता दी है कि उन्होंने इस रस को सब का मूलभूत कहा है। उनके मत से सब रस इस रस की शाखाएँ हैं क्योंकि इसमें सार चमत्कार है; और चमत्कार का सार अद्भुत रस ही है। देखिये:—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

इसमें इतना सार अवश्य है कि बिना थोड़ी बहुत लोकोत्तरता एवं अद्भुतता के चित्त का आकर्षण नहीं होता। चित्त को आकर्षण करने वाली वस्तु में विलक्षणता अवश्य होती है,

किन्तु उसके साथ उसमें हमारे हित तथा रुचि की बात भी अवश्य होती है; इसलिये रसों के भेद मानने पड़ते हैं। जिसको हास्य रस प्रिय नहीं होता उसको अद्भुत से अद्भुत हास्य आकर्षित नहीं कर सकेगा। अद्भुत रस में अद्भुतता या आश्चर्य्य की मात्रा ही विशेष होती है और रसों में चमत्कार चाहे जितना हो, परन्तु प्रधानता उसी के स्थायी भाव की होती है। विस्मय में हिताहित का विचार नहीं होता। दो विपरीत बातों के योग पर विचार करना ही विस्मय का मूल है। विस्मय के साथ भय एवं हास्य दोनों की सम्भावना रहती है। भय में बुद्धि लगाने का ज्यादा काम नहीं पड़ता है। हास्य में बुद्धि का काम रहता है। अद्भुत में भी बुद्धि का काम अधिक रहता है, वह स्वाभाविक नहीं है। अद्भुत के विस्मय में दार्शनिक और वैज्ञानिक भावों का उदय होता है। अद्भुत में विचार की बड़ी उत्तेजना रहती है। देखिये महात्मा तुलसीदास जी क्या कहते हैं ?

केसव कहि न जाए का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मन हि मन रहिये॥
सून भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिन लिखा चितरे।
धोये मिटै न मरै भीति दुख, पाइय इहि तनु हेरे॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माँहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
'तुलसिदास' परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

× × ×

और भी देखिये:—

लोकोत्तर कार्य आश्चर्य के उत्पादक होते हैं। गिरवर धारण से जो यशोदा माता को आश्चर्य हुआ इसका वर्णन देखिये:—

धरणीधर क्यों राख्यो दिन सात।
अतिहि कोमल भुजा तुम्हारी, चांपति यशुमति मात॥
ऊँचो अति बिस्तार भार बहु, यह कहि कहि पछतात।
वह अघात तेरे तनक तनक कर, कैसे राख्यो तात॥
मुख चूमति हरि कंठ लगावति, देखि हँसत बल-भ्रात।
सूर श्याम को केतिक बात यह, जननी जोरत नात॥

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर शुक-पिक-मृग-मद-काग।
खंजन धनुष चँद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मतिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छबि, उपमा ताको करत न त्याग।
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधारस, मानहु अधरन को बड़ भाग॥

यहाँ पर अद्भुतता वास्तविक कम है वर्णन चातुर्य से अद्भुतता आ गई है। विरोधाभास अलङ्कारों में भी साहित्यिक अद्भुतता रहती है इसी प्रकार कूट काव्य में भी होती है कबीरदास जी के वचनों में अधिक अद्भुतता रहती है। देखिये:—

कबीर को घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, पण्डित लादै बैल॥

सिर राखे सिर जात है, सिर काटे सिर सोय।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा होय॥

सत गुरु साचा सूरमा, नख-सिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर॥

सूरदास जी ने बहुत से कूट-पद लिखे हैं। उनमें ऊपरी दृष्टि से वह बातें आश्चर्य की दिखाई पड़ती हैं, किन्तु वास्तविक अर्थ लगने पर वह आश्चर्य नहीं रहता। जब तक आश्चर्य रहता है तब ही तक अद्भुत रस भी रहता है। यहाँ पर दो कूट दिये जाते हैं।

देखो दधि सुत में दधि जात।
एक अचम्भो सुन री सजनी रिपु में रिपू समात॥

ऊपर से देखने में यह बात आश्चर्य की मालूम पड़ती है कि 'दधि सुत में' दधि चला जावे, किन्तु इस कूट का अर्थ स्पष्ट करने पर यह साधारण सी बात हो जाती है। यह श्रीकृष्ण जी के दधि खाने का वर्णन है। 'दधि-सुत' चंद्रमा को कहते हैं। दधि समुद्र का भी नाम है। चंद्र से अर्थ चंद्र मुख का है। उसमें दधि जाता है। दधि को मुख में हाथ से रख रहे हैं। हाथ की उपमा कमल से दी जाती है। चंद्रमा कमल का शत्रु माना गया है। हाथ का मुख में जाना 'रिपु में रिपू समात' कहा गया है।

एक और उदाहरण लीजिये:—

देख री देख अद्भुत रीति।
जलज रिपु सों रिपु कियो, हित छाँड़ि दई अनीति॥
कीर कमठ कपोत कोकिल, कियो ढिग ढिग बास।
धनुष ऊपर तिलक रेखा, भयो न रिपु का भास॥

जलज माल सुढार ऊपर, निरखि मुदित अनंग ।
'सूर' स्याम निहारि यह छबि, भई मनसा पंग ॥

रिपु का रिपु से अनीति छोड़ देना हित करना अस्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु 'जलज रिपु' अर्थात् चंद्र (मुख चंद्र) की केश-कलाप जिसको चाहे चंद्रमा का शत्रु राहू समझा जावे, और चाहे बादल, मुख की शोभा को बढ़ाता है। यही शत्रु का हित करना है। सुए, कछुए, कबूतर तथा कोयल का एक ही स्थान में वास करना, साधारण रीति से अस्वाभाविक है क्योंकि कमठ जलचर है। सुए एवं कोकिल का एक साथ रहना नहीं जम सकता। किन्तु यहाँ पर 'कीर' का अभिप्राय नासिका से है और कमठ का पलकों से तथा कोकिल का वाणी से, कपोत का ग्रीवा से अर्थ है। इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। धनुष और बाण के होते हुए रिपु का त्रास न होना कठिन है। किन्तु यहाँ पर धनुष का अभिप्राय भौंहों से है तथा तिलक की रेखा की समता बाण से की गई है। इसमें केशकलाप जो शत्रु हैं उनको कोई भय नहीं है। कुछ संस्कृत के उदाहरण देखिये:—

जाता लता हि शैले जातु लतायां न जायते शैलः ।
अधुना तद्विपरीतं कनकलतायां गिरिद्वयं जातम् ॥
चित्रं कनकलतायां शरदिन्दुस्तत्र खंजनद्वयं ।
तत्र च मनोज धनुषी तदुपरि गाढान्धकाराणि ॥
अम्बुजमम्बुनि जातं नहि दृष्टं जातमम्बुजादम्बु ।
अधुना तद्विपरीतं चरणसरोजाद्विनिर्गता गंगा ॥

अर्थात् पर्वत में लता उत्पन्न होती है सोने की लता में पर्वत नहीं उत्पन्न होते। अब इसके विपरीत देखा जाता है कि स्वर्ण

की लता में दो गिर उत्पन्न हुए। मूल में जातु और जायते एक से शब्द आने से चमत्कार आ गया है वह भाषा में नहीं आ सकता।

कैसा आश्चर्य है कि स्वर्ण की लता में शरद का चन्द्रमा उदय हुआ उसमें दो खञ्जन (नेत्र) हैं वहाँ पर काम की कमान है और उसके ऊपर गाढ़ान्धकार है।

अम्बुज कमल अम्ब जल से होता है जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। यहाँ पर उसके विपरीत कमल (चरण) से जल (गंगाजी) निकला।

अनुभाव

साधुवाद उल्लास दृग, लहि प्रसाद गतिरोध।
तनु रुमाञ्च स्वरभंग ते, कीजै अद्भुत बोध॥

सम्भ्रम, साधुवाद, विस्मयोत्फुल्ल (विस्फारित) लोचन, रोमाञ्च गद्गद शरीर, ये सब अद्भुत रस की विशेषतायें हैं। हास्य में मानसिक क्रिया इतनी तीव्र नहीं होती, जितनी अद्भुत रस में हो जाती है। हास्य में इतनी विशेषतायें नहीं हैं। अद्भुत रस का रंग पीत है। देवता एक गन्धर्व है। रसकुसुमाकर में इसके देवता 'ब्रह्मा' माने गये हैं। गन्धर्वों का मुख घोड़े के समान होता है। अतः वे तो स्वयं अद्भुत रस के रूप ही होते हैं। इस रस का आलम्बन असाधारण पदार्थ और उद्दीपन उसके गुणों की महत्ता आदि हैं।

इस रस के एक दो उदाहरण देख लीजिये। एक कवि

हास्य रस के देवता के साथ गहरी चुटकी लेते हैं, जिसमें हास्य और अद्भुत मिश्रित आनन्द भरा है:—

स्थाणुः स्वयं मूल विहीन एव पुत्रो विशाखो रमणीत्वपर्णा ।
परोपतीतैः कुसुमैरजस्रं फलत्यभीष्टं किमिदम् विचित्रम् ॥

अर्थात् शिवजी अपने तो (स्थाणु) ठूंठ—हैं। उनके बेटे (गणेश जी) विशाख (शाखा-हीन) हैं, उनकी पत्नी भी (अपर्णा) बिना पत्ते वाली हैं। अन्य लोग (प्रेम-पुजारी) उन पर फूल (प्रेम-पुष्पाञ्जलि) चढ़ाते हैं। तो भी वे अभीष्ट फल के दाता हैं। किमाश्चर्यमतः परम् ?

इसीसे मिलता-जुलता एक भाव और है:—

साँप को कंकन माल कपाल जटान को जूट रही जटि आँतै ।
खाल पुरानी पुरानोई बैल सु और की और कहैं विष मातै ॥
पारवती निज सम्पति देखि कहै यह केशव संभ्रम तातै ।
आपुन माँगत भीख भिखारिन देत दई मुह माँगे कहाँते ॥

अब स्वर्गीय 'पूर्ण' कवि का अद्भुत रसविषयक एक कवित्त सुनिये:—

गगन बगीचे बीच बेत के चरत फूल,
मृग जल पी के लेत प्यास को बुझाई है।
कल्पना पुरी को ग्वाल गूँगो अरु पंगु एक,
डोलै संग बोलै बोल करन हँकाई है ॥
हवा के घड़े में दूध दुहि के अखंड जाको,
भित्ति वाले चित्रन को देत सब प्याई है।
भावी पुर माँझे देखो प्रात सों लगाय साँझ,
भाँति भाँति बछड़े बिआति बाँझ गाई है ॥

देखिए नेत्रों का क्या ही अद्भुततामय वर्णन है:—

आपु सिता सित रूप चितै चित श्याम शरीर रँगे रँग राते।
केशव कानन ही न सुनै सु कहै रस की रसना बिन बातें॥
नैन किधौं कोउ अंतरयामी री जानति नाहिन बूझति ताते।
दूर लौं दौरत हैं बिन पायन दूर दुरी दरसै मति जाते॥

रामायण में जहाँ भगवान रामचन्द्रजी ने माता कौशल्या को अपना अद्भुत विराट रूप दिखलाया है वहाँ मानसिक क्रियाओं की तीव्रता निरीक्षण करने योग्य है:—

गई जननी शिशु पहँ भय भीता।

× × ×

हृदय कम्प मन धीर न होई।

× × ×

इहाँ उहाँ दोइ बालक देखा।
मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा॥

× × ×

देखी राम जननी अकुलानी।
प्रभु हँस दीन्ह मधुर मुसकानी॥

× × ×

तनु पुलकित मुख बचन न आवा।
नयन मूँदि चरनन सिर नावा॥

× × ×

विस्मयवन्त देखि महतारी।
भये बहुरि शिशु रूप खरारी॥

अस्तुति करि न जाय भय माना।
जगत पिता मैं सुत करि जाना॥
× × ×

उपर्युक्त चौपाइयों में जो पाद-रेखाएँ हैं वह विस्मयवश कौशिल्या में जो अनुभाव उत्पन्न हुए हैं उनको सूचित करते हैं। और देखिये:—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥
× × × ×

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस, राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जो बूड़े सब अंग॥
× × ×

देखु कपोत के कंठ ते आली कढ़ै कल कोकिल को बर बैन री॥
× × × ×

वैष्णवाचार्यों ने चार प्रकार का अद्भुत माना है—दृष्ट, श्रुत, संकीर्तित और अनुमित। जो देखने पर आश्चर्य प्रकट किया जावे वह दृष्ट, जो लोकोत्तर कार्य सुनने पर आश्चर्य प्रकट किया जावे वह श्रुत, जो आश्चर्यवत् संकीर्तन किया गया हो वह संकीर्त्तित और जो घटना की अलौकिकता, पीछे अनुमान कर प्रकट किया जावे वह अनुमित कहलाता है।

दृष्टः—क्व स्तन्यगन्धि वदनेन्दु रसौ शिशुस्ते,
गोवर्धनः शिखररुद्धघनः क्व चापं।
भो पश्य सव्यकरकन्दूकिता चलेन्दुः,
खेलन्निव स्फुरति हन्त किमिन्दुजालः॥

हे यशोदे, देखो कहाँ तुम्हारा यह दुधमुँहा बच्चा और कहाँ

अपने शिखरों से बादलों को रोकनेवाला गोवर्धन पर्वत, देखो उस वाम कर में कन्दुक सा प्रकाशित हो रहा है। कैसा इन्द्रजाल-सा है।

श्रुत—अमित वीर गज रथ तुरङ्ग, राम पलक में मार।
सुन विस्मित वानर निकर, तंभित तन न सम्हार॥

संकीर्त्तित—खगपति रघुपति उदर मह, देखेउ भुवन अपार।
अजहु कहत विस्मित हृदै, अंगन जड़ता धार॥

अनुमित—सिंधु सेतु लखि देव रिषि, प्रभु महिमा अनुमानि।
तंभित तन विस्मय विवस, अति अचरज उर आनि॥

ग्यारहवाँ अध्याय

शान्त रस (अन्तिम रस)

तत्व ज्ञान समत्व करि, उपजै शान्त सुबुद्धि ।
शान्त सुरस सम बुद्धि बढ़ि, पछितायो मन शुद्धि ॥

श्री विष्णु धर्मोत्तर ग्रन्थ में शान्त की इस प्रकार व्याख्या की है:—

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु सशान्तः प्रथितो रसः ॥

अर्थात् जहाँ न सुख है, न दुःख, न द्वेष है, न मात्सर्य और जहाँ पर सब भूतों में समान भाव रहता है वह शान्त रस कहा जाता है। इसमें उद्वेग और क्षोभ न होने के कारण इस रस को बहुत से रसज्ञों ने विशेषकर भरतादि नाट्याचार्यों ने, रसों में स्थान नहीं दिया है। इस रस में कोई मन का विकार नहीं जाता। इससे चित्त को शान्ति मिलती है। चित्त की स्थिति शान्तिमयी हो जाती है तो भी मानसिक क्रियाएँ बन्द नहीं रहतीं। आनन्द में भी तो मानसिक क्रियाएँ हैं ! साहित्य-दर्पण में शान्त रस के सम्बन्ध में इस प्रकार विवाद उठाया है:—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोक्षावस्थामायेवात्मस्वरूपा पत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र संचार्या दीनामभावात्कथं रसत्वमित्युच्यते ।

अर्थात् न जहाँ दुःख है और न सुख, न चिन्ता और न द्वेष। राग और न कोई इच्छा, ऐसा सब भावों में शम की प्रधानता रखने वाले रस को मुनि जन शान्त रस कहते हैं। जब शान्त रस का ऐसा स्वरूप है तो वह आत्मा को शुद्ध बुद्ध दशा में प्राप्त हो सकता है। उस समय सञ्चारी आदि भावों की सम्भावना नहीं, फिर रस कहाँ से आया? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है:—

मुक्तविमुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन्संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥

एकाग्रचित्त योगी को भक्त कहते हैं। जिसे योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं एवं सब प्रकार के ज्ञान जिसके अन्तःकरण में भासित होने लगते हैं, उसे वियुक्त कहते हैं और जो अतीन्द्रिय विषय का ज्ञान करे वह मुक्त-विमुक्त कहलाता है। ऐसी अवस्था में जो योगी होते हैं उनको इस जीवन में पूर्ण शान्ति और शम प्राप्त हो जाता है। उस अवस्था में सञ्चारी भावों का होना असम्भव नहीं और उनसे रस की उत्पत्ति हो सकती है। शान्त रस में जो सुख का अभाव बतलाया गया है वह विषय-सुख का है। शान्त में सन्यास का सुख रहता है। सन्यास वा तृष्णाक्षय का जो सुख है वह सर्व सुखों के ऊपर है। कहा है कि—

यच्च कामसुखे लोके यच्च दिव्यं महत्सुखं।
तृष्णा-क्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

अर्थात् संसार में जो काम सुख है और जो स्वर्गादि का

दिव्य सुख है, तृष्णा के क्षय के सुख का सोलहवाँ हिस्सा भी नहीं है।

शान्त में यद्यपि उद्वेग नहीं है तथापि उसमें अलौकिक सुख रहता है और यही अलौकिक सुख ही रस है। इस रस को वैष्णव रसों में प्रथम स्थान दिया गया है। भरत मुनि ने जो शान्त को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया इसका कारण यह है कि शान्त का स्थाई भाव निर्वेद सञ्चारी भावों में आ जाता है, फिर उसके दुहराने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी।

शान्त रस का स्थाई भाव निर्वेद है। ज्ञान के विकास से सांसारिक पदार्थों में तिरस्कार-बुद्धि का होना निर्वेद कहलाता है। किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने धृति को इसका स्थाई भाव माना है। निर्वेद तथा जुगुप्सा में अन्तर है। जुगुप्सा में केवल चित्त की ग्लानि ही ग्लानि रहती है। जुगुप्सा अभावात्मक है। जुगुप्सा का त्याग सच्चा त्याग नहीं, किन्तु वैराग्य के साथ त्याग का आनन्द भी लगा हुआ है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि निर्वेद को शान्त का स्थाई माना है और सञ्चारी भाव में भी इसको स्थान दिया गया है; तब किस समय पर इसको स्थाई भाव माना जाय तथा कब सञ्चारी भाव माना जाय ? भक्तिरसामृत-सिन्धु में इस समस्या का इस प्रकार उत्तर दिया गया है।

निर्वेदो विषये स्थाई तत्वज्ञानोद्भवः स चेत्।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तौ व्यभिचार्यसौ ॥

अर्थात् निर्वेद जब तत्वज्ञान से उदय होता है तब वह उस

विषय में स्थाई माना जाता है और जब निर्वेद इष्ट वियोग तथा अनिष्ट प्राप्ति से होता है तब वह व्यभिचारी कहा जाता है।

जग अनित्यता त्याग मिति, गुरु उपदेश प्रचार।
कहैं शान्त अनुभाव है, वेदान्तादि विचार॥

इस रस का वर्ण शुक्ल है। देवता हैं इसके नारायण। आलम्बन है असार संसार की अनित्यता। उद्दीपन है सत्संग, योग-क्रिया, आचार्य्योंपदेश, वेदान्तविचार इत्यादि। मानसिक षट् विकारों से रहित हो जाना, कुवासनाओं में लिप्त न होना और अज्ञानान्धकार में भटकते न फिरना, बल्कि ज्ञान के विलास से इस मायावी संसार को तुच्छ और संदेह को क्षणभङ्गुर समझना ही शान्त रस का असली रूप है।

वैष्णव-आचार्यों ने चतुर्भुज श्यामस्वरूप विष्णु भगवान को इसका आलम्बन और भक्तों को आश्रय बतलाया है। उद्दीपन इस प्रकार बतलाए हैं।

वास विविक्त उपनिषद सुनिनो करिबो तत्व विचारा।
ज्ञान शक्ति परधान देखिबो विश्वरूप अधिकारा॥
ज्ञान भक्त कर संग ब्रह्ममख आदिक ज्ञेय सम्हारा।
शान्त सुरस के उद्दीपन ए साधारन दोउ धारा॥
सूंघ सुगंध पाद तुलसी की शंख नाद सुनि काना।
पुण्य शैल सर विपिन सिद्ध गंग तीर लखि पाना॥
विषय विनाश आपनो देखत काल वेग बलवाना।
इत्यादिक उद्दीपन एहू दासन हूँ मन माना॥

वैष्णवाचार्यों ने शान्त के अनुभाव इस प्रकार गिनाए हैं:—
नासिका के अग्रभाग में दृष्टिनिक्षेप, अवधूत की-सी चेष्टा,

चार हाथ स्थान देख कर फिर उसमें पैर को जोर से रखना, ज्ञान की मुद्रा दिखलाना अर्थात् तर्जनी एवं अँगूठे को मिलाने की मुद्रा धारण करना, जीवन-मुक्तों के प्रति आदर, निर्ममता, निरहङ्कारिता, मौन इत्यादि इत्यादि ।

शान्त रस के आलम्बनस्वरूप चतुर्भुज भगवान का इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

श्याम अकार लसैं भुज चार सुचारु महाघन आनन्दरासी ।
सागर जीवन रंगन को अभिराम सदा घन तेज प्रकासी ॥
आतम राम मुनीश्वर के कहुँ नयननिह के पथ होत विभासी ।
पूरण ब्रह्म महासुख ते तिन्ह मानस को हठि लेत निकासी ॥

अब शान्त रस का स्थाई भाव, निर्वेद जो कि वैराग्य के रूप में दिखाई पड़ता है तथा उसके उद्दीपन गिरि, तपोवन, उप-निषद् श्रवणादिकों के साहित्यिक वर्णन देखिये:—

वैराग्य

झूमत द्वार मतंग अनेक जँजीर जरे मद अम्बु चुचाते ।
ताते तुरंग मनोगति ते अति पौन के गौन इते बढ़ि जाते ॥
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकित बाहर भूप भरे न समाते ।
एते भये तो कहा 'तुलसी' जो ये जानकीनाथ के रंग न राते ॥

वैराग्य का एक अच्छा उदाहरण 'विशाल-भारत' में प्रकाशित एक लेख से उद्धृत करके दिया जाता है:—

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्यारे थइशूँ बाह्यंतर निर्ग्रंथ जो ।
सर्व सम्बन्धनूँ बन्धन तीक्ष्ण छेदी ने, विचर शूँ कब महत्पुरुष ने पंथ जो ।
सर्व भाव थी औदासीन्य वृत्तिकरी, मात्र देहते संयम हेतु होय जो ।
अन्य कारणे अन्य कशूं कल्पे नहीं, देहे पग किंचित मूर्छा नव जोय जो ।

सोई मुख जेहि चन्द बखान्यो। सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यो ॥
सोई भुज जो प्रिय गर डारें। सोई भुज जिन नर विक्रम पारें ॥
सोई पद जिहि सेवक वन्दत। सोई छबि जेहि देखि अनन्दत ॥
सोई रसना जहँ अमृत बानी। जेहि सुनि के हिय नारि जुड़ानी ॥
सोई हृदय जहँ भाव अनेका। सोई सिर जहँ निज बच टेका ॥
सोई छबि मय अंग सुहाये। आजु जीव बिनु धरनि सुहाये ॥
कहाँ गई वह सुन्दर सोभा। जीवत जेहि लखि सब मन लोभा ॥
प्रानहु ते बढ़ि जा कहँ चाहत। ता कहँ आज सबै मिलि दाहत ॥
फूल बोझ हू जिन न सहारे। तिन पै बोझ काठ बहु डारे ॥
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी। करत कपाल-क्रिया तिन केरी ॥
छिन हूँ जे न भये कहुँ न्यारे। तेहू बन्धु तन छोड़ि सिधारे ॥
जो दृग-कोर महीप निहारत। आजु काक तेहि भोज विचारत ॥
भुज बल जे नहिं भुवन समाए। ते लखियतु मुख कफन-छिपाए ॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे। गने काल सब एकहि लेखे ॥
सुभग कुरूप अमृत विष साने। आजु सबै इक भाव बिकाने ॥
पुरु दधीचि कोऊ अब नाहीं। रहे नाव हीं ग्रन्थन माहीं ॥

(अनित्यता)

कहाँ वे सुत नाती हय हाथी।
चले निसान बजाइ अकेले, तह कोउ संग न साथी ॥
रहे दास दासी मुख जोवत, कर मीड़े सब लोग।
काल गह्यो तब सब ही छाड्यो, धरे रहे सब भोग ॥
जहाँ तहाँ निसि दिन विक्रम कों, भट्ट कहत बिरदत्त।
सो सब बिसर गये एकै रट, राम नाम कहैं सत्त ॥

मन पछितैहसि अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम बचन अरु हीते ॥

सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बलीते।
हम हम करि धनधाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते॥
सुत वनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सब ही ते।
अन्तहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अब ही ते॥
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी ते।
बूझै न काम अगिनि "तुलसी" कहूँ विषय भोग बहु घीते॥

देखिये वर्तमान कवि पन्त जो क्या ही अच्छा चित्र खींचते हैं:—

हाय ! सब मिथ्या बात !—
आज तो सौरभ का मधुमास,
शिशिर में भरता सूनी सांस
वही मधुऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार

× × ×

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर मधुर संयोग
मिलन के पल केवल दो चार
विरह के कल्प अपार

× × ×

प्रात ही तो कहलाई मात,
पयोधर बने उरोज उदार
मधुर उर-इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार
छिन गया हाय ! गोद का बाल
गड़ी है बिना बाल की नाल

× × ×

अभी तो मुकुट बँधा था माँथ,
हुए कल ही हलदी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल;
हाय ! रुक गया यहीं संसार
बिना सिन्दूर अँगार !
वात हत लतिका वह सुकमार
पड़ी है छिन्नाधार !!

पश्चात्ताप

नाहिन आवत आन भरोसो ।
यहि कलिकाल सकल साधन तट है स्रम-फलनि फरोसो ॥
तप तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो ।
पायेहि पै जानिबो करम फल भरि भरि वेद परोसो ॥

आगम-विधि जप—जाग करत नर सरत न काज खरो सो ।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन, रोग वियोग धरो सो ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ मोह मिलि ग्यान विराग हरो सो ।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥

बहु मत सुनि बहु पन्थ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो ।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो ॥
'तुलसी' बिनु परतीत प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो ।
राम नाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो ॥

× × × ×

न चाराधि राधाधम माधवो वा, न वा पूजि पुष्पादिभिश्चन्द्रचूड़ः ।
परेषां घने बन्धने नीतकालो, दयालो यमालोक नेकः प्रकारः ॥

× × × ×

बाहन छोड़ि के दौरि के पायन चायन सों गजग्राह छुड़ायो ।
दीन की लाज निबाहिबे को जिन द्रौपदि चीरहिं जाइ बढ़ायो ॥
और कहां लो कहौं 'कमलापति' गिद्ध को आपनें धाम पठायो ।
हाय ! बड़े अपसोस की बात, तैं कैसे कृपानिधि को बिसरायो ॥

× × × ×

जो मेरे तन होते दोय ।
मैं काहू ते कछु नहिं कहतो, मोते कछु कहतो नहिं कोय ।
एक जु तन हरि विमुखनि के सँग रहतो देस विदेस ॥
विविध भाँति के जग दुख सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस ॥
एक जु तन सतसंग रंग रंगि, रहतो अति सुख पूर ।
जनम सफल कर लेतो ब्रज बसि, जहँ ब्रज जीवन मूर ॥
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु सु छिन छिन छीजै ।
नागरिदास एक तन ते अब, कहो कहा करि लीजै ॥

सबै दिन गये विषय के हेत ।
तीनों पन ऐसे ही बीते, केस भये सिर सेत ॥
आँखिन अँध श्रवण नहिं सुनियत, थाके चरन समेत ।
गंगा जल तजि पियत कूप जल, हरि तजि पूजत प्रेत ॥
राम नाम बिन क्यों छूटोगे, चन्द्र गहे ज्यों केत ।
"सूरदास" कछु खर्च न लागत, राम नाम मुख लेत ॥

× × × ×

मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै जनायो जग,
तब ते वे सह्यो दाम लोह कोह काम को ।
मन तिन ही की सेवा, तिन ही सों भाव नीको,
वचन बनाइ कहौ 'हौं गुलाम राम को' ॥
नाथ हू न अपनायो, लोक झूठी ह्वै परी पै,
प्रभु हू ते प्रबल प्रताप प्रभु नाम को ।

अपनी भलाई भलो कीजै तो भलाई, न तौ,
'तुलसी' को खुलै गो खजानो खोटे दाम को ॥

× × × ×

तेरो कह्यो करि करि जीव रह्यो जरि जरि,
हारी पाँय परि परि, तऊ तैं न की संभार ।
ललन बिलोकि देव पलन लगाये, तब,
यों कल न दीनो तै छलन उछलन हार ॥
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बंधाई,
आप बिधि बूड्यौ माँझ बाधा सिंध निराधार ।
ऐरे मन मेरे, तैं घनेरे दुख दीन्हे अब,
ए कैबार दै कै तोहि मूँदि मारौं एकै बार ॥
ऐसो जु हौं जानतौ कि जैहै तू विषै के संग,
ऐरे मन मेरे, हाथ पाँव तेरो तोरतों ।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहिं सुनी,
नेह सों निहारि हेरि बदन निहोरतों ॥
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चेतावनीन मारि मुह मोरतों ।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरै सों बाँधि,
राधावर-विरुद के बारिध में बोरतों ॥

(विमल-विचार)

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणाम् ।
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञाः ॥
येषां श्रीकृष्णलीला ललितगुणरसे सादरौनैव कर्णौ ।
धिक्तान्धिक्तान्धिगेतान्कथयति सततं कीर्तनस्थो मृदंगः ॥

× × × ×

अबलौं नसानी अब ना नसै हौं ।
राम कृपा भव निसा सिरानी, जागे फिर ना डसै हौं ॥
पायो नाम चारु चिन्तामनि, उर करते न खसै हौं ।
स्याम रूप रुचि रुचिर कसौटी, चित कंचन हि कसै हौं ॥
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसै हौं ।
मन मधुकर पन करि "तुलसी" रघुपति पद कमल बसैहौं ॥

× × × ×

तजो रे मन ! हरि-बिमुखन को संग ।
जिनके संग कुमति उपजति है परत भजन में भंग ॥
कहा होत पय पान कराए, विष नहिं तजत भुजंग ।
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान नहाए गंग ॥
खर को कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषन अंग ।
गज को कहा सरित अन्हवाये, धरे खेहि पुनि छंग ॥
पाहन पतित बाण नहिं बेधत, रीतो करत निषंग ।
'सूरदास' प्रभु कारी कामरी, चढ़त न दूजो रंग ॥

सबै दिन एक से नहि जात ।
सुमिरन ध्यान कियो करि हरि को, जब लग तन कुशलात ॥
कबहूँ कमला चपला पाकै टेढ़े टेढ़े जात ।
कबहूँ मग-मग धूरि टटोरत, भोजन को विलखात ॥
या देही के गर्व वावरो, तदपि फिरति इतरात ।
बादविवाद सबै दिन बीते, खेलत ही अरु खात ॥
हौं बड़, हौं बड़, बहुत कहावत, सूधे कहत न बात ।
योग न युक्ति ध्यान नहिं पूजा, वृद्ध भये अकुलात ॥
बालापन खेलत ही खोयो, तरुणापन अलसात ।
सूरदास औसर के बीते, रहिहौ पुनि पछितात ॥

× × × ×

महाराज भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' में शान्त रस के अच्छे से अच्छे उदाहरण उपलब्ध हैं। देखिये:—

(उदाहरण)

गंगा तीरे हिमगिरि शिलाबद्ध-पद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसन विधिना योगनिद्रागतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः,
संप्राप्स्यन्ते जरठ हरिणाः शृंगकण्डू विनोदम्॥

—श्री भर्तृहरि

भावार्थ:—जिस समय गंगा किनारे हिमालय की शिला-पर पद्मासन लगा कर बैठेंगे और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास में, विधि-पूर्वक, आँखें बन्द कर योग-निद्रा में प्राप्त होंगे तथा जब बूढ़े बूढ़े हिरण निःशंक होकर हमारी देह में रगड़ कर अपने सींगों की खुजलाहट मिटावेंगे, ऐसे सुदिनों का क्या कहना है! न जानें कब ऐसे सौभाग्य के दिन आवेंगे!

देखिये भक्त लोगों को व्रज-रज के लिये कैसा आदर और प्रेम है। ऐसा धार्मिक भाव निरभिमानता को उत्पन्न कर मनुष्य में शान्त भाव को स्थाई कर देता है।

कब वृन्दावन धरनि में चरन परेंगे जाय।
भौरि धूरि धरि सीस पै कछु मुखहू में पाय॥
पिक केकी कोकिल कुहुक, बन्दर वृन्द अपार।
ऐसे तरु लखि निकट कब मिलिहौं बाँह पसार॥
कबै झुकत मो ओर कों ऐहैं मद गज-चाल।
गर बाँहीं दीने दोऊ प्रिया नवल नंद-लाल॥

कब दुखदायी होयगो मोकों विरह अपार ।
रोय रोय उठि दौरिहौं कहि कहि नँद-कुमार ॥
नैन द्रवैं, जल-धार वह, छिन छिन लेत उसाँस ।
रैन अँधेरी डोलिहौं गावत जुगल उपास ॥
चरन छिदित काँटेन तें, स्रवत रुधिर, सुध नाहिं ।
पूँछत हौं फिरि हौं तहाँ, खग मृग तरु बन माहिं ॥
हेरत टेरत डोलिहौं, कहि कहि स्याम सुजान ।
फिरत गिरत बन सघन में, यों ही छुटि हैं प्रान ॥

× × × ×

और भी देखिये:—

जमुना-पुलिन-कुञ्ज-गहवर की, कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै, मधुरे-मधुरे गुँज सुनाऊँ ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलौं, बचे सीथ संतन के पाऊँ ।
'ललित-किसोरी' आस यही मम, बृज-रज तजि छिन अन तन जाऊँ ॥

उपनिषद्-श्रवण से भक्तों की जो गति होती है उसका वर्णन देखिये:—

ब्रह्म सभा बिन खेद बिराजत बैठि श्रुतिज्ञ सुविज्ञ सुखारी ।
गाय उठे कल बैनन ते श्रुति शासि कथा अभ्यथा स्वर भारी ॥
योगिन राज तपीश्वर ने सुनतै पुलके जल नैन प्रचारी ।
मापति लोग गये बिनहूँ तितही लहि आतम रंग अपारी ॥

× × × × ×

देखिए वासना त्याग के सम्बन्ध में सुन्दरदास जी क्या ही अच्छा कहते हैं । वासना का और आशा का क्षय हो जाना परमानन्द का प्रथम और प्रधान साधन है ।

गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ के देह सँवारी ।
मेघ सहै सिर सीत सहै तन धूप समै जु पँचागिनि बारी ॥
भूख सहै रहि रूख तरे पर "सुन्दरदास" समै दुख भारी ।
डासन छाड़िके कासन ऊपर आसन मारिकै आस न मारी ॥

× × × ×

केशवदासजी संसार-सागर से उबरने के लिये कैसा उपदेश देते हैं:—

पैरत पाय पयोनिधि में मन मूढ़ मनोज जहाज चढ़ोई ।
खेल तऊ न तजै जड़ जीव, जऊ बड़वानल क्रोध डढ़ोई ॥
झूठ तरंगनि में उरझै सो एते पर लोभ प्रवाह बढ़ोई ।
बूड़त है तेहि ते उबरै कह 'केशव' काहे न पाठ पढ़ोई ॥

× × × ×

देखिये महात्मा तुलसीदासजी संसार-रूपी भ्रम-जाल से मुक्त होने के लिये जीव का पुरुषार्थ और ईश्वर की कृपा दोनों ही आवश्यक बतलाते हैं ।

हे हरि, कवन जतन भ्रम भागै ।
देखत सुनत, विचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै ॥
भक्ति, ग्यान, वैराग्य सकल, साधन यहि लागि उपाई ।
कोउ भल कहउ देउ कछु कोउ असि, वासना हृदय ते न जाई ॥
जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव, कृपापात्र जन जागै ।
निज करनी विपरीत देख मोहि, समझि महा भय लागै ॥
जद्यपि भग्न मनोरथ विधि वस, सुख इच्छित दुख पावै ।
चित्रकार कर हीन जथा, स्वारथ बिनु चित्र बनावै ॥
हृषीकेश सुनि नाम जाउँ बलि, अति भरोस जिय मोरे ।
'तुलसीदास' इंद्रिय-सम्भव दुख, हरे बनिहि प्रभु तोरे ॥

दो एक वेदान्त विचार के उदाहरण देखिये:—

हे हरि, कस न हरहु भ्रम भारी ।
यद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥
अर्थ विद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गुसाईं ।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस, पर्‍यो कीर की नाईं ॥
सपने व्याधि त्रिविध बाधा जनु, मृत्यु उपस्थित आई ।
वेद अनेक उपाय करै जागे, बिनु पीर न जाई ॥
स्रुति गुरु-साधु-स्मृति-संमत यह, दृश्य सदा दुखकारी ।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥
बहु उपाय संसार-तरन कहँ, बिमल गिरा स्रुति गावै ।
'तुलसिदास' मैं मोर गये बिनु, जिउ सुख कबहुँ न पावै ॥

× × × ×

हे हरि यह भ्रम की अधिकाई ।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय संदेह न जाई ॥
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव, होइ कहहु केहि लेखे ।
कहि न जाय मृग बारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे ॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै ।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै ॥
अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी ।
सम संतोष दया विवेक तें, व्यवहारी सुखकारी ॥
'तुलसिदास' सब विधि प्रपंच जग, जदपि झूठ स्रुति गावै ।
रघुपति-भक्त संत-संगति बिनु, को भव त्रास नसावै ॥

× × × ×

अपुनपौ आपु नहीं बिसर्‍यो ।
जैसे श्वान काँच मन्दिर में, भ्रमि-भ्रमि भूँसि मर्‍यो ॥

हरि सौरभ मृग नाभि बसत है द्रुम तृण सूँघि मर्यो ।
ज्यों सपने में रंक भूप भयो, तस करि अरि पकर्यो ॥
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि के, आपुन कूप पर्यो ।
ऐसे गज लखि स्फटिक शिला में, दशननि जाय अर्यो ॥
मर्कट मुट्ठि छाड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्यो ।
'सूरदास' नलनी को सुवटा कहि कौने जकर्यो ॥

× × × ×

आनन्द-सिन्धु मय तव बासा । बिनु जाने कस मरसि पियासा ॥
मृग-भ्रम-वारि सत्य जिय जानी । तहँ तू मगन भयो सुख मानी ॥
तहँ मगन मज्जसि पान करि भय, काल जल नाहीं जहाँ ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल, भूलि अब आयो तहाँ ॥
निरमल निरंजन निरविकार, उदार सुख तैं परिहर्यो ।
निहकाज राज बिहाइ नृप इव, सपन कारागृह पर्यो ॥

अब जरा वर्तमान कवियों के कुछ उदाहरण देखिये:—

कविवर निराला जी ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को अपनी "तुम और मैं" नामक कविता में इस प्रकार बतलाते हैं:—

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग और मैं चंचल गति सुरसरिता ।
तुम विमल हृदय अच्छ्वास और मैं कान्त कामिनी कविता ॥

तुम प्रेम और मैं शान्ति ।
तुम सुरापान घन अंधकार
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति ।

तुम दिनकर के खट किरण जाल, मैं सरसिज की मुसकान ।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहिचान ॥

तुम योग और मैं सिद्धि ।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि ॥

अब ज़रा सुमनजी का 'अगाध की गोद में' देखिये:—

अगाध की गोद में !

चला जा रहा हूँ पर तेरा, अन्त नहीं होता प्यारे ।
मेरे प्रियतम ! तू ही आकर, अपना भेद बता जा रे ।
तेरे गाढ़े आलिङ्गन में, सब कुछ भूला जाता हूँ ।
हूँ टटोलता इधर-उधर पर, कहीं न तुझ को पाता हूँ ।
मुझको चूम-चूम कर यों तू, भागा सा क्यों जाता है ?
रे अगाध ! तू तो व्यापक है, दूर कहाँ हट जाता है ?
मुझको ज़रा चूम लेने दे, अपनी हविस मिटाने दे ।
भाग नहीं मेरी बारी यों, ज़रा पास आ जाने दे ॥

अब ज़रा मैथिलीशरणगुप्त जी के 'स्वयमागतं' को देखिये:—

तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर जाऊँ मैं ?
तेरी विभव कल्पना करके,
उसके वर्णन से मन भर के,
भूल रहे हैं जन बाहर के,
कैसे तुझे भुलाऊँ मैं ?

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर जाऊँ मैं ?
बीत चुकी है बेला सारी
आई किन्तु न मेरी बारी,
करूँ कुटी की अब तैयारी,
वहीं बैठ पछताऊँ मैं ।

तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर जाऊँ मैं ?

देखिये पन्त जी विश्व-आत्मा की किस प्रकार व्यापकता बतलाते हैं:—

एक औ बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान,
जगत के उर में छोड़ महान,
गहन-चिह्नों में ज्ञान !
परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर,
अभिनय करते विश्व-मञ्च पर तुम माया कर !
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुण तर,
पाठ सीखते सङ्केतों में प्रकट, अगोचर !
शिक्षास्थल यह विश्व-मञ्च, तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्त्तकी सुघर,
अखिल में व्याप्त सूत्रधर !

हिन्दी भाषा के साहित्य में शृंगार रस की प्रधानता बतलाई जाती है। यह बात कुछ अंशों में तो ठीक है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शृंगार की इतनी प्रधानता है कि उसके वृहत् उदर में सब रस विलीन हो जाते हैं। भारतवर्ष धर्मप्रधान देश होने के कारण यहाँ धर्म का साहित्य उतना ही बढ़ा-चढ़ा है। शृंगार रस की उन्नति का कारण एक मात्र यही है कि हिन्दी भाषा के साहित्य में अधिकांश रूप से राधाकृष्ण के प्रेम का वर्णन किया गया है और इस कारण उसने धार्मिक भाव धारण कर लिया है। ऐसा बहुत कम शृंगार का वर्णन है जो कि राधाकृष्ण के प्रेम से स्वतन्त्र हो! शृंगार की प्रधानता माने जाने का एक विशेष कारण यह है कि लोगों की रुचि प्रायः उस प्रकार की रही है और उन्होंने अपनी रुचि के अनुकूल साहित्य का ग्रहण एवं प्रचार किया है। वैसे और प्रकार के साहित्य को, और विशेष कर धार्मिक साहित्य की

हिन्दी भाषा में कमी नहीं। इसके साथ यह अवश्य मानना पड़ेगा कि शृंगार में भावों की प्रबलता अधिक होने के कारण उसके वर्णन में अधिक साहित्यिकता आ जाती है; किन्तु धार्मिक प्रवृत्ति वालों के हेतु शान्त रस में उतने ही आनन्द की मात्रा है जितनी कि शृंगार में। यद्यपि शान्त में इतने भावों का सम्मेलन नहीं होता जितना कि शृंगार में, तथापि जो कुछ भाव रहते हैं वह इतने प्रबल होते हैं कि वह मनुष्य को पागल बना दें। यहाँ तक कि आचार्यों ने उन्मत्त की-सी चेष्टा, शान्त रस के अनुभावों में, मानी भी है। मनुष्य जाति में शान्ति की खोज, सदा से चली आई है। यद्यपि उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ, उसको शान्ति की ओर से खींच ले जाती हैं और बार-बार पश्चात्ताप करने पर भी उसका मन उनकी ओर ही दौड़ता है और महात्मा-तुलसीदासजी के शब्दों में कहना पड़ता है कि—

"मेरो मन हरि हठ न तजै" *

तथापि विषय से मन ऊब जाता है और अन्त में वह चिर-

---

* मेरो मन हरि हठ न तजै।

निस-दिन नाथ! देउँ सिख बहुविधि, करत सुभाव निजै॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति, दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ, पुनि खल पतिहि भजै॥
लोलुप भ्रमत गृह पशु ज्यों, जहँ तहँ सिर पद-त्रान बजै।
तदपि अधरम बिचरत तेहि मारग, कहुँ न मूढ़ लजै॥
हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिध, अतिसय प्रबल अजै।
'तुलसिदास' बस होइ तबहिं जब, प्रेरक प्रभु बरजै॥

स्थायिनी शान्ति की ओर दौड़ने लगता है। जो लोग शहरों की कोलाहल और राज-नीति की काट-छाँट में पड़े रहते हैं वह जब कभी उससे छुटकारा पाकर ग्राम्य जीवन के स्वच्छन्द वातावरण में पहुँच जाते हैं तो उनको एक अलौकिक आनन्द होता है। यूरोपीय देशों में देहात्मवाद और यन्त्र-कला की प्रधानता होते हुए भी वहाँ भी लोग वर्तमान सभ्यता से ऊबते जाते हैं और यह कहते हैं कि यन्त्र-कला की उन्नति के साथ साथ मनुष्य की उन्नति नहीं हुई। यन्त्र-कला की उन्नति मनुष्य को अशान्ति की ओर लिये जा रही है। इसके बढ़ते हुए प्रवाह को रोकने की आवश्यकता है और मनुष्य को अपने मानसिक प्रवृत्तियों को शुद्ध तथा निर्मल बना कर विश्व-प्रेम और शान्ति-भाव को, स्थापित करना चाहिये। यूरोप में रवीन्द्रनाथ की कविताओं का आदर इस बात का प्रमाण है कि वहाँ पर भी धार्मिक भाव लुप्त नहीं हो गये। भारतवर्ष जहाँ कि विस्तृत वनस्थलों, निर्मलाकाश, हिमाच्छादित पर्वत, पुण्य-सलिल-प्रवाहिनी सरिताओं के संयोग में धार्मिक भावों की पुष्टि और वृद्धि हुई है, वहाँ से ऐसे भावों का ह्रास हो जाना अत्यन्त कठिन ही नहीं, वरन् नितान्त असम्भव है। यहाँ के जल-वायु में शान्तिमय जीवन की पोषण-सामग्री वर्तमान है। यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों की अनन्तता से ईश्वर की अनन्तता का विचार भली-भाँति, पुष्ट हो सकता है। यदि इस देश को किसी बात का गौरव है तो अपने धार्मिक भावों और उनके प्रचारकों पर। श्री रामचन्द्रजी और महात्मा बुद्ध का-सा त्याग, और दूसरे देशों में कम मिलेगा। जहाँ पर ऐसे धार्मिक आदर्श विद्यमान

हैं वहाँ पर शान्त रस के साहित्य का क्यों न विस्तार हो ? हमारे यहाँ जैसा उत्तम शान्तिमय जीवन का आदर्श महात्मागण स्थापित कर सके हैं वैसा अन्यत्र कम देखा जाता है। जब तक हमारे जीवन में त्याग और निरभिमानता न होगी तब तक धार्मिक भावों की पुष्टि नहीं हो सकती और जब तक वास्तविक रूप से हम "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का पाठ अपने हृदयंगत नहीं कर सकते हैं तब तक हमको फूल की पखरी-पखरी में और रज के कण-कण में परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। प्रायः जितना भक्ति-रससम्बन्धी साहित्य हैं वह सब शान्त रस में ही स्थान पाता हैं। जिस प्रकार अन्य रसों के अध्ययन से तत्-सम्बन्धी भावों की पुष्टि होती है। उसी प्रकार शान्त-रस-सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन से जीवन में धार्मिक भावों की उत्पत्ति होती है और उससे मनुष्य को शान्ति पहुँचती है। शान्त रस के आस्वादन निमित्त जैसे जीवनादर्श की आवश्यकता है, उसको महात्मा तुलसीदासजी इस प्रकार बतलाते हैं। ऐसा जीवन व्यतीत करने से मनुष्य केवल अपने ही में शान्त भाव स्थापित न कर सकेगा वरन् सारे संसार में इसके पुण्य प्रवाह का संचार कर देगा। देखिये—

कबहुक हौं यह रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते, सन्त सुभाउ गहौंगो॥
यथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सो कुछ न चहौंगो।
पर हित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि, तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन पर गुण अवगुण न कहौंगो॥

परिहरि देह जनित चिन्ता दुख, सुख सम बुद्धि सहौंगो।
'तुलसीदास' प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥

अन्त में अन्तिम रस, 'शान्त रस' का वर्णन करके यह नवरस निरत निबन्ध भगवती भारती की पुनीत प्रार्थना के साथ शान्त-होता है। अब नव-रस-निपुण पाठकों से यही नम्र निवेदन है कि वे शान्त चित हो यह शान्ति-पाठ स्मरण करते रहें।

प्रेम प्रतीत प्रचारि कै, मेटहु भ्रम दुख भाँति।
भगवन! व्यापे जगत में, सुन्दर अविचल शान्ति॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

बारहवाँ अध्याय

वात्सल्य-रस

लोकमात दैवत तहां, पद्मगर्भ सम रंग।
नेह थाइ वत्सल गनौ, तहँ विभाव सुत संग॥

बहुत से लोगों ने वात्सल्य रस को दसवाँ रस माना है। साहित्य-दर्पण में इसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्या शौर्य्यं दयादयः।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः॥
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः।

अर्थात्—प्रकट चमत्कार वाला होने के कारण बहुत से लोगों ने वात्सल्य को एक रस माना है। वात्सल्यतारूपी स्नेह इसका स्थायी है। पुत्रादि उसके आलम्बन हैं। बालक की चेष्टाएँ, उसका पढ़ना-लिखना, उसकी शूरता आदि यह उद्दीपन हैं। आलिङ्गन, अङ्ग-स्पर्श, शिर-चुम्बन, देखना, शरीर का पुलकायमान होना, आनन्दाश्रु आदि यह सब इसके अनुभाव हैं। अनिष्ट-शङ्का, हर्ष, गर्व, आदि सञ्चारी भाव हैं। इसका रंग कमल के गर्भ का-सा है और लोकमाता आदि देवियाँ इसकी देवता हैं। वात्सल्य की कोमलता के कारण उसका रंग कमल-

गर्भ का-सा माना गया है। वात्सल्य का प्राधान्य स्त्रियों में होने के कारण इसकी देवता देवियाँ मानी गई हैं। इसके उदाहरण कविताओं में अनेक स्थानों पर पाए जाते हैं। तुलसीदास और सूरदास जी के ग्रन्थों में पाठकों को अच्छे से अच्छे रस-पूर्ण उदाहरण मिलेंगे। शकुन्तला नाटक में भी दो अच्छे उदाहरण हैं। देखिये:—

मॉंगि खिलौना लैन को, जब हिं पसार्‍यो हाथ।
जालगुंथी सी आँगुरी, सब दीखीं एक साथ॥
मनहु खिलायो कमल कछु, प्रात अरुण ने आय।
नैकु न पँखुरिन बीच मैं, अन्तर परत लखाय॥

× × ×

सीस लसै कुल ही पग पैजनि मोतिन माल हिये रुचिरो है।
कान्ति कुमार लहै मुतियान की द्वैदतियाँ बतियाँ कहि सोहै॥
मात जसोमति गोद लिये बढ़ि मोद समातु नहीं मुख जोहै।
नन्द को नन्द अनन्द को कन्द निहारु री मोहन मो मन मोहै॥

जो लोग वात्सल्य रस को स्वतन्त्र स्थान नहीं देते उनके मत से वात्सल्य रस भाव के अन्तर्गत होगा। भाव की व्याख्या इस प्रकार की गई है:—

"सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।"
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

अर्थात् सञ्चारी भाव जब प्रधान रूप से प्रतीयमान होते हैं तब देवता, गुरु आदि के विषय में अनुराग एवं सामग्री के अभाव से रस रूप को अप्राप्त उद्‌बुद्धमात्र रति, हास आदि स्थायी, ये सब भाव कहलाते हैं। देवता, गुरु आदि में पुत्रादि आ गए और इनके प्रति रति, 'भाव' कहलावेगी। इस हेतु लोग

वात्सल्य को स्वतन्त्र स्थान नहीं देते किन्तु यह रस इतना प्राचीन, गम्भीर, व्यापक और चमत्कारपूर्ण है कि जिन लोगों ने इसको रसों में स्वतन्त्र स्थान दिया है, उनकी कृति अनुचित वा असमर्थनोय नहीं कही जा सकती। यह बात निर्विवाद है कि बहुमत ने इसे स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया है। यह बहुमत भी बड़ी दृढ़ भित्ति पर जमा हुआ है। इसको अधिकांश लोग शृंगार-रस के अन्तर्गत मानते हैं। यदि इसको पृथक् स्थान दिया जावे तो सख्य, दास्य, देश-भक्ति आदि अनेकानेक रसों को क्यों न स्वतन्त्र स्थान दिया जावे। कदाचित् वात्सल्य-रस को शृंगार के अन्तर्गत करना कुछ लोगों को भ्रमोत्पादक होगा। यदि शृंगार रस का संकुचित अर्थ लिया जावे तो वात्सल्य रस के स्थायी भाव 'नेह' और शृंगार रस की 'रति' में बड़ा अन्तर है। देवजी ने अपनी प्रेम-चंद्रिका में प्रेम पाँच प्रकार का माना है। देखिये:—

सानुराग सौहर्द अठ, भक्ति और वात्सल्य।
प्रेम पाँच विधि कहत अरु, कार्पण्य बैकल्प॥

देवजी के मन से शृंगार की रति और प्रीति दोनों ही प्रेम के प्रकारों में से हैं। सोमेश्वर जी ने वात्सल्य को रति का ही प्रकार माना है। देखिये:—

"स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषः। तेन तुल्ययोरन्योन्यं रतिः स्नेहः अनुत्तमस्योत्तमे रतिभक्तिः, उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यम्—इत्येवमादौ भावस्यैवास्वाद्यत्वमिति।" अर्थात् स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्य व्यक्तियों की परस्पर रति का नाम स्नेह, उत्तम में अनुत्तम की रति भक्ति और अनुत्तम में उत्तम की रति वात्सल्य कहलाती है।

शृँगार रस के उदार, व्यापक एवं विस्तृत अर्थ में यदि वात्सल्य रस का समावेश हो जाय तो कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं। जो नम्रता, कोमलता, सेवा-शुश्रूषा एवं आत्म-समर्पण के कोमल भाव स्त्री (पत्नी) के होते हैं वही माता के। यह नहीं कहा जा सकता कि किसके कम तथा किस के अधिक। स्त्री के लिये कहा भी है कि "भोज्येषु माता"। शरीर में भी मातृ-भाव और पत्नी भाव, दोनों का उदय, और प्रसार उर में होता है। ऐसे कई अवसर आये हैं जब कि स्त्रियों को पत्नी-धर्म एवं माता-धर्म में दुविधा पड़ जाती है। कहीं पर किसी की विजय हुई है और कहीं पर किसी की; और कहीं पर दोनों की।

भारतवर्ष की बहुत सी सती-साध्वी स्त्रियों ने अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा करने के लिये अपने बच्चों का हनन, अपनी आँखों के सामने, निर्दयी कामी पुरुषों के हाथ, देखा है। अंग्रेजी में एक 'अन्नाकरिनिना' (Anna Karenina) नामक पुस्तक, महात्मा टाल्स्टाय (Tolstoy) के एक उपन्यास का अनुवाद है। उसमें वात्सल्य रस को प्रधानता दिखलाई गई है। इस उपन्यास की नायिका 'अन्नाकरिनिना' किसी कारण पातिव्रत-धर्म से च्युत हो गई थी। इसके कारण उसे अपना घर छोड़ना पड़ा, किन्तु मातृ-धर्म उसमें प्रबल था। उसको अपने पहिले पति के घर आकर, दूसरे भेष में, बच्चों की दाई (धात्री) बन कर उनकी मृत्युपर्य्यन्त सप्रेम सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उसने मृत्यु-शैय्या पर अपना भेद खोल कर पति-देव से क्षमा-प्रार्थना की। भारतीय महिलायें अपने प्राणों की

आहुति देकर दोनों धर्म्मों की रक्षा करती हैं। माता के प्रगाढ़ प्रेम की यदि किसी से तुलना की जा सकती है तो केवल पत्नी के प्रेम से। दोनों भाव एक नहीं हैं, किन्तु एक से हैं। यह 'एक सा पन' इतना बढ़ा चढ़ा है कि एक कहे जावें तो कोई आश्चर्य न।

विलायत के लोगों के पति-पत्नीसम्बन्धी प्रेमालाप में कभी-कभी वात्सल्य की झलक आ जाती है। औरतें अपने पतियों से (Boys) लड़के कह देती हैं। मर्द भी अपनी स्त्रियों से (Girls) लड़की कह देते हैं। 'Darlins' (प्रिय) आदि शब्द बच्चों के लिए आते हैं और पति-पत्नी भी इनका व्यवहार आपस में करते हैं। विहारी ने भी इस दोहे में शृंगार एवं वात्सल्य का मिलन स्पष्ट किया है। यथा:—

> विहँसि बुलाय विलोक उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि।
> पुलकि पसीजति पूत को, पिय चूम्यो मुँख चूमि॥

वास्तव में विहारी ने वात्सल्य का अभाव करके शृँगार को प्रधानता दी है। माता ने बालक का चुम्बन इसलिये किया कि उसके मुख का चुम्बन पति ने किया होगा। क्या बालक स्वयं इसका अधिकारी नहीं था? पङ्खा या और किसी बेजान वस्तु के लिये ऐसा लिखा जाना समझ में आ सकता है किन्तु बालक के लिये ऐसी बात लिखने से तो शृँगार रस की अतिशयता प्रतीति होती है। वैसे तो प्राय: यह बात देखने में आई है कि जिन बच्चों की माताएँ मर जाती हैं उनके पिताओं का स्नेह, अपनी मृत स्त्रियों के स्मारक स्वरूप होने के कारण, द्विगुणित हो जाता है परन्तु यह और बात है। इसमें बच्चों के स्वतन्त्र अधिकार का तिरस्कार नहीं है। शृँगार को रति एवं वात्सल्य

का स्नेह—दोनों ही प्रेम के प्रकार होने से, एक दूसरे से समानता रखते हैं। इनमें कौन अधिक प्रबल है और कहाँ पर किसका आरम्भ होता है यह बतलाना लेखक की शक्ति के बाहर है। उत्तर रामचरित नाटक में रामचन्द्र जी ने 'कुश' से कहा है:—

अङ्गादङ्गाच्च्युत इव विजो देहजः स्नेहसारः,
प्रादुर्भूय स्थित इव बहिश्चेतनाद्यातुरन्ये।
सान्द्रानन्दक्षुभित हृदयप्रस्रवेनेव सृष्टो,
गात्रं श्लेषे यदमृतस्सस्त्रोतसा सिञ्चतीव॥

सत्य नारायण जी कृत इसका पद्यानुवाद देखिए:—

मो तन सों उत्पन्न किधौं यह बाल स्वरूप में नेह को सार है।
कै यह चेतना धातु को रूप करै कढ़ि बाहिर मंजु विहार है॥
पूरी उमंग हिलोरत हीय के आवको कैधौं लसै अवतार है।
जाही सों भेटि सुधा रस ले जनु सिंचत मो सब देह अपार है॥

वे पुनः लव से कहते हैं:—

परिणत कठोर पुष्करगर्भच्छद पीनमणरु सुकुमारः।
नन्दयति चन्द्र चन्दन निष्पयन्द जड़स्तवस्पर्शः॥❀

प्रेम सम्बन्धी प्रश्न अत्यन्त कठिन है। यह कौन कह सकता है कि नायक का प्रेम नायिका पर अधिक होता है या इसके विपरीत। वात्सल्य भाव में यह देखा गया है कि माता पिताओं

❀ इसका सत्यनारायण कृत पद्यानुवाद देखियेः—

नव ललित प्रफुलित कमल कोमल गर्भ दल अनुहार।
तव परस सुन्दर सरस सुखप्रद सुभग सुचि सुकुमार॥
घन सार चन्दन लेप सम सीतल दुचंद अमन्द।
मय अंग सों लगि देत प्रिय अनुपम परम आनन्द॥

का सन्तान के ऊपर अधिक प्रेम होता है। सन्तान के लिये इतना ही नहीं कि "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" बल्कि सन्तान की ओर से भी पितृ-भक्ति के अच्छे अच्छे उदाहरण मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि लड़के तथा लड़कियों में से कौन किसको अधिक प्यार करता है। कहते हैं कि लड़के पिता को अधिक प्यार करते हैं एवं लड़कियाँ माता से अधिक प्रेम रखती हैं। हाँ, कुछ अंश में यह बात ठीक हो सकती है। परशुराम ने पिता के कहने से अपनी माता को मार डाला था. किन्तु वास्तव में तो "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" ही की बात ठीक है। इसी प्रकार माताओं के लिये यही कहा जाता है कि वह पुत्रों की अपेक्षा पुत्रियों पर अधिक-तर स्नेह प्रकट करती हैं। विलायत में इसके विपरीत देखा जाता है। किन्तु वहाँ पर भी यही कहना पड़ता है कि "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"। वात्सल्य स्नेह बड़ा ही पवित्र, प्रगाढ़ एवं प्रबल है। इसे स्वतन्त्र स्थान दिया जावे तो कोई आश्चर्य नहीं। वात्सल्य भाव मनुष्य जाति में अधिक पाया जाता है। अन्य जीवधारियों की अपेक्षा मनुष्य को ही अपने माता-पिता का बहुत काल तक आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। मनुष्य का ही सम्बन्ध जीवन पर्य्यन्त रहता है। यद्यपि वात्सल्य भाव शृंगार का फलस्वरूप है तथापि वह फल इतना उत्तम और मधुर है कि उसके विना मूल वृक्ष सूना लगता है। दम्पत्ति एक दूसरे को पूर्ण सुख देने का पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी अपने प्रेम की पूर्णता के लिये किसी तीसरे की बाट जोहते हैं। इसकी पूर्णता होने पर ही दाम्पत्य प्रेम की पूर्णता होती है।

वात्सल्य रस के कुछ उदाहरण:—

गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचन्द्र जी और उनके भाइयों का कैसा सजीव वर्णन किया है।

तन की दुति श्याम-सरोरुह, लोचन, कंज की मंजुलताइ हरै।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरै॥
दमकै दतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल विनोद करैं।
अवधेश के बालक चारि सदा, 'तुलसी' मन मन्दिर में बिहरैं॥

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूँ रिस आइ कहैं हठि के, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेश के बालक चारि सदा, 'तुलसी' मन मन्दिर में बिहरैं॥

कविवर केशवदासजी कृत श्रीरामचन्द्रजी की बाल छवि का वर्णन भी देख लीजिए—

पीरी-पीरी पाट की पिछौरी कटि केशौदास,
पीरी पीरी पागैं पग पीरिए पनहियाँ।
बड़े बड़े मोतिन की माला बड़े बड़े नैन,
भृकुटी कुटिल नान्ही नान्ही बघ नहियाँ॥
बोलनि चलनि मृदु हँसनि चितौनि चारु,
देखत ही बनै पैन कहत बनै हियाँ।
सरजू के तीर तीर खेलै चारो रघुवीर,
हाथ द्वै द्वै तीर राती रातियै धनुहियाँ॥

रसखान जी श्रीकृष्णजी के बाल स्वरूप का वर्णन करते हुए काक का भाग्य सराहते हैं कि वह हरि के हाथ से माखन रोटी लेकर भाग जाता है।

धूरि भरे अति सोभित श्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरै अँगना पग पैंजनी बाजती पीरी कछौटी ॥
वा छबि को रसखानि विलोकनि वारत कामकला निज कोटी ।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सो लै गयो माखन रोटी ॥

देखिये कामता प्रसादजी गुरु 'बेटी की बिदा' का कैसा मर्मस्पर्शी वर्णन करते हैं। इस वर्णन को पढ़कर हृदय में वात्सल्य रस उमड़ पड़ता है।

प्यारी बहिन, सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खजाना;
है इस पर अधिकार तुम्हारे बेटे का मन माना।
रक्त माँस हड्डी, तन मेरा है यह बेटी प्यारी;
करो इसे स्वीकार, हुई यह अब सब भाँति तुम्हारी ॥

पूजे कई देवता हमने तब है इसको पाया;
प्राण समान पालकर इसको इतना बड़ा बनाया।
आत्मा ही यह आज हमारी हमसे बिछुड़ रही है;
समझाती हूँ जी को तो भी धरता धीर नहीं है ॥

वात्सल्य रस का जैसा अच्छा वर्णन सूरदासजी ने किया है वैसा शायद ही किसीने और किसी भाषा में किया होगा। उन्होंने बाल-मनोविज्ञानसम्बन्धी ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है।

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों, ह्वै है लम्बी मोटी।
काढ़त गुहत नहावत ओछत, नागिन सी भुँइ लोटी ॥
काचो दूध पियावत पचि पचि, देत न माखन रोटी।
'सूर' श्याम चिरजीवो दोऊ भैया, हरि हलधर की जोटी ॥

यशोदा बार बार यों भाखै ।
है कोई व्रज, हितू हमारो, चलत गोपालहिं राखै ॥
कहा काज मेरे छगन मगन को, नृप मधुपुरी बुलायो ।
सुफलक सुत मेरे प्राण हतन को, काल रूप है आयो ॥
इतने ही सुख कमलनयन, मेरी·अँखियन आगे खेलो ॥
बासर बदन विलोकत जीवों निसि निज अंक में लावों ।
तेहि बिछुरत जो जियों कर्मवश तो हँसि काहि कलावों ॥
कमल नयन गुण टेरत टेरत, अधर वदन कुम्हिलानी ।
'सूर' कहा लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नन्द जू की रानी ॥

देखिये चंद्र खिलौने के लिये श्रीकृष्णजी किस प्रकार मचलते हैं । कैसा हठ ठानते हैं । अपने अस्त्र-शस्त्र सब काम में ले आते हैं । देखिये कैसा ज़बरदस्त सत्याग्रह का नमूना है ?

चंद्र खिलौना लैहों मैया मेरी, चंद्र खिलौना लैहौं ॥
धौरी को पय पान न करिहौं बेनी सिर न गुथैहौं ।
मोतिन माल न धरिहौं उर पर झुंगली कंठ न लैहौं ॥
जैहों लोट अभी धरनी पर तोरी गोद न ऐहौं ।
लाल कहैहौं नन्द बबा को तेरो सुत न कहैहौं ॥
कान लाय कछु कहत यसोदा दाउहिं नाहिं सुनैहौं ।
चंदा हू ते अति सुन्दर तोहिं नवल दुलैया व्यैहौं ॥
तेरी सौंह मेरी सुन मैया अबहीं ब्याहन जैहौं ।
'सूरदास' सब सखा बराती नूतन मंगल गैहौं ॥

× × × ×

आधुनिक कवि सम्राट् डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने क्रीसैण्ट मून (Cresent Moon) अर्थात् दूज के चाँद में वात्सल्य-रससम्बन्धी कविता की भरमार की है । निम्नलिखित

चंद्रसम्बन्धिनी कविता सूरदास जी के 'चंद्र-खिलौना' का स्मरण दिला देती है और यह प्रमाणित करती है कि बाल-प्रकृति प्रत्येक देश तथा काल में सदा एक सी रहती है। देखिये—

"आंमी साधू बोले छिलाम—
कदम गाछेर डाले
पूर्णिमा-चाँद आट्का पड़े
जखन सन्धा काले
ताखिन की केउ तारे
धरे आनते पारे?"
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय 'खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका!
चाँद जे थाके अनेक दूरे
केमन करे छुंइ!'
आमि बोलि 'दादा तुमी
जानो ना बिच्छुइ!
मा आमोदेर हासे जखन
बइ जानलार फांके
तखन तुमि बोलबे कि मा
अनेक दूर थाके?
तनू दादा बोले आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका

बालक अपनी स्नेहमयी माता से कहता है:—

मैंने केवल इतना ही कहा था कि पूर्णमासी का चंद्रमा जिस समय कदम (एक वृक्ष का नाम) की डाल पर अटक कर रह

जाय उस समय कोई भी उसे पकड़ कर मेरे पास ले आवे। दादाजी मेरी बात पर मुस्कराते हुए बोले, "लल्ला, तेरे समान मूर्ख तो मेरे देखने में कहीं आया ही नहीं! चाँद यहाँ पर थोड़े ही रहता है कि मैं उसे छू लूँ? यहाँ से तो वह बहुत दूर है। दादाजी की बात सुनकर मैंने फिर कहा, 'दादाजी तुम तो कुछ भी नहीं समझ सकते हो। अच्छा यह तो बतलाओ, कि जब माँ उस झरोखे के दरवाजे में बैठती है और हम लोग उसे मुस्कराते हुए देखते हैं तब क्या तुम यह कहोगे कि माँ यहाँ से बहुत दूर रहती है? जब मैंने दादाजी से इस प्रकार कहा तब वह फिर बोले—वही बात उन्होंने फिर दुहराई "लल्ला, तेरे समान मूर्ख तो मेरे देखने में कहीं आया ही नहीं।"

ज़रा ग़ौर से तो देखिये कैसी बालोचित सरलोक्ति है।

अब ज़रा महात्मा सूरदासजी के दो वात्सल्य रस पूर्ण उदाहरण और देख लीजिये:—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तातु॥
गोरे नन्द जसुदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीजै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
'सूर' स्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

× × ×

संदेसो देवकी सों कहियौ ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, मथा करत नित रहियौ ॥
जदपि टेव तुम जानत उनकी, तऊ मोंहि कहि आवै ।
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हन्हि माखन-रोटी भावै ॥
तेल उबटनो अरु ताते जल, ताहि देख भगि जाते ।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते ॥
सूर पथिक सुनि मोंहि रैन-दिन, बढ़ो रहत उर सोच ।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन, ह्वै हैं करत सकोच ॥

× × ×

वाह रे सूरदासजी ! कहाँ तक प्रशंसा की जाय ! वात्सल्य रस तो एक एक अक्षर से टपक रहा है । धन्य कविता शक्ति और धन्यरी सूझ ! उपर्युक्त पद को पढ़ कर किस माता का हृदय पुत्र-प्रेम से नहीं उमड़ आवेगा ?

खड़ी बोली के सुविख्यात कवि अयोध्या सिंह उपाध्यायजी ने यशोदा का विरह-विलाप बहुत हृदयभेदी शब्दों में लिखा है । उसका थोड़ा सा नमूना यहाँ पर दिया जाता है:—

प्रिय पति, वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है,
दुःख जलनिधि डूबी का, सहारा कहाँ है ।
लख मुख जिसका मैं आज लों, जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है ॥
पल-पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी,
निशि-दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती ।
उर पर जिसके है सोहती मुक्त-माला,
वह नव नलिनी से नयन वाला कहाँ है ॥

जिस प्रकार वियोग शृंगार में दश दशाएँ होती हैं, वैसे

ही वात्सल्य के वियोग में भी दश दशाएँ होती हैं। महाराज दशरथ का पुत्र-वियोग में ही प्राणोत्क्रमण हुआ था। उस दशा का महात्मा-तुलसीदास ने क्या ही अच्छा वर्णन किया है।

हा रघुनंदन प्रान पिरीते, तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते।
हा जानकी लखनु हा रघुबर, हा पितु हित चित चातक जलधर॥
राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुवर विरह, राउ गए सुरधाम॥

यशोदा जी का निम्नलिखित विलाप मरण की ही संज्ञा में आवेगा।

हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणों के परम प्रिय हा! एक मेरे दुलारे॥
हा! शोभा के सदन-सम हा! रूप लावण्य वारे।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नैन तारे हमारे॥
कैसे हो के अलग तुझ से आज लों मैं बची हूँ!
जो मैं ही हूँ समझ न सकती, तो तुझे क्या बताऊँ!
हा जिऊँगी न अब पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार, मैंने न देखा॥

तेरहवाँ अध्याय

नवरसेतर रस

रस आनन्द को कहते हैं और यद्यपि आनन्द में भेद नहीं किया जा सकता तथापि उसके प्राप्त करने के कई साधन हो सकते हैं, कविता के रसों का आस्वादन करना एक प्रकार का साधन है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, आनन्द का मूल चित्त की एकाग्रता में है। जिस समय चित्त किसी एक विषय में संलग्न हो जाता है और इधर-उधर नहीं भटकता उस समय आत्मा अपने स्वाभाविक आनन्द को प्राप्त कर लेती है। आनन्द में भेद नहीं है। कोई चिरस्थाई, कोई अल्पस्थाई और कोई दुःख-परिणामी होते हैं तथा कोई उत्तरोत्तर आनन्द-दाई होते हैं। रस को जिस समय हम आनन्द-रूप देखते हैं उस समय उसके कोई विभाग करने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जब हम उन भिन्न भिन्न कारणों पर दृष्टि डालते हैं, जिनसे कि रस की उत्पत्ति होती है, तब हमको उनका भेद करना पड़ता है। जिन्होंने केवल एक ही रस माना है उन लोगों ने इस आधार पर माना है कि आनन्द का विभाग नहीं हो सकता। किन्हीं लोगों ने केवल शृंगार ही को एक रस माना है; और सब रसों को उसके प्रकार माने हैं। भवभूति ने करुण रस को ही एक रस माना है और सब रसों को समुद्र में उठने वाले बुलबुलों के समान माना है। देखिये:—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्, भिन्नः पृथक् पृथागिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुद्बुद तरङ्ग भयान् विकारा, नम्भो यथा सलिल मे तु तत्समग्रम् ॥

आनन्द वर्धनाचार्य ने अद्भुत रस को ही एक रस माना है, क्योंकि सब रसों में चमत्कारिता होती है और चमत्कारिता अद्भुत-रस का एक विषय है।

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्माद्द्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।

वैष्णवाचार्यों ने भक्ति को ही प्रधान रस माना है और अन्यान्य रसों को उसके प्रकार माने हैं। जिस आचार्य ने जिस रस को प्रधानता दी है उसका उसने मुख्य भाव लिया है और यह वास्तव में कहना कठिन है कि कौन सा रस, सब रसों का मूल है।

रसों के जो विभाग किए गए हैं उनके कई आधार हैं। किन्हीं आचार्यों ने रसों का विभाग वात, पित्त, कफ आदि मानव प्रकृति के आधार पर किया है; किन्हीं ने पञ्च-भूतों के आधार पर, किन्हीं ने सत, रज, तम के आधार पर और किन्हीं आचार्यों ने, दैवी, मानुषी, दैवादेव प्रकृति के आधार पर किया है। ये सब विभाग अपने अपने आधार के अनुकूल ठीक हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से इन सब रसों के मूल आधार आत्म-रक्षण में हैं। हमारी जितनी स्वाभाविक क्रियाएँ और जितने भाव हैं वह सब व्यक्ति और जाति के स्थिति के हेतु हैं। रसों के स्थाई भावों पर क्षणिक दृष्टिपात करने से हमको इस सिद्धान्त

की पुष्टि का प्रमाण मिल जावेगा। यदि हम कविता के स्वर्ग से उतर कर विज्ञान की दृढ़ भूमि के ऊपर थोड़ी देर के लिये पदार्पण करें तो हमको रसों के यह स्थाई भाव सब आत्म-रक्षा के प्रकार दिखाई पड़ेंगे। शृंगार का स्थाई भाव रति है। रति का सम्बन्ध सन्तति-प्रजनन से है जो कि एक प्रकार की जाति की आत्म-रक्षा है तथा व्यक्ति के सत्वों की भी आत्म-रक्षा है। हास्य और करुण भी इसीके सहायक हैं। करुण का आधार प्रेम में है क्योंकि प्रेम-वस्तु के ही अनिष्ट से करुण की उत्पत्ति होती है। जो वस्तु हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखती उसके अनिष्ट होने से करुण की उत्पत्ति नहीं होती। जब सहानुभूति के कारण करुण रस की उत्पत्ति होती है तब हमसे सम्बन्ध न रखने वाला भी पदार्थ सहानुभूति के कारण हमारा इष्ट व सम्बन्धी बन जाता है। प्रेम समाज व व्यक्ति की स्थिति व रक्षा के हेतु परमावश्यक है। हास्य का आधार यद्यपि प्रतीकार की इच्छा में है तथापि यह प्रतीकार के अल्प-साधनों से मृदु-तर है और सभी स्थानों में यह प्रतीकार का साधन नहीं। प्रायः यह आमोद-प्रमोद द्वारा परस्पर प्रीति की वृद्धि में भी सहायक होता है और इसी रूप में यह शृंगार का सहायक माना गया है। हास्य का फल स्वास्थ्य पर भी अच्छा होता है। यह हमारे मानसिक तनाव को ढीला कर चित्त को स्वस्थ कर देता है और इसी प्रकार आत्म-रक्षा का साधन बन जाता है।

सत्, रज, तम के आधार पर विभाग करने वाले आचार्यों ने रजोगुण अर्थात् रज से सम्बन्ध रक्खा है। शृंगार और करुण का राग से विशेष रूप से सम्बन्ध तो है ही और हास्य

का, शृंगार का सहायक होने से राग से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

दूसरा विभाग रौद्र, वीर और भयानक का आता है। इन तीनों का सम्बन्ध तमोगुण से है। इनके स्थाई भाव आत्म-रक्षा से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। हमको क्रोध तभी आता है जब हमारी किन्हीं इच्छाओं का अवरोध होता है और हम उस अवरोध के कारण को हटाने की इच्छा करते हैं। जब हम अपने को उस अवरोध के कारण को नष्ट करने में समर्थ समझते हैं और हमारा उत्साह इतना बढ़ जाता है कि हमारा चाहे मरण हो चाहे विजय हो हम अनिष्ट के कारण को हटा कर ही मानेंगे, वहीं पर वीर रस का प्रादुर्भाव होता है। भयानक वीर के विप-रीत है और इसका भी आत्म-रक्षा से सम्बन्ध है। जिस वस्तु से हमको अपनी हानि होने की आशङ्का होती है, उससे हम भागने की चेष्टा करते हैं; और भाग कर अपनी जान बचाते हैं। इनमें और भयानक में भी वीर की भाँति मनुष्य में एक अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव होता है; भेद इतना ही है कि वीर में वह शक्ति दूसरे को हटाने के काम में आती है और भयानक में वही शक्ति अपने को बचाने के काम में आती है।

बीभत्स, अद्भुत और शान्त इनमें शान्त-रस प्रधान है। अद्भुत तथा बीभत्स इसके सहायक हैं। इन तीनों रसों का सतो-गुण से सम्बन्ध है। शान्त रस का हमारी आध्यात्मिक आत्म-रक्षा से विशेष सम्बन्ध है। यह एक प्रकार आत्मा की चिर-स्थायिनी रक्षा के हेतु उद्योग है। बीभत्स का हमारे शारी-रिक और आध्यात्मिक रक्षा दोनों से ही सम्बन्ध है। जो पदार्थ

हमारे स्वास्थ्य के निमित्त अनुपयोगी होते हैं अथवा जो हत्या तथा मरण से सम्बन्ध रखते हैं वही प्राय: बीभत्स के विषय बनाते हैं। उन्हीं पदार्थों से बचने का हम उद्योग करते हैं। घृणा जब सांसारिक विषयों से विराग उत्पन्न कर देती है तब वह शान्त का साधन बन जाती है और आध्यात्मिक रक्षा का विधायक होती है। अद्भुत हमारे उस ज्ञान की पिपासा का फल है जो संसार में विरोध को नहीं देख सकती और उसकी व्याख्या कर संसार में साम्य देखना चाहती है। इस अद्भुत में हमारी शारीरिक एवं आध्यात्मिक रक्षा होती है, यही भौतिक विज्ञान का फल है और यही आध्यात्मिक ज्ञान का आधार है। Plato फ्लेटो ने कहा है।

"Philosophy begins in wonder."

अर्थात् दर्शन-शास्त्र का उदय आश्चर्य में होता है। हम संसार की नित्य परिवर्तन होने वाली परिस्थितियों से आश्चर्यान्वित हो कर ही संसार की व्याख्या करने के लिये उद्यत होते हैं। इस उद्योग में हम संसार की शक्तियों की व्याख्या कर उनसे लाभ उठाते हैं और अपना सांसारिक जीवन का सुखमय रीति से व्यवहार करते हैं। इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में माने हुए रसों का हमारे जीवन से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे मानसिक संस्थान के तीन विभाग माने गए हैं।

(१) ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला (२) भावों से सम्बन्ध रखने वाला (३) सङ्कल्प अथवा क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला। यदि इस आधार पर हम रसों का विभाजन करें तो ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले अद्भुत, हास्य और शान्त, ज्ञान अथवा बुद्धि

से सम्बन्ध रखने वाले ठहरेंगे। भावों से सम्बन्ध रखने वाले शृंगार, करुण, बीभत्स तथा रौद्र ठहरेंगे। क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले वीर एवं भयानक कहे जावेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि नवरस हमारे समस्त जीवन की आवश्यक्ताओं और प्रवृत्तियों के वर्णन के लिये पर्याप्त है या नहीं ? इसके निमित्त हमको मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के ऊपर विचार करना पड़ेगा। मैकड्यूबल साहब ने मनुष्य की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार गिनाई हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले मनोवेग भी बतलाए हैं, वे इस प्रकार से हैं।

Names of Instincts.	Names of Emotional Qualities.
1. Instinct of escape भागने की प्रवृत्ति अर्थात् भय से बचने की प्रवृत्ति	Fear भय अथवा डर
2. Instinct of Combat लड़ाई करने अथवा दूसरों के आविर्भूत की प्रवृत्ति	Anger क्रोध, झुंझलाहट, तेजी
3. Repulsion (हटाव, दूरीकरण)	Disgust (घृणा)
4. Parental (वात्सल्य रक्षा सम्बन्धी)	Tender Emotion (स्नेहादि कोमल भाव
5. Appeal (दूसरों से प्रार्थना करना)	Distress (दुःख, असह्यता का भाव)
6. Pairing (प्रजनन)	Lust (काम)
7. Curiosity (औत्सुक्य)	Curiosity (अद्भुत का भाव)
8. Submission (आधीनता)	Feeling of subjection (दैन्य)

9. Assertion (अस्तित्व स्थापन)	Elation (आत्म-श्रेष्ठता का भाव)
10. Social or gregrious instinct (सामाजिक)	Feeling of loveliness (मिलनेच्छा)
11. Food Seeking (भोजनोपार्जन)	Appetite or Craving (क्षुधा, इच्छा)
12. Acquisition (प्राप्ति)	Feeling of Owenership (अधिकार और सत्व स्थापन
13. Construction (निर्माण)	Feeling of Creativeness (काव्य-कला निर्माण का उत्साह)
14. Laughter (हास्य)	Amusement (प्रसन्नता)

ये सब प्रवृत्तियाँ रसों और उनके सञ्चारी भावों के अन्तर्गत की जा सकती हैं।

श्रृंगार—इसके अन्तर्गत न० ६,४ और १० की प्रवृत्तियाँ आती हैं।
हास्य— ,, ,, न० १४ ,, ,, ,, ।
करुण— ,, ,, न० ५ और ८ ,, ,, ,, ।
रौद्र— ,, ,, न० २ ,, ,, ,, ।
वीर— ,, ,, न० १,९ और १२ ,, ,, ,, ।
भयानक— ,, ,, न० १ ,, ,, ,, ।
अद्भुत— ,, ,, न० ७ और १३ ,, ,, ,, ।
बीभत्स— ,, ,, न० ३
शान्त—चूँकि यह निवृत्ति है अतः इसमें प्रवृत्ति के लिये कोई स्थान नहीं।

यद्यपि सब प्रवृत्तियाँ नवरसों के अन्तर्गत की जा सकती हैं तथापि मानव-जीवन कितना विस्तृत और संकुलित है कि मनुष्य

के भावों की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती; और इसलिये उन लोगों का उद्योग, जिन लोगों ने कि नव-रस के अतिरिक्त अन्य रसों को माना है, किसी प्रकार से हेय नहीं कहा जा सकता। वैष्णवाचार्यों ने भक्ति को प्रधान रस मानते हुए पाँच रस प्रधान तथा सात गौण माने हैं। देखिये:—

पूर्वमुक्ताद्द्विधा भेदान्मुख्यगौणतया रतेः।
भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा॥

× × ×

मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतः प्रेयाश्चवत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथा पूर्वमनुत्तमाः॥
हास्योद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि।
स बीभत्स इति गौणश्च सप्तधा॥

—भक्तिरसामृतसिन्धुः

इनके अनुकूल शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर (शृंगार) ये मुख्य रस हैं। हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स ये गौण हैं। इनका विशेष वर्णन परिशिष्ट में दी हुई तालिका में पाया जायगा। अंग्रेजी काव्य-ग्रंथों में दो रसों का विशाल (Sublime) और सुन्दर (Beautiful) का मुख्यतया वर्णन आता है। विशालता में एक प्रकार का सौंदर्य रहता है किन्तु उसमें बड़ेपन का भाव रहता है जैसे कि पर्वत, समुद्र, भीमान्धकार आदि के अवलोकन से होता है। इसमें भयानक की कुछ मात्रा रहती है; किन्तु वह भयानक ऐसा नहीं कि जिससे लोग भागना चाहते हों, वरन् वह ऐसा है जो कि हमारे आदर और प्रशंसा के भावों को उत्तेजित करता है।

यह भाव एक प्रकार से भयानक और अद्भुत का मिश्रण है। यह आवश्यक नहीं है कि विशाल का विषय आकार में ही बड़ा हो। यदि कोई छोटा व्यक्ति अपनी शक्ति से बाहर काम करता है तो वह विशाल का विषम बन जाता है। यदि कोई निर्धन मनुष्य अपना सर्वस्व प्रदान कर दे और वह सर्वस्व चाहे पाँच ही रुपए का हो तो उसका काम विशालता का विषय बन जायगा। हमारे यहाँ विशाल के वर्णन आते हैं तो या तो उद्दीपन विभाव सम्बन्धी प्रकृति के वर्णन में वर्णित होते हैं अथवा अद्भुत के सम्बन्ध में उनका उल्लेख होता है। विशाल का भाव शांत रस का उद्दीपक होता है। निर्जन वन, गगनारोही हिमाच्छादित पर्वत, नीलिमामय अनन्त आकाश, वर्षावारि-प्रमत्त कल-कल-निनादिनी सरिताएँ, वेगगति निर्झरों के निरन्तर प्रपात का घोर रव इन सब का वर्णन शान्त रस के सम्बन्ध में होता है। यह विशालकायी विषय है। इन सब पदार्थों में बृहत्ता के साथ एक प्रकार का सौंदर्य लगा हुआ है। जिसके कारण हम प्रभावित होकर उनको वारंवार देखने की इच्छा किया करते हैं।

सुन्दर वस्तुओं का वर्णन हमारे यहाँ शृंगार रस के आलम्बन उद्दीपन के सम्बन्ध में होता है। शृंगार रस की विवेचना करते हुए हम सुन्दर की भी विवेचना कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में हमको केवल इतना ही कहना है कि सौंदर्य का क्षेत्र मानवी सम्बन्ध में संकुचित कर देना ठीक नहीं। सहृदय दृष्टि से सभी पदार्थ सुन्दर दिखाई पड़ने लगते हैं। माता अपने बालक को कुरूप नहीं समझती है वरन् उसको सबसे सुन्दर ही मानती है। जो लोग संसार को विश्व-प्रेम के चक्षुओं से अवलोकन

करते हैं उनको निर्धन तथा जरजरित पीड़ाकुल पुरुष-स्त्रियों में ही एक अलौकिक सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है। उनकी दृष्टि में निर्धनता का गौरव मानवती के मान से अधिक गौरववान होता है। सौंदर्य के व्यापक क्षेत्र में काव्य-कला एवं समस्त संसार के जड़ चेतन पदार्थ आजाते हैं।

कविवर निरालाजी का 'एक भिक्षुक का वर्णन' देखिये:—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाँए से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना, दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।

× × ×

ठहरो, अहा! मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दुःख को, अपने हृदय में खींच लूँगा।

कवि को अपनी दृष्टि व्यापक रखने की आवश्यकता है; उसको पद-पद पर सौंदर्य का विषय मिल जायगा। वर्तमान-युग में भावों का ह्रास नहीं हुआ है! यद्यपि लोग समझते ऐसा अवश्य हैं। आजकल भी जब हम शकुन्तला नाटक में शकुन्तला

की बिदा का वर्णन पढ़ते हैं, अथवा रामचन्द्रजी के वियोग में दशरथ जी का विलाप सुनते हैं तो हमारा शरीर प्रेम से पुलकायमान हो जाता है। वर्तमान यन्त्र-कला-प्रधान युग ने भारतवर्ष में, केवल भारतवर्ष ही नहीं वरन् यूरप में भी अपना आतङ्क इस सीमा तक नहीं स्थापित किया है कि मानवी भावों को समूल नष्ट कर दे। आज-कल के कठिन कराल स्पर्धा के समय में भी, मानव प्राणी के हृदय की कोमलता बनी हुई है। यदि एक ओर घोर दूकानदारी है तो दूसरी ओर निस्वार्थ प्रेम; और इस प्रकार विश्व-भ्रातृत्व का प्रसार हो रहा है। वर्तमान युग में भावों का संकुचन नहीं हुआ है वरन् विस्तार ही हो रहा है। अन्य भावों के साथ आजकल दो भावों की प्रधानता है। दीन दलितों का आदर, स्वदेश-प्रेम एवं जाति-गौरव। जिस प्रकार और लोगों ने देव-भक्ति को एक स्वतन्त्र रस माना है उसी प्रकार आज-कल स्वदेश-भक्ति का साहित्य इतना बढ़ रहा है कि यदि उसे स्वतन्त्र रस मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। यद्यपि प्रेम के जितने प्रकार हैं वह सब शृंगार में आजाते हैं तथापि जिस प्रकार वात्सल्य, दास्य और सख्य आदि रस माने गए हैं उसी प्रकार देश तथा जाति को भी हम एक विशेष प्रकार के प्रेम का विषय बना कर एक स्वतन्त्र रस स्थापित कर लें तो वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा और इस विषय के बढ़ते हुए साहित्य को एक उपयुक्त स्थान मिल जायगा। यद्यपि बहुत सा साहित्य जो कि स्वदेश भक्ति के नाम से प्रचलित हो रहा है, संघर्षण के भावों से भरा हुआ है और साधारण कोटि का है तथापि उसमें बहुत सा ऐसी उच्च कोटि का साहित्य है जो

चिरस्थाई होने के योग्य है। प्रत्येक देश में कुछ बातें ऐसी होतीं हैं जो कि काल की परिधि से बाहर हैं। उसको राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तन स्पर्श तक नहीं करते। वह उसकी अटल कीर्ति और प्रशंसा का विषय बने रहते हैं। हमारी जाति के उच्च आदर्श, हमारे कोमल भाव, हमारे देश के शोभामय स्थल, हमारी प्रेममयी सभ्यता, यह सब चिर-काल तक हमारी प्रशंसा तथा कवि के कीर्तन का विषय बनी रहेंगी। रवीन्द्र बाबू की निम्नोल्लिखित कविता सारे देश में अनन्त समय तक गौरव एवं प्रेम के साथ पढ़ी जावेगी।

"आमि भुवन-मनोमोहिनी
आमि निर्मल सूर्यकरोज्वल धरणी।
जनक-जननी-जननी!
नील·सिन्धु जल·धौत चरण तल,
अनिल-विकम्पित श्यामल अञ्चल,
अम्बर·चुम्बित भाल हिमाचल।
शुभ्र·तुषार·किरीटिनी!

प्रथम-प्रभात-उदय तव गगने,
प्रथम साम-रव तप तपोवने
प्रथम प्रचारित तव वन·भवने
ज्ञान-धर्म कत काव्य-काहिनी

चिर कल्याण—मयी तुमि धन्य
देश·विदेश वितरिछ अन्न,
जाह्नवी यमुना निगलित करुणा,
पुण्य पीयूष·स्तन्य वाहिनी!"

इसीके टक्कर का वंशीधर पाठक कृत भारत-स्तव देखिये—

वन्दे भारत-देश सुदारम्, सुखमा·सदन सकल·सुख सारम्।
बोध-विनोद·मोद आगरम्, द्वेष·दुरापद·क्लेश·कुठारम्॥
कीरति·कलित करनि·कमनीयम्, धीर धुरीन धरनि-नमनीयम्।
संतत सुजन-कुमुद-बन-चंद्रम्, गौरव गहन गभीर पतंद्रम्॥
भाल विशाल हिमाचल भ्राजम्, चरन विराजित·अर्णव राजम्।
तप घृत-सहस-कोटि·कर बालम्, दुसह-दुराध·प्रताप विशालम्॥
शुचि प्रफुल्ल·वन-वसन·रसालम्, सुरसरि-लहरि·लोल उरमालम्।
अगनित-गगन-चुंबि-नग शिखरम्, तरनि अगम्य-गहन-घन·निकरम्॥

अब ज़रा पाठक जी का भारतोत्थान देखिये—

भारत, चेतहु नींद निवारो।
बीती निशा उदित भये दिन-मनि, कब कौ भयो सकारो॥
निरखहु यह शोभा·प्रभात वर, प्रभा भानु की अद्भुत।
किहि प्रकार क्रीड़ा·कलोल·मय विहग करहि प्रात-स्तुत।
विनस्यो तम-परिताप पाप संग नभ नखत्र बिलगाने॥
निशिचर खग भूधर तजि तजि सब भ्रमन भये इक आने॥
विकसे कुमुद, मधुर-मारुत-मदसने भौंर गुंजारत।
बाला, नवल·कमल-कोमल·बपु उठि निज केश संवारत॥

हम चाहे बिलकुल विदेशी रंग में रंग जावें तो भी अपनी भाषा का प्रेम एवं गंगा-जमुना आदि पुण्य सलिल-वाहिनी सरिताओं के अनुराग को त्याग नहीं सकते। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र कृत "नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक-सी सोहत" अथवा "तरुनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये" आदि ऐसे विशद वर्णनों के सुनने से हमारा जी फड़क उठता है। जिस प्रकार देश

का भौतिक सम्बन्ध हमारे गौरव का विषय है उसी प्रकार जाति के उच्च आदर्श भी हमारे आत्माभिमान को पुष्ट करते हैं। कवि को उन आदर्शों को जो कि वर्तमान रीति-रिवाज में प्रच्छन्न रूप से वर्तमान हैं, प्रकट कर देना चाहिये और वर्तमान हीनताओं तथा कुरीतियों का कान्ता के कोमल वचनों की भाँति मृदुल शब्दों में निराकरण करते हुए देश एवं जाति को श्रेय के पथ पर ले जाना चाहिये। रवीन्द्र बाबू हमारे सामने क्या ही उत्तम आदर्श रखते हैं। स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न कृत रवीन्द्र बाबू की एक रचना का पद्यानुवाद देखिये—

भगवन ! मेरा देश जगाना।
स्वतन्त्रता के उसी स्वर्ग में, जहाँ क्लेश नहिं पाना॥
रुचे जहाँ मन को निर्भय हो, ऊँचा शीश उठाना।
मिलै बिना कुछ खर्च किये ही, सबको ज्ञान खजाना॥
तंग परूले दीवारों का, बुना न ताना-वाना।
इसी लिये बच गया जहाँ का, पृथक् पृथक् हो जाना॥
सदा सत्य की गहराई से, शब्द मात्र का जाना।
पूरणता की ओर यत्न का, जहाँ भुजा फैलाना॥
विमल विवेक सुलभ स्रोते का, जो रसपूर्ण सुहाना।
रूढ़ि भयानक मरुस्थली में, जहाँ नहीं छिप जाना॥
जहाँ उदारशील भावों का, भावै नित अपनाना।
सच्चे कर्म-योग में प्रति जन, सीखें चित्त लगाना॥

× × × ×

यहाँ पर हिन्दी काव्य में—से उच्च भाव-मई स्वदेश प्रेम-सम्बन्धिनी कविताओं का उल्लेख कर देना कुछ अनुपयुक्त न होगा। देखिये—

जहाँ जन्म देता हमैं है विधाता,
उसी ठौर में चित्त है मोद पाता।
जहाँ हैं हमारे पिता, बन्धु-माता,
उसी भूमि से है हमै सत्य नाता॥

× × ×

जहाँ की मिली वायु है जीव दानी,
जहाँ का भिदा देह में अन्न पानी।
भरी जीभ में है जहाँ की सुबानी,
वही जन्म की भूमि है भूमि रानी॥

× × ×

लगी धूल थी देह में जो हमारी,
कभी चित्त से हो सकेगी न न्यारी।
बनाती रही देह को जो निरोगी,
किसे धूल ऐसी सुहाती न होगी?

× × ×

जिसे जन्म की भूमि भाती नहीं है,
जिसे देश की याद आती नहीं है।
कृतघ्नी महा कौन ऐसा मिलेगा,
उसे देख जी क्या किसीका खिलेगा?

× × ×

धनी हो बड़ा या बड़ा नाम धारी,
नहीं है जिसे जन्म की भूमि प्यारी।
वृथा नीच ने मान सम्पत्ति पाई,
बुरे के बड़े से हुई क्या भलाई॥

× × ×

जिन्हें जन्म की भूमि का मान होगा,
उन्हें भाइयों का सदा ध्यान होगा।
दशा भाइयों की जिन्होंने न जानी,
कहेगा उन्हें कौन देशाभिमानी॥
× × ×
कामताप्रसाद गुरु।

हमारी प्राचीन सभ्यता का उपाध्याय जी ने क्या ही अच्छा आदर्श दिखाया है देखिये—

ऋषि होते थे मनुज जहाँ के करते थे कुछ पाप नहीं,
पशु पक्षी तक क्षुधा-अनल का सहते थे संताप नहीं।
जहाँ आज भी पतित-पावनी बहती गङ्गा-धारा है,
सब देशों में पूत-पूज्य वह भारतवर्ष हमारा है॥
× × × ×

नश्वर समझ जगत को जिसने केवल दिया धर्म पर ध्यान,
यह अपनी, यह वस्तु अन्य की, ऐसा जिसको हुआ न ज्ञान।
प्राणों को भी देकर जिसने अपना धर्म उबारा है,
सब देशों में धर्म धुरन्धर भारतवर्ष हमारा है॥

पर पीड़न को पाप समझकर पर उपकार समझ निज धर्म,
दुष्टों के भी साथ आज तक जिसने किया न कुत्सित कर्म।
हिंसा-रहित दया से पूरित जिसकी नीति उदारा है,
सब देशों में स्वार्थ-शून्य वह भारतवर्ष हमारा है॥
× × × ×

मानव दानव दोनों ही का जिसने सुभग विभाग किया,
अध्यापक-अध्ययन कार्य में केवल जिसने भाग लिया।
विश्वोत्पत्ति प्रलय का कारण जिसने ठीक विचारा है—
सब देशों में ज्ञान-गेह यह भारतवर्ष हमारा है॥
× × × ×

धोखा देकर के परस्व का लेना आया जिसे नहीं,
चींटी तक को भी दुःख देना मन में भाया जिसे नहीं।
सदा न्याय के लिये सत्य का जिसने लिया सहारा है,
सब देशों में सत्य-सिन्धु वह भारतवर्ष हमारा है॥

× × × ×

शस्यश्यामला धरा सदा थी षट् ऋतुओं के साथ जहाँ,
पारस तक बँटते रहते थे नरनाथों के हाथ जहाँ।
सुरपति ने भी जिसके आगे आकर हाथ पसारा है—
सब देशों का मौलिमुकुट वह भारतवर्ष हमारा है॥

× × × ×

पं० रामचरित उपाध्याय।

गुप्त जी हमारी सभ्यता का चित्र इस प्रकार खींचते हैं:—

शैशव-दशा में देश प्रायः जिस समय सब व्याप्त थे,
निःशेष विषयों में तभी हम प्रौढ़ता को प्राप्त थे।
संसार को पहिले हमीं ने ज्ञान-भिक्षा दान की,
आचार की, व्यवहार की, व्यापार की, विज्ञान की॥
था गर्व नित्य निजत्व का पर दम्भ से हम दूर थे,
थे धर्म-भीरु परन्तु हम सब काल सच्चे शूर थे।
सब लोक-सुख हम भोगते थे बान्धवों के साथ थे,
पर पारलौकिक-सिद्धि भी रखते सदा थे हाथ में॥

यद्यपि सदा परमार्थ ही में स्वार्थ थे हम मानते,
पर कर्म्म से फल-कामना करना न थे हम जानते।
विख्यात जीवन व्रत हमारा लोक-हित एकान्त था,
"आत्मा अमर है, देह नश्वर" यह अटल सिद्धान्त था॥

बिकते गुलाम न थे यहाँ हम में न ऐसी रीति थी,
सेवक जनों पर भी हमारी नित्य रहती प्रीति थी।
वह नीति ऐसी थी कि चाहे हम कभी भूखे रहें,
पर बात क्या जीते हमारे जो कभी वे दुख सहें॥

थी दूसरों की आपदा हरणार्थ अपनी सम्पदा,
कहते नहीं ये किन्तु हम करके दिखाते थे सदा।
नीचे गिरे को प्रेम से ऊँचा चढ़ाते थे हमीं,
पीछे रहे को घूम कर आगे बढ़ाते थे हमीं॥

बा० मैथली शरण गुप्त—

अब ज़रा मातृभूमि की वन्दना सुन लीजिये:—

जय——जय——मातृ-भूमि———महान।
जय परम पावन पुहुमि परसिद्ध सकल जहान॥ जय०॥
विविध वर विद्या कला कौशल सुबुद्धि निधान।
ज्ञान की भव भूमि प्रकटित छिति कियो विज्ञान॥ जय०॥
उर्वरा धन-धान्य पूरित, विदित वैभव खान।
धनवती बहु गुणवती अवनी न तो सम आन॥ जय०॥
आर्यगण की पूजनीया पुन्य-भूमि प्रधान।
सभ्यता की पाठशाला भव्यता की सान॥ जय०॥
रत्न-गर्भा सत्य ही तव नाम दीप्त दिशान।
रत्न ऐसो कवन जो तू करि सकै न प्रदान॥ जय०॥
है अशेष यशावली दृश्यावली द्युतिमान।
भारती गुण-गाथ की कवि हार लीनी मान॥ जय०॥
धन्य तिनके भानु निशिदिनि करत तव गुण गान।
जयति जय जननी अखंडल विश्व-मण्डल जान॥ जय०॥

शान्ताचन्द्र जम्मड़—

देखिये पं० रामनरेश त्रिपाठी जी क्या कहते हैं—

जिस पर गिरकर उदर-दरी से जन्म लिया था।
जिसका खाकर अन्न सुधा-सम नीर पिया था॥
जिससे हमको प्राप्त हुए सुख-साधन सारे।
जिस पर हुए समाप्त हमारे पूर्वज प्यारे॥
वह पुण्य-भूमि भारत वही हम इसकी सन्तान हैं।
कर इसी की सेवा हृदय से पाये इसके सम्मान हैं॥

जिसके तीनो ओर महोदधि रत्नाकर है।
उत्तर में हिम राशि रूप सर्वोच्च शिखर है॥
जिसमें प्रकृति-विकाश रम्य ऋतु-क्रम उत्तम है।
जीव-जन्तु फल-फूल, रम्य अद्भुत अनुपम है॥
पृथिवी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है।
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है॥

× × ×

उठो, त्याग दें द्वेष एक ही सब के मन हों।
सीख ज्ञान-विज्ञान कला कौशल उन्नत हों॥
सुख, सुधार, सम्पत्ति शान्ति भारत में भर दें।
अपना जीवन इसे सहर्ष समर्पण कर दें॥
भारत की उन्नति-सिद्धि से हम सबका कल्याण है।
दृढ़ समझो इस सिद्धान्त को हम शरीर यह प्राण है॥

—पं० रामनरेश त्रिपाठी

स्वर्गीय पं० ब्रजनारायण "चकबस्त" ने भारत-रज की किस प्रकार वन्दना की है। देखिये—

ऐ ख़ाके हिन्द तेरी अज़मत में क्या हुआ है,
दरियायफ़ैज़ेकुदरत तेरे लिये रवां है।

तेरी जबी से नूरेहसनेअज़ल अयाँ है,
अल्लाह रे ज़ेबोज़ीनत क्या औज इज्जो शाँ है ॥
हर सुबह है यह ख़िदमत खुरशीदपुरज़िया की,
किरनों से गूँधता है चोटी हिमालिया की।

× × ×

इस ख़ाके दिलनशीं से चश्मे हुए वह जारी,
चीनों अरब में जिनसे होती थी आबयारी।
सारे जहाँ पै जब था वहशत का अब्रतारी,
चश्मो चिराग़ आलम थी सरज़मी हमारी।
शमएअदब न थी जब पूनां की अंजुमन में,
ताबाँ था महरेदानिश इस वादिए कुहन में॥

× × ×

गौतम ने आबरू दी इस मुआविदे कुहन को,
सरमद ने इस ज़मी पर सदके किया वतन को।
अकबर ने जामेउल्फ़त बख्शा इस अंजुमन को,
सींचा लहू से अपने राना ने इस चमन को।
सब सूर बीर अपने इस ख़ामें निहाँ हैं,
टूटे हुए खंडर हैं या उनकी हड्डियाँ हैं॥

× × ×

दीवारोदर से अब तक उनका असर अयाँ है,
अपनी रगों में अब तक उनका लहू रवाँ है।
अब तक असर में डूबी नाकूस की फ़ुग़ा है,
फिरदौसगोश अब तब कैफ़ीयते अज़ाँ है।
काश्मीर से अयाँ है जन्नत का रंग अब तक,
शौकत से बह रहा है दरियाय गंग अब तक॥

× × × ×

और भी देखिये—

यह हिन्दोस्ताँ है हमारा वतन,
मुहब्बत की आँखों का तारा वतन,
हमारा वतन दिल से प्यारा वतन ॥
वह इसके दरख़्तों की तैयारियाँ,
वह फल फूल पौधे वह फुलवारियाँ
हमारा वतन दिल से प्यारा वतन ।
हवा में दरख़्तों का वह झूमना,
वह पत्तों का फूलों का मुँह चूमना ।
हमारा वतन दिल से प्यारा वतन ॥
वह सावन में काली घटा की बहार,
वह बरसात की हल्की हल्की फुहार ।
हमारा वतन दिल से प्यारा वतन ॥
वह बाग़ों में कोयल वह जंगल के मोर,
वह गंगा की लहरें वह जमुना का ज़ोर
हमारा वतन दिल से प्यारा वतन ॥
इसी से है इस ज़िन्दगी की बहार,
वतन की मुहब्बत हो या माँ का प्यार ।
हमारा वतन दिल से प्यारा वतन ॥

पं० ब्रज नारायण "चकवस्त"

देखिये बाबू मैथिलीशरण गुप्त जी किस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक मातृ-भूमि से सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं ।
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण "धूल भरे हीरे" कहलाये ।

हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृ-भूमि ! तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में ॥

× × × ×

पाकर तुझ से सभी सुखों को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हम से होगा ?
तेरी ही यह देह तुझी से बनी हुई है,
बस तेरे ही सुरस-सार से बनी हुई है।
फिर अन्त समय तू ही इसे अचल देख अपनायगी,
हे मातृ भूमि ! यह अन्त में तुझमें ही मिल जायगी ॥

× × × ×

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भांति भांति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं।
औषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातुवर रत्नों वाली।
जो आवश्यक होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं,
हे मातृ-भूमि ! वसुधा, धरा तेरे नाम यथार्थ हैं ॥

× × ×

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है।
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है ॥
हे शरणदायिनी देवि ! तू करती सब का त्राण है,
हे मातृ-भूमि, सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है ॥

× × ×

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान ! कभी हम रहें न न्यारे।

लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे ॥
उस मातृभूमि की धूल में जब पूरे सन जायँगे,
होकर भव-बन्धन मुक्त हम आत्मरूप बन जायँगे ॥

बा० मैथिलीशरण गुप्त-

देखिये चौधरी जी अपने प्यारे देश का किस प्रकार वर्णन करते हैं—

हे हे प्रियतम स्वदेश !
लोक-विदित, वन्द्य देश !
वीर-वेश, आदि-सभ्य, विश्व-ज्ञान-दाता !
महिमा तव अति अपार,
पावें कविगण न प्यार ।
सृष्टि-द्वार, सुखमा-घर, आरत—जन—त्राता !
स्वामि ! पा 'विभूति' दास ।
रहते तुम क्यों उदास ?
व्यर्थ त्रास, निर्भय हो स्वर्ग-लोक-भ्राता !

महावीर प्रसाद चौधरी "विभूति"

अब जरा अछूत की आह का दिग्दर्शन कीजिये,

एक दिन हम भी किसी के लाल थे ।
आँख के तारे किसी के थे कभी ॥
बूँद भर गिरता पसीना देख कर ।
था बहा देता घड़ों लोहू कोई ॥

देवता—देवी अनेकों पूज कर ।
निर्जला रह कर कई एकादशी ॥
तीरथों में जा द्विजों को दान दे ।
गर्भ में पाया हमें माँ ने कहीं ॥

जन्म के दिन फूल की थाली बजी ।
दुःख की रातें कटीं सुख दिन हुआ ॥

प्यार से मुखड़ा हमारा चूम कर।
स्वर्ग-सुख पाने लगे माता-पिता ॥

हाय ! हम ने भी कुलीनों की तरह।
जन्म पाया प्यार से पाले गये ॥
जी बचे, फूले-फले तब क्या हुआ।
कीट से भी नीचतर माने गये ॥

जन्म पाया, पूत हिन्दुस्तान में।
अन्न खाया औ यहीं का जल पिया ॥
धर्म हिंदू का हमें अभिमान है।
नित्य लेते नाम हैं भगवान का ॥

पर अजब इस लोक का व्यवहार है !
न्याय है संसार से जाता रहा ॥
श्वान छूना भी जिन्हें स्वीकार है।
हैं उन्हें भी हम अभागों से घृणा ॥

छोड़ कर प्यारे पुराने धर्म्म को।
आज ईसाई मुसल्मो हम बने ॥
नाथ ! कैसा यह निराला न्याय है।
तो हमें सानन्द सब छूने लगे ॥

रामचन्द्र शुक्ल बी० ए०

देखिये गुप्त जी 'भारतवर्ष की श्रेष्ठता' का किन शब्दों में वर्णन करते हैं:—

भू—लोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीलास्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गङ्गाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ॥

हाँ वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है।
ऐसा पुराना देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान् की भव-भूतियों का यह प्रथम भाण्डार है।
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहिले यहीं विस्तार है॥

यह पुण्य भूमि प्रसिद्ध है इसके निवासी 'आर्य्य' हैं;
विद्या कला-कौशल्य सब के जो प्रथम आचार्य्य हैं।
सन्तान उनकी आज यद्यपि हम अधोगति में पड़े,
पर चिह्न उनकी उच्चता के आज भी कुछ हैं खड़े॥

—बा० मैथलीशरण गुप्त

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है नवरसों का हमारे जीवन से विशेष सम्बन्ध है। नवरसों की उपयोगिता, केवल काव्य सुधारस पान जन्य आनन्द में नहीं, वरन् मानव समाज के हृदय गत भावों के अध्ययन से जो जीवन-निर्वाह एवं परस्पर व्यवहार में कुशलता प्राप्त होती है, उसमें भी है। हमारे भाव अपूर्व शक्ति रखते हैं। अग्नि की भाँति उनका सदुपयोग तथा दुरुपयोग हमारी उन्नति और अवनति का कारण हो जाता है। भावों का नियमित रखना हमारी शिक्षा का एक विशेष अङ्ग है। हमको यह जानना चाहिये कि किस समय और कैसे मनुष्यों के साथ हमको अपने भावों का किस प्रकार उद्घाटन करना चाहिये। किन लोगों पर क्रोध करना चाहिये और किन लोगों पर वीरता दिखानी चाहिये; इस प्रकार के ज्ञान से हम जीवन में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अनुपयुक्त स्थानों में भावों का प्रकट करना केवल रसा भास ही नहीं होता है वरन् जीवन में संघर्षण तथा अशांति का कारण बन जाता है। यद्यपि

सौंदर्य के लिये उपयोगिता आवश्यक नहीं तथापि यदि इसके साथ उसका समावेश हो सके तो उपयोगिता हेय वस्तु नहीं है वरन् वह सोने में सुगन्ध का काम देती है। यदि हम नवरस के अध्ययन से काव्यरसास्वादन के अतिरिक्त अपने जीवन को सफल बना सकते हैं तो यह नवरस के लिये गौरव का ही विषय है। हम उपयोगिता के पक्षपाती बन कर रसास्वादन के आनन्द का महत्व घटाना नहीं चाहते। आनन्द ही स्वयं बड़ी भारी उपयोगिता है। जो वस्तु हमको व्यक्तिता की क्षुद्र परिधि से परे ले जाकर विश्व-प्रेम की व्यापकता में हमारे व्यक्तिगत दुःखों को भुला सकती है और हमको उच्च भावों तथा आदर्शों के आलोक में संसार के दुःख-मय दृश्यों में भी सुख एवं आदर्श की सुवर्ण-रेखा की झलक दिखा सकती है, उसका अनुशीलन परम श्लाघनीय तथा उपादेय है। कहा भी है—

"काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमतां।
व्यसनेन च मूर्खाणाम् निद्रया कलहेन वा" ॥

इस दृष्टि से प्रत्येक विचार वाले मनुष्य को नवरस का अध्ययन वाञ्छनीय है। अध्ययनकर्ता और कवियों तथा रचयिताओं के लिये कविता का द्वार खुला हुआ है। कवियों के लिये यह आवश्यक है कि वह जनता की रुचि के अनुकूल चलते हुए उसको उच्च बनाने का उद्योग करें एवं नई नई परि-स्थिति तथा आवश्यकता को देख कर उसके अनुकूल भावों को सहृदयता के साथ व्यक्त कर अपनी और अपने जातीय साहित्य की सजीविता का परिचय दें। साहित्य सजीव पदार्थों की भांति बढ़ता है। यदि हम अपना क्षेत्र प्राचीन विषयों में ही संकुचित

रखते हैं तो हम उसे बँधे हुए पानी की भाँति दूषित कर देवेंगे। प्राचीन कवियों का आदर करते हुए, उनकी कृतियों की सराहना करते हुए, उनकी अनुकरणीय बातों का अनुकरण करते हुए नवीन और उत्तरोत्तर वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति सत् साहित्य द्वारा करना प्रत्येक विचारशील मनुष्य का कर्तव्य है। सत्साहित्य की उन्नति तथा वृद्धि में देश, जाति एवं व्यक्ति का कल्याण है। आशा है कि हमारे कविगण अपने प्राचीन आदर्शों से प्रभावित होकर संसार के सम्मुख एक उच्च आदर्श स्थापित कर विश्व-विज्ञान-भाण्डार के आदान-प्रदान में योग देकर अपने को देश और जाति के गौरव तथा आदर का विषय बनावेंगे।

चौदहवाँ अध्याय

रसाभास और भावाभास

जहाँ पर रस और भाव अनुचित रूप से व्यवहृत हुए हों वहाँ पर वह रसाभास और भावाभास कहलाते हैं। जहाँ पर कि विभावादि सामग्री की पूर्णता न हो अथा पात्रा-पात्र दोष हो तो उसको अनौचित्य समझना चाहिये। यही अनौचित्य रसाभास एवं भावाभास कहलाते हैं। रसाभास और भावाभास का लक्षण कुलपति मिश्र इस प्रकार देते हैं :—

अनुचित है रस भाव जहाँ, तै कहिये आभास।
रसा भास तामें कहत, सुनिये सहित हुलास॥

साहित्य दर्पण में अनौचित्य की इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे॥
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधम पात्रगते तथा वीरे॥
उत्तम पात्र गतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।
भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्॥

अर्थात् यदि नायक को छोड़ कर किसी और पुरुष के प्रति नायिका की प्रीति हो अथवा गुरु-पत्नी आदिक में, अथवा अनेक

पुरुषों में वा ऐसी प्रीति जो केवल नायक में हो या नायिका में हो दोनो में न हो, अथवा नायक के शत्रु किम्वा नीच अयोग्य पात्र में जो प्रेम हो वह रति सम्बन्धी अनौचित्य के उदाहरण होंगे और वह शृंगार रसाभास के कारण बनेंगे। इसी प्रकार यदि गुरु आदि के प्रति क्रोध हो तो वह रौद्र रस में अनौचित्य का उदाहरण होगा। हीन पुरुष में शान्ति की स्थिति गुरु आदि पूज्य पात्रों के सम्बन्ध में हास्य, ब्राह्मण-वधादि निन्द्य कृत्यों अथवा अपने से नीच न्यून के प्रति बीरता दिखलाना वीर-रस में अनौचित्य का उदाहरण है। श्रेष्ठ पात्र हो कर भय के वशीभूत होना भयानक का अनौचित्य है।

राजा के विषय रति का उदाहरणः—

बैठे एक रूप चढ़ै लाख भाँति देखियतु,
साहि कै सदा रहै भरोसो जा के सार को।
सिंह जयसिंह को प्रतापी रामसिंह,
चंद्रभानु के प्रकाश अवतार किधौं मार को॥
देत देखि दान निशि वासर प्रमान विन,
थर थर काँपै हियो सोने के पहार को।
देवन के ओक नाग लोक महि-मण्डल में,
दीप दीप दिपै यश कूरम कुमार को॥

और देखिये—

जहँ लौं हिमालय के सिखर सुरधुनी कन सीतल रहैं।
जहँ लौं विविध मनि खंड मण्डित समुद दच्छिन दिसि बहैं॥
तहँ लौं सबै नृप आइ भय सों तोहि सीस झुकावहीं।
तिनके मुकुट मनि रंगो तुव पद निरखि हम सुख पावहीं॥

मुद्राराक्षस।

अनुद्‌बुद्ध स्थायीभाव का उदाहरण—

हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

जिस प्रकार चन्द्रोदय से जलराशि उमड़ आती है उसी प्रकार शिवजी का धैर्य कुछ विचलित हो गया और और बिम्ब-फल ऐसे अधरों से युक्त मुखारविन्द पर दृष्टि डालने लगे। यहाँ पर रति का उदय मात्र है।

भाव

भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शवलता ये सब रस की संज्ञा में आते हैं क्यों कि ये सब आस्वादन किये जा सकते हैं। रस तो भावों की परिपक्वावस्था को कहते हैं। जब भाव पूर्ण सामग्री सहित समुचित रीति से पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं तभी वह रस कहलाते हैं, किन्तु सब स्थानों में यह बात नहीं दिखलाई पड़ती; और जिस प्रकार पक्व भोजन के अभाव में अपक्व भोजन भी ग्राह्य होता है उसी प्रकार भाव, रसाभास, भावाभास इत्यादि रस की कोटि में आते हैं। साहित्य दर्पण में भाव का इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादि विषया रतिः ।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥

जहाँ पर निर्वेदादि सञ्चारी भाव जो कि रस के साथ गौण रूप से रहते हैं, प्रधानता पाकर रस का स्थान ले लेवें, अथवा देवता, गुरु, राजा आदि पूज्य विषयों में रति वा अनुराग (साधारणतया रति का भाव दाम्पत्य प्रेम में ही होता है) तथा जहाँ पर रति संचारी भावादि पोषक सामग्री के अभाव वा

अपूर्णता के कारण पूर्ण रस की संज्ञा को न प्राप्त कर उद्बुद्धावस्था में ही रहते हैं, वहाँ पर ये सब भाव कहलाते हैं।

संचारी भाव की प्रधानता का उदाहरण:—

यहै वृंदावन वेई मंजु पुंजनि में,
गुंजनि के हार फूल गहिनो बनायबो।
वैही भाँति खेलि खेलि संग ग्वाल बालनि कै
आनंद मगन भये मुरली बजायबो॥
मोरन की घोर मंद पवन झकोरे अरु,
वंशी वट तट बैठि सारंग को गायबो।
इतनो कहत वृज आँखन में आय गयो,
भूले राज काज भौन भीतर को जायबो॥

यहाँ पर वृज की मधुरस्मृति के साथ मोह सञ्चारी ध्वनि से प्रकट किया गया है। यहाँ पर मोह का भाव प्रधान है, राजकाज का भूल जाना और घर के भीतर जाना भूल जाना यही मोह के द्योतक हैं।

देव विषयक रति का एक उदाहरण:—

अरुण स्वरूप जातैं भये सब भूप सहि,
महिमा अनूप जग भूप सुखदाइयै।
शशि के प्रकाशन चकोरनि हुलासनरु,
कुमुद विकाशन गनक मत गाइये॥
सूरज सुजान कहि करुणा निधान कहि,
रवि चंड भान भास मान रट लाइयै।
जाको तेज रूढ़ ताहि सेय मति मूढ़,
गुन गाय गूढ़ उर आनँद समाइयै॥

कुलपति मिश्र।

और देखिये—

देवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक, प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौं ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

इसका पद्यानुवाद पोद्दारजी के काव्य-कल्पद्रुम से दिया जाता है।

दिवि में भुवि में निवास हो या, नरकों में नरकान्त! हो न क्यों या।
रमणीय पदारविन्द तेरे, मरते भी स्मरणीय होय मेरे॥

भाव शान्ति

जब एक भाव चल रहा हो उसी समय अन्य किसी विरुद्ध भाव के आ जाने के कारण पहले भाव की शान्ति हो जाने को भावशान्ति कहते हैं। भाव शान्ति का कुलपति मिश्र ने इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

सुनत वचन कछु और ते, पिय सों तकी रिसाय।
लखि ललचौंहैं लोचनन, भूलि गयो रिस भाय॥

यहाँ पर कोप की शान्ति होकर प्रेम का उदय हो गया है। जब लक्ष्मणजी के शक्ति लगी तब हनुमानजो सजीवन बूटी लेने को गये थे और उनको देर हो जाने से रामचन्द्रजी विलाप कर रहे थे उस समय हनूमानजी के लौट आने से करुणा का अंत हो गया था।

देखिए:—

प्रभु विलाप सुनि कान, विकल भए वानर निकर।
आइ गएउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीर रस॥

भावोदय:—

जहाँ एक भाव की शान्ति के पश्चात् किसी दूसरे भाव का

उदय होता है उसे भावोदय कहते हैं। भावोदय का कुलपति मिश्र ने इस प्रकार उदाहरण दिया है :—

काम कलानि प्रवीन लता उनई अबला रति रंग रह्यो।
गये सोय पिया कछु जागे तिया सपनों लखि पिय एक नाम कह्यो॥
चौक परी सहरावति कान अलौकिक बोल पर्‌यो न सह्यो।
छल सों पिय सीस ते ऐंचि भुजा मन माँझ मरोर सों मौन गह्यो॥

यहाँ पर सोते हुए नायक के मुख से अन्य स्त्री का नाम निकल जाने के कारण नायिका का भाव रति से ईर्षा में बदल जाता है। रति का भाव शान्त हो गया, ईर्षा का उदय हो गया। एक भाव के शान्त होने पर दूसरे भाव का उदय सहज में नहीं जाता। कभी-कभी दूसरे भाव के उत्तेजित करने के लिये साधन करना पड़ता है। जब एक भाव की प्रबलता रहती है तब दूसरा भाव उसके बराबर हो या उससे अधिक प्रबल न हो, तबतक पहिले भाव को दबा नहीं सकता। इस मनोवैज्ञानिक रहस्य को मातलि, जिसको इन्द्र ने अपने शत्रुओं के अर्थ दुष्यन्त को लाने के लिये भेजा था, भली भाँति जानता था। वह यह समझता कि दुष्यन्त शकुन्तला के वियोग में व्याकुल हो रहा है, कदाचित उसको प्रार्थना सुनी अनसुनी हो जावे। दुष्यन्त का दुःख, निस्सन्तान होने का स्मरण होने से, चरम सीमा को पहुँच गया था। इधर शकुन्तला को निस्सहाय अवस्था में छोड़ देने का उसको दुःख हो रहा था कि इतने में एक धनी सेठ के निस्संतान मर-जाने का संवाद सुना था। इसी बात से शकुन्तला परित्याग जन्य पश्चात्ताप पर सान सी चढ़ादी थी। ऐसी अवस्था में यदि मातलि इन्द्र का संवाद देता तो शोक भाव की तीव्रता के कारण उसके

मन पर कुछ भी असर न पड़ता। मातलि ने, दुष्यन्त के प्रिय सखा माढ़व्य को त्रास दिखाकर, उसकी चिल्ल-पुकार से दुष्यन्त में वीर भाव की जागृति कर दी थी। वीर-भाव के जागृत होने पर रणाङ्गण के लिये इन्द्र का निमन्त्रण ऐसा अग्राह्य न होता जैसा कि विरहावस्था में। उसी समय दुष्यन्त ने क्रोधवश हो धनुष-बाण चढ़ाया और कहा कि—

तो पापी को मारि, लैंगो दुजहिं बचाय यों।
जैसे लेत निकारि, हंस नीर तें दूध को॥

ऐसे ही सुअवसर पर मातलि जाकर निम्नलिखित शब्दों में निमन्त्रण देता है:—

दीन्हे तेरे अस्त्र को, हरि ने असुर बताय।
तिन ही पै किन लेहि तू, अपनो धनुष चढ़ाय॥
मित्रन पै छोड़त नहीं, सज्जन तीखे बान।
पै डारत नित प्रीत की, मृदुल दीठि सुखदानि॥

राजा दुष्यन्त के पूछने पर कि माढ़व्य को उसने क्यों सताया मातलि उत्तर देता है "किसी कारण आपको मैंने उदास देखा तब रोष दिलाने के लिये यह काम किया था। क्योंकि:—

इँधन के टारे बिना, बढ़हि न पावक लोय।
फण न उठावत नागहू, जो छेड़ो नहिं होय॥
नर न लेत अभिमान मन, विना क्षोभ कछु पाय।
कहियतु इन तीनोन के, बहुधा ये हि सुभाय॥

उपनायकनिष्ट रति का उदाहरण:—

आई हैं निपट साँझ गैया गई वन माँझ
ह्यांते दौरि आई मेरो कह्यो कान्ह कीजिये।

मैं तो हौं अकेली और दूसरो न देखियत
वन की अँध्यारी सों अधिक भय भीजिये ॥
कवि 'मतिराम' मन मोहन सों पुनि पुनि
राधिका कहत बात साँची ये पतीजिये ।
कब की हौं हेरति न हेरे हरि आवति हौं
बछरा हिरानो सो हिराय नेकु दीजिये ॥

बहुनायकनिष्ठ रति का उदाहरणः—

अंजन दै निकसै नित नयननि, मंजन कै अति अंग सँवारै ।
रूप गुमान भरी मग में पग ही के अँगूठा अनोट सुधारै ॥
योवन के मद सों, मतिराम भई मतवारिनि लोग निहारै ।
जात चली यहि भांति गली बिथुरी अलकैं अँचरा न सम्हारै ॥

× × ×

मोह मधुर मुसकानि सों, सबै गाम के छैल ।
सकल सैलबन कुञ्ज में, तरुनि सुरति की सैल ॥

अधम पात्र के प्रति रति का उदाहरणः—

जोबन जोम से बैठी जम्हाति निहारत नेह नयो उपजावै ।
रंग भरे सब अंग नये करि भंग अनंग तरंग उठावै ॥
तारकसी की निकासै वुरी कर लीन्हो पत्राई के पट्टे बनावै ।
चम्पत नैनि चमार की जाई चितौनि में चाम के दाम चलावै ॥

× × ×

अनुभयनिष्ट रतिः—जहाँ पर रति एक ही ओर से हो वहाँ पर शृँगार का आभास ही होता है । दूसरी ओर उदासीनता रस में अनरस उत्पन्न कर देती है । देखियेः—

दै दधि, दीनो उधार हो केशव, दानी कहा जब माल लै खैहैं ।
दीन्हे बिना तो गई जु गई, न गई न गई घर ही फिर जैहैं ॥

गो हित बैरु कियो, हित हो कब बैर कियो बरु नीके ही रैहैं।
बैर कै गोरस बेचहुगी, अहो बेच्यो न बेच्यो तो ठौर न दैहैं॥

इस छंद में श्रीकृष्ण जी का और गोपी का सम्वाद है। श्रीकृष्ण जी माँगते हैं वह इन्कार ही करती जाती है। वह प्रेम का दावा करते हैं, वह कहती है, हमारा तुम्हारा प्रेम ही नहीं है। श्रीकृष्णजी कहते हैं कि दधि दे, वह कहती है, क्या मैं उधार दूँगी अर्थात् बिना दामों के न दूँगी। वे फिर कहते हैं कि तू दानी कैसी जो हम मोल लेकर खावेंगे; हम तो बिना मोल लिये ही कर स्वरूप दही माँगते हैं। यदि तू न देगी तो आगे जाने भी न पावेगी। गोपी कहती है, न गई तो क्या? घर ही लौट जाऊँगी। वे कहते हैं कि घर लौट जाओगी तो मानों हम से हित तोड़ दिया और तुमने मुझसे बैर कर लिया है। इस पर देखिये गोपी क्या ही शुष्क उत्तर देती है, हमारा तुम्हारा हित ही कब था? बैर हो जाने मे अच्छे ही रहूँगी; तुम्हारी छेड़ छाड़ से तो बच जाऊँगी। श्रीकृष्णजी कहते हैं कि हमसे बैर कर क्या गोरस बेच पाओगी? वह कहती है कि बेंचूँ चाहे न बेचूँ मैं फेंक न दूँगी अर्थात तुमको देना फेंक देने के बराबर है। इसमें रस की उत्पत्ति नहीं होने पाती। हम चाहे गोपी के उत्तर पर प्रसन्नता प्रकट करें, किन्तु इसमें शृँगार का भाव उदय नहीं होता।

रौद्र रसाभास का उदाहरणः—

अर्जुन ने जो एक बार युधिष्ठिर के प्रति गाण्डीव धनुष की निन्दा करने के कारण क्रोध किया था वह रौद्र-रसाभास

का उदाहरण है, क्योंकि बड़े भाई के प्रति क्रोध करना अनौचित्य में शामिल है। उस समय का वर्णन नीचे के श्लोक में है।

> रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तराङ्गो मुहु-
> र्मुक्त्वाकर्णमपेतभीर्धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः।
> आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीर्तय-
> न्नंसास्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः॥

अर्थात् जिसके बाहर से निकले हुए बड़े २ नेत्र कोप से लाल हो रहे थे, जिसका सर बार २ कम्पित हो रहा था वह अर्जुन, अपने धनुष की युधिष्ठर की कटूक्तियों द्वारा बुराई सुन सुन कर उत्तेजित हुआ, धनुष बाण लेकर, अपने भुजाओं के विक्रम को बार २ बखानता हुआ श्रीकृष्ण के देखते हुए, कर्ण को (जिससे युद्ध कर रहा था) छोड़ कर युधिष्ठिर की ओर झपटा।

वीर रसाभास का उदाहरणः—

भरत जी को अयोध्या जी की समाज के साथ आते हुए दूर से देख लक्ष्मण जी को, यह सोच कर कि भरतजी युद्ध के लिये तैयार होकर आए हैं, क्रोध हो आया एवं वीरता के साथ भरतजी से लड़ने के लिये तैयार हो गये। यह वीर-रसाभास का उदाहरण है। भरत जी के प्रति शंका करना तथा क्रोध दिखाना अनुचित था।

> उठ कर जोरि रजायसु माँगा। मनहु वीर रस सोवत जागा॥
> बाँधि जटा सिर कसि करि भाथा। साजि सरासनु सायक हाथा॥
> आजु राम सेवक जस लेऊँ। भरतहिं समर सिखावन देऊँ॥
> राम निरादर कर फल पाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई॥

आइ बना भल सकल समाजू । प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू ॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेट लवा जिमि बाजू ॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जो सहाय कर शंकर आई । तो मारउँ रन राम दुहाई ॥

इसी अनौचित्य को देखकर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को समझाया है ।

मसक फूँकि मकु मेरु उड़ाई । होइ न नृप मद भरतहिं भाई ॥
लखन तुम्हार सपथ पितुआना । सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना ॥

हास्य-रसाभास का उदाहरण:—

इसका उदाहरण उत्तर रामचरित से दिया जाता है:—

रघु-कुल-गुरु महर्षि वशिष्ठ वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में आये हैं। उनके आगमन के सम्बन्ध में सौधीतकी का निम्नोल्लिखित वार्तालाप एक अच्छा उदाहरण है :—

सौ०—इन बुड्ढे दढ़ियलों के आने से आज का पढ़ना लिखना तो हो चुका ।

प्र०—क्या कहना है मित्र, गुरु-जनों के साथ तुम्हारा यह अपूर्व शिष्टाचार सराहनीय है !

सौ०—ऐ भाण्डयन, इस अतिथि का क्या नाम है जो सब बूढ़ों और दढ़ियों में मुखिया सा मालूम पड़ता है ?

भा०—धिक् मूर्ख, क्या व्यर्थ हँसी उड़ाता है, जानता नहीं कि शृङ्गी-ऋषि के आश्रम से अरुन्धती के साथ महाराज दशरथ की रानी को लेकर महाराज वशिष्ठजी आये हैं, फिर बता इस प्रकार क्यों बकता है ?

लक्ष्मण-परशुराम संवाद में बड़ों के प्रति क्रोध, हास्य एवं वीर तोनों के उदाहरण मिल जाते हैं। देखिये:—

भृगुवर परसु दिखावहु मोही। विप्र विचारि बचौ नृप द्रोही॥

इसमें रोष प्रकट होता है। इसी अनौचित्य के कारण गोस्वामी तुलसीदास जो लिखते हैं:—

अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहिं लखन निवारे॥

वीरता दिखाने में लक्ष्मण स्वयं सकुचते हैं:—

पुनि पुनि मोहि दिखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँक पहारू॥
इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देख मरजाहीं॥
भृगु-सुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन पर न सुराई॥

हास्य का उदाहरण:—

कहेउ लखन मुनि शील तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा॥
मातहि पितहि उरिन भए नीके। गुरु रिन रहा सोचु बड़ जीके॥
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गये ब्याज बहु बाढ़ा॥
अब आनिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥

इस उपहास के अनौचित्य के कारण परशुरामजी को क्रोध आजाता है तथा सभा भी भयभीत हो जाती है। देखिये:—

सुनि कटु वचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा॥

भावाभास का उदाहरण:—

जहाँ भावों का औनौचित्य हो वह भावाभास कहलाता है:-

"भावाभासी लज्जादिके तु वेश्यादि विषये स्यात्"

अर्थात् वेश्यादि विषयों में लज्जा का होना भावाभास कहलाता है। कहा भी है "सा लज्जा गणिका नष्टा" इसी प्रकार

यदि गणिका को छोड़ किसी अन्य नायिका में धन की लालसा दिखाई जावे तो भावाभास होगा। भावाभास का उदाहरण कविवर भिखारीदासजी ने इस प्रकार दिया है:—

दरपन में निज छाँह संग, लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह॥

यहाँ पर केवल क्रोध का वर्णन भाव है और यह अकारण क्रोध है अतः यह भावाभास है। गुरु-पत्नी आदि में शुद्ध प्रेम का होना भाव होगा किन्तु जहाँ पर यह प्रेम विषय-वासना से दूषित हो जाता है जैसा कि चन्द्रमा और बृहस्पति की स्त्री के साथ पीछे से सम्बन्ध हो गया था, वह भावा-भास हो जाता है। ऐसे वर्णन जब काव्य में आते हैं तब वह रस की उत्पत्ति करने में असमर्थ रहते हैं; क्योंकि उनके साथ अनौचित्य तथा घृणा का भाव भरा रहता है।

भाव शवलता—

जहाँ एक भाव के पश्चात् दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा भाव आता जावे, उसे भाव-शवलता कहते हैं। इसका उदाहरण कुलपति मिश्र ने इस प्रकार दिया है:—

दृग ललके राते भये, रूखे झलके आय।
नेह भरे लखि लोचनन, सकुचे परसत पाय॥

इस दोहे में पहले उत्सुकता फिर उदासीनता तदनन्तर दीनता एवं लज्जा, इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरे का आना दिखलाया गया है।

रत्नावली में की हुई स्तुति में भाव शवलता का उत्तम उदाहरण है:—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सह भुवा व्यावर्तमाना हि या।
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताऽभिमुख्यम्पुनः॥
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे।
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायाऽस्तु वः॥

अर्थात् पहले-पहल समागम के समय श्री गौरी जी प्रथम तो बड़ी उत्कण्ठा के साथ शीघ्रता पूर्वक चलीं, किन्तु कुछ दूर जाने पर लज्जित हो वापिस हुईं। सखी सहेलियों के नाना प्रकार से समझाने पर फिर सामने पहुँचीं, किन्तु पति को सन्मुख देख डर के मारे शरीर रोमाञ्चित हो गया। तब शिव जी ने प्रसन्न होकर आलिङ्गन कर लिया। ऐसी पार्वती जी आपका कल्याण करें।

भाव सन्धि:—

जब एक से प्रबल एवं चमत्कार वाले दो भाव एक ही साथ इकट्ठे हो जावें तब वहाँ पर भाव-सन्धि होती है। इसका उदाहरण कुलपति मिश्र इस प्रकार देते हैं:—

इत गुरु जन उत हरि वदन, लेखे नदी के नीर।
रहि न सकै देख न सकै, दुहु मिल करी अधीर॥

यहाँ पर हरि से मिलने की अभिलाषा एवं गुरुजनों की लाज दोनों प्रबल भाव एक ही साथ वर्तमान हैं।

बिहारीलाल जी का भी एक दोहा इसी प्रकार का है। देखिये:—

नई लगनि कुल की सकुच, विकल भई अकुलाय।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिन जाय॥

कंस दलन को दौर उत, इत राधा हित जोर।
चलि रहि सकै न श्याम चित, ऐंचि लगी दुह ओर ॥ 'दास'

भावों की सन्धि में मन की बहुत खींचतान होती है, और वह खींचतान अधिक स्वास्थ्यकर भी नहीं होती। दुर्योधन के लिये कहा जाता है कि उन के लिये यह शाप था कि जब उनको समान हर्ष एवं दुःख होगा, उस अवस्था में उनकी मृत्यु हो जायगी। यह बात चाहे सत्य हो चाहे असत्य, किन्तु इस बात की द्योतक है कि जब दो भावों की प्रतिकूल खींचतान होती है, उस अवस्था में मनुष्य का देहान्त तक हो सकता है। कविवर बिहारी ने दुर्योधन की इस अवस्था का काव्य में बहुत ही अच्छा प्रयोग किया है—

पिय बिछुरन को दुसह दुख, हरषि जात प्योसाल।
दुर्जोधन लों देखियतु, तजत प्रान इहि बाल ॥

भाव सन्धि का बिहारी में एक और अच्छा उदाहरण मिलता है:—

छुटै न लाज न लालचौ, प्यो लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे, धरे सकोच सनेह ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

रसों की शत्रुता और मैत्री

नाटकों तथा अन्य प्रबन्धों में एक रस प्रधान रहता है किन्तु समय-समय पर आवश्यकता के अनुकूल अन्य उसकी पुष्टि करते हैं। एक रस के साथ दूसरे रस का आना किसी नियम और शृंखला के साथ होता है। एक ही पात्र में एक साथ वीर और भयानक दिखाना कम से कम वीर रस की पुष्टि न करेगा, चाहे हास्य की उत्पत्ति अवश्य कर दे। शृंगार में हास्य से सहायता मिलती है, किन्तु यदि कोई करुणाजनक स्थान में हास्य रस सम्बन्धी बात करे तो वह शून्य हृदय समझा जायगा। हमारा मन भी एक रस से दूसरे रस पर आने में कुछ नियमों का पालन करता है। जहाँ शृंगार का वर्णन हो वहाँ बीभत्स का वर्णन ग्रहण करने में हमारे मन को कष्ट होता है। हमारा मन अनुकूल रसों को तो ग्रहण कर सकता है परन्तु प्रतिकूल रसों को नहीं। काव्य ग्रन्थों में रसों की अनुकूलता-प्रतिकूलता पर पूर्ण विचार किया गया है और रसों के शत्रु और मित्र निर्धारित कर दिये गए हैं। साहित्यदर्पण में रसों का विरोध इस प्रकार बतलाया गया है :—

आद्यः करुण बीभत्सरोद्रौ वीर भयानकै।
भ्यानंकेन करुणेनापि हास्यो विरोध भाक्॥
करुणो हास्य श्रृंगार रसाभ्यामपि तादृशः।
रौद्रस्तु हास्य श्रृंगार भयानक रसैरपि॥

भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ।
शृंगार वीर रौद्राख्य, हास्य शान्तैर्भयानकः ॥
शान्तस्तु वीर शृंगार रौद्र हास्य भयानकैः ।
शृंगारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधना ॥

(१) शृंगार का करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक के साथ विरोध है ।

(२) हास्य का भयानक और करुण के साथ विरोध है ।

(३) करुण का हास्य और शृंगार के साथ विरोध है ।

(४) रौद्र का हास्य, शृंगार और भयानक के साथ विरोध है ।

(५) वीर का भयानक और शान्त से विरोध है ।

(६) भयानक का शृंगार, वीर, रौद्र हास्य और शान्त से विरोध है ।

(७) शान्त का वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक से विरोध है ।

(८) बीभत्स का शृंगार से विरोध है ।

साहित्य-दर्पणकार ने शत्रुता का ही वर्णन किया है, वह इस कारण से कि शत्रु रसों के वर्णन से ही बचना चाहिये । शेष उदासीन और मित्र रसों का तो साथ वर्णन हो ही सकता है । देवजी ने अपना मत इस प्रकार बतलाया है ।

रस-मित्र

होत हास्य शृंगार ते करुना रौद्र ते जानु ।
वीर जनित अद्‌भुत कहौ, बीभत्स ते भयानु ॥

शृंगार का हास्य, करुणा का रौद्र, वीर का अद्भुत, बीभत्स

का भयानक मित्र माना गया है। यही रस जनित रस भी कहलाते हैं। एक की दूसरे से उत्पत्ति होने के कारण मित्रता मानी गई है।

रस शत्रु इस प्रकार माने गए हैं :—

रिपु बीभत्स सिंगार को, अरु भय रसु रिपु वीर।
अद्भुत रिपु रौद्रहि कहत, करुन हास्य रिपु धीर॥

देवजी के मत से रसों की शत्रुता, मित्रता और उदासीनता की इस प्रकार तालिका बनाई जा सकती है।

बितये बहु दिन यहँ सिया संग, जनु अपने ही घर सह उमंग।
नित नव यहँ की चरचा चलाइ, पायो हम दोउन सुख सिहाइ॥
अब हाय अकेलो प्रिया हीन, अति दुसह विरह दुःख सों मलीन।
यह राम पातकी करि प्रवेश, देखहि कस पंचवटी प्रदेश॥
जो लखत, हाय तो सिय वियोग, उद्दीपत जिय में शोक योग।
यदि नहिं लखत तउ असन्तोष, सिर कृतघ्नता को चढ़त दोष॥
कारन जो प्रिय को प्रिय महान, ताको नित चहियतु करन मान।
अब कैसे हु न कोऊ बचाउ, हाहा नहिं कछु सूझत उपाउ॥

× × × ×

जहाँ पर किसी रस के वर्णन में और किसी विरोधी रस सम्बन्धी कोई बात उपमेय रूप से कही जाय तो वह विरोध न समझा जावेगा। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है:—

"सरागया सुतघनधर्मतोयया,
कराहतिध्वनितपृथूरूपीठया।
मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया,
रूपा नृपाः प्रियतममेव भेजिरे॥

अर्थात् राग (एक पक्ष में क्रोध और दूसरे पक्ष में अनुराग) से उत्पन्न, नेत्रादि की लालिमा से युक्त और जिसके कारण

पसीना छूट रहा हो (पसीना छूटना क्रोध का और शृंगार दोनों का ही अनुभाव है) जिसके कारण अथवा जिसमें करतल से जङ्घाओं को ध्वनित किया हो या छुआ हो (क्रोध के पक्ष में ताल ठोंकना और शृङ्गार के पक्ष में प्रेम का एक अनुभाव है) और कारण अथवा जिसने दाँतों से ओठ दबाए हैं (क्रोध के पक्ष में अपने ओठ दबाए हैं और शृङ्गार के पक्ष में किसी दूसरे के) । ऐसे क्रोध से राजा लोग इस प्रकार आक्रान्त हुए हैं जैसे कामातुर पुरुष प्रियतमा से होते हैं। उपर्युक्त पद्य में क्रोध से आतुर राजाओं की कामातुर व्यक्तियों के साथ तुलना की गई है और ऐसे विशेषण दिये गए हैं जो शृङ्गार और क्रोध दोनों के पक्ष में घट सकते हैं। इस प्रकार रौद्र और शृङ्गार का समावेश करना रस दोष में नहीं आवेगा। यहाँ पर दोनों के अनुभावों का साम्य है। जहाँ दो विरुद्ध रस एक तीसरे रस के अङ्ग होते हैं वहाँ पर भी रस-विरोध नहीं माना जाता। यदि आश्रय एक हो और आलम्बन भिन्न-भिन्न हों तो दो विरोधी रस एक साथ आ सकते हैं। नीचे के श्लोक में इसी सिद्धान्त पर शृङ्गार और वीर का एक साथ वर्णन किया गया है।

देखिये—

> कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
>
> स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
>
> मुहुः पश्यञ्शृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलम्
>
> जटाजूटग्रंथिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥

अर्थात् जिसके कपालों में काम से विकसित तथा प्रवृद्ध रोमाञ्च हो रहा है और जो हाथी के बच्चे के दाँतों के समान

कान्ति से पूर्ण है अर्थात् जिन कपोलों का वर्ण गोरा है ऐसी सीता जी के मुख-कमल को देख कर एवं सामने शत्रु-सेना का अर्थात् राक्षसों की सेना का कलकल शब्द (शोरगुल सुन कर) बारबार सुनकर भगवान् मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी अपने जटाजूट की गाँठ को सम्हाल कर बाँध रहे हैं।

वैष्णवाचार्य्यों ने रसों की शत्रुता तथा मैत्री इस प्रकार बतलाई है—

भवशान्तादिक बारहों, के अरि मीत विभेद।
बरनहुँ सतगुरु कृपा लहि, जानहि विज्ञ विषेद॥
शान्त मीत बीभत्स रस, धर्म वीर अरु प्रीति।
प्रीतादिक चारों विषे, अद्भुत मीत पुनीत॥
रौद्र भयानक मधुर अरु, युद्ध वीर ए चारि।
शान्त सुरस के शत्रु हैं, बरने कविन विचारि॥
युद्ध वीर शुचि हास्य मय, ए प्रेयस के मीत।
वत्सल रौद्र बिभत्स भय, यहि के चारि अमीत॥
वत्सल के हित हास्य अरु, करुन भयानक तीन।
युद्ध वीर शुचि रौद्र अरु, प्रीत बरै यहि कीन॥
उज्ज्वल रस के मीत दुइ ह्रास तथा प्रेमान।
शान्त रौद्र बीभत्स अरु, वत्सल भय अरि जान॥
शुचि वत्सल बीभत्स अरु, प्रेम हास्य के मीत।
करुन भयानक प्रीत भय, हैं रस हास्य अमीत॥
शान्तादिक पाँचहु सुहृद, अद्भुत के लखि लेहु।
अद्भुत के प्रति पक्ष दुइ, रौद्र बिभत्सक एहु॥
वीर सुहृद अद्भुत तथा, प्रेम हास अरु प्रीत।
शान्त भयानक दोय रस, हैं ये वीर अमीत॥

वत्सल रौद्र विलोकिये, सुहृद करुण रस केर।
बैरी है संभोग शुचि, अद्भुत हास करेर॥
बीर करुन द्वै मीत वर हैं रस रौद्र मँझार।
भीषन उज्ज्वल हास त्रय, या ते बैर अपार॥
लखो भयानक के सुहृद, करुन विभत्सक दोइ।
रौद्र हास अरु वीर शुचि अरि बरनहि यहि मोइ॥
तीन विभत्सक मीत ए, शान्त प्रीत अरु हास।
उज्ज्वल अरु प्रेयान रस, हैं या के अरि खास॥
काहू के बैरी नहीं, न काहू के मीत।
तिन को नाम तटस्थ है, बरनहि रसिक विनीत॥

उपर्युक्त मत नीचे के चक्र में स्पष्ट कर दिया गया है।

वैष्णवाचार्य्यों के अनुकूल रसों की मैत्री और शत्रुता

रस	मित्र	शत्रु	उदासीन
१ शान्त	हास्य, बीभत्स, धर्म-वीर, अद्भुत	मधुर, युद्धवीर और भयानक	
२ दास्य	बीभत्स, शान्त, धर्म वीर, दानवीर	सुहृद, मधुर, युद्धवीर तथा रौद्र	
३ सख्य	मधुर, हास्य, युद्धवीर	वत्सल, रौद्र भयानक	
४ वात्सल्य	हास्य, करुण, विरोध हेतुक भयानक	मधुर, युद्धवीर, दास्य, रौद्र सख्य,	
५ मधुर	हास्य, सख्य	वत्सल, बीभत्स शान्त रौद्र, भनायक	
६ हास्य	बीभत्स, मधुर और वत्सल	करुण, भयानक	
७ अद्भुत	शान्त आदि पाँच मुख्य रस	रौद्र, बीभत्स	

रस	मित्र	शत्रु	उदासीन
८ वीर	अद्भुत, हास्य, सख्य, दास्य	भयानक, किसी किसी के मत से शान्त भी	
९ करुण	रौद्र वत्सल	वीर, हास्य, संयोग श्रृंगार, अद्भुत	
१० रौद्र	करुण, वीर	हास्य, श्रृंगार, भयानक	
११ भयानक	बीभत्स और करुण	वीर, श्रृंगार हास्य, रौद्र	
१२ बीभत्स	शान्त हास्य दास्य	श्रृंगार, सख्य	

रस	मित्र	शत्रु	उदासीन
१ श्रृंगार	हास्य	बीभत्स	शेष रस उदासीन
२ हास्य	श्रृंगार	करुण	"
३ करुण	रौद्र	हास्य	"
४ रौद्र	करुण	अद्भुत	"
५ वीर	अद्भुत	भयानक	"
६ भयानक	करुण	वीर	"
७ अद्भुत	वीर	रौद्र	"
८ बीभत्स	भयानक	श्रृंगार	"

रसों का विरोध-अवरोध तीन प्रकार से माना जाता है। कोई रस ऐसे हैं जो एक आलम्बन में विरोध को प्राप्त होते हैं, कोई ऐसे हैं जो एक आश्रय में रहने से विरुद्ध होते हैं। (जब नायिका आलम्बन होती है तो नायक आश्रय कहलाता है और जब नायक आलम्बन होता है तो नायिका आश्रय कहलाती है।) और कोई एक दूसरे के पश्चात् बिना किसी व्यवधान। (बीच में आने वाली चीज़) के आने से परस्पर विरोधी होते हैं। उनमें से वीर

एवं शृंगार एक आलम्बन होने पर विरुद्ध होते हैं अर्थात् जिसको देख कर शृंगार की भावना हुई हो उसी आलम्बन पर अर्थात् उसी को देख कर उसी समय वीर रस का सञ्चार हो तो रस-विरोध होगा। उसी प्रकार हास्य, रौद्र और बीभत्स रस के साथ सम्भोग-शृंगार का, आलम्बन की एकता में विरोध होता है। वीर, करुण, रौद्र और भयानक इत्यादि के साथ विप्रलम्भ-शृंगार का योग विरुद्ध होता है। वीर और भयानक रसों का एक आश्रय में समावेश करना रस-विरोध होगा। यदि कहीं युद्ध का वर्णन हो तो एक शत्रु दूसरे के लिये आलम्बन होगा और दूसरा आश्रय कहलायगा। यदि आश्रय की ओर से वीरता के भाव दिखाए जा रहे हों तो उसी आश्रय की ओर से भय-भीत होने के भाव बतलाना रस-विरोध होगा। किन्तु यदि आश्रय में वीरता के भाव दिखाए जावें और आलम्बन—रूप प्रतिपक्षी में भयभीत होने के भाव बतलाए जावें तो रस-विरोध न होगा। बिना किसी अन्तर के साथ एक दूसरे के पीछे आने में जहाँ पर कि रसों की मित्रता होती है और ऐसे मित्र रस एक साथ वर्णित होते हैं वहाँ पर प्रधान रस अंगी और गौण अंग कहलाता है। देखिये:—

कफ सोणित अरु रेत से, पूरन कुप्पी देह।
ये आसक्त न सुमिर हू, परमातम सुख गेह॥

रसों की शत्रुता के कुछ उपकरण दिये गए हैं। यह बात नहीं है कि दो विरोधी रसों का एक साथ आ जाना मात्र दोष का कारण हो! यह रस तभी विरोधी समझे जायँगे जब बिना किसी अन्तर के एक ही आश्रय या आलम्बन के सम्बन्ध

में एक समय में दोनों प्रधान रूप से वर्णित हों। यदि एक रस सम्बन्धी बातों का वर्णन दूसरे रस के साथ स्मरण रूप से आया हो तो स्मरण किया हुआ रस प्रधान रस का पोषण ही करेगा। साहित्यदर्पणकार के अनुकूल शृंगार और करुण का विरोध है, किन्तु जहाँ पर पूर्वानुभूत–शृंगार सम्बन्धी अनुभवों का स्मरण रूप से वर्णन हो वहाँ पर वह वर्णन करुणा में तीव्रता उत्पन्न कर देता है। उत्तर रामचरित में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें शृंगार की स्मृति करुण का सहायक है:—

"हा यह पञ्चवटी है! यहीं, अनेक दिन निवास करने के कारण ये प्रदेश हमारे विविध स्वच्छन्द विहारों के साक्षी हैं, यहीं कहीं प्रिया की प्यारी सखी वनदेवी वसन्ती रहती है। हाय! मुझ पर यह न जाने क्या अनर्थ टूट पड़ा, कुछ समझ नहीं पड़ता!" देखिये कितने करुण भरे स्वर में श्रीरामचंद्र जी कहते हैं।

देखिये निम्नलिखित देव कृत छंद में संयोग शृंगार के साथ हास्य, वीर और अद्भुत का अंगी–अंग रूप से कैसा सम्मिश्रण किया गया है:—

दल साजे रुकमी अकेलो रुकुमिनी पति,
रोकिबे को राकसनि साक गुन गाये हैं।
भू अखंड अखंडल पाखंड प्रचंड पै चंड कर,
मंडल ज्यों. कोदंड तनाये हैं॥
छोभ छकि जै करि विजै करि कै वाम सों,
विलास अद्भुत हास्य साहस जनायो हैं।

देव वरदायक सहायक हमारे पंचसायक,
तुम्हारे दृग सायक बनाये हैं ॥

और विभावों की एकता से शृंगार और शान्त का विरोध होता है। वीर-रस का अद्भुत और रौद्र के साथ तीनों प्रकार से विरोध नहीं है। इसी प्रकार शृंगार का अद्भुत के साथ तथा भयानक का बीभत्स के साथ भी किसी प्रकार विरोध नहीं है।

ऊपर की विवेचना का सार यह है कि केवल दो विरोधी रसों के नाम मात्र आ जाने से रस-विरोध नहीं होता। जहाँ पर एक रस दूसरे रस की परिपक्वता में बाधक नहीं होता अथवा पुष्टि में सहायक होता है वहाँ पर विरोध नहीं होता। औचित्य अनौचित्य के साधारण नियम यहाँ पर भी लागू होते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

रस-दोष

रस दोष की इस प्रकार परिभाषा की गई है:—

"रसापकर्षका: दोषा:" अर्थात् रस के अपकर्षक वा हीन करने वाले दोष कहलाते हैं। रस को काव्य की आत्मा कहा है, इसीलिये जो रस के दोष हैं वही काव्य के दोष हैं और जो काव्य के दोष हैं वह रस के दोष हैं। यह हीनता तीन प्रकार से आती है:—

१—रस आस्वादन में रुकावट होने से, २—रस के विरोधी किसी बात के बीच में आ जाने से, (जिस प्रकार आलोक के बीच में कोई चीज आ जाय) ३—रसास्वादन में विलम्ब कराने वाले कारणों के आ जाने से, यह तो दोष के प्रकार हुए। अब प्रश्न यह है कि दोष कितने प्रकार के अर्थात् किस किस के माने गए हैं? काव्य में दोष पदों के, पदांशों के, वाक्यों के, अर्थों और रसों के माने गए हैं। देखिये:—

ते पुनः पञ्चधा मताः "पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्"

यहाँ पर पूर्व चार प्रकार के दोषों पर विवेचना नहीं की जाती है, केवल उन्हीं दोषों का वर्णन किया जाता है जिनका कि रस से विशेष रूप से सम्बन्ध है। यद्यपि शब्द और अर्थ के दोष भी एक प्रकार से रस-दोष हैं तथापि वह कानापन-आदि दोषों की भाँति बाहरी हैं। वह शरीर द्वारा शरीरधारी

को दूषित ठहराते हैं, किन्तु मिथ्यावादित्व, कायरता आदि सीधे आत्मा के दोष माने गए हैं। इसी प्रकार कुछ दोष ऐसे हैं जो कि सीधे काव्य की आत्मा, रस से सम्बन्ध रखते हैं।

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि।
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः॥
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तः पुनः पुनः॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानमनङ्गस्य च कीर्त्तनम्।
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः॥
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः।

किसी रस, स्थायी वा सञ्चारी का अपने शब्द से या उसके वाचक शब्द से कथन करना अर्थात् उस शब्द को काव्य में ले जाना, विरोधी रस के सामग्रीस्वरूप विभावादि का समावेश करना, विभाव और अनुभाव का कठिनाई के साथ लगाना अर्थात् अस्पष्ट कहने के कारण खोज कर लगाने की आवश्यकता रहना, रस का अनुचित रूप से बढ़ाना या विच्छेद कर देना, बार बार उसे उत्तेजित करना, जो अङ्गी अर्थात् प्रधान है उसका विचार न करना और जो अङ्ग नहीं है उसका मुख्यता के साथ वर्णन करना, जो रस दूसरे का अङ्ग होकर आया हो उसे प्रधानता देना, प्रकृतियों का लौटफेर कर देना, अर्थ का अथवा अन्य किसी प्रकार का अनौचित्य, सब रस-दोषों में गिने जाते हैं।

कुलपति मिश्र ने अपने रस-रहस्य में जो रस-दोष गिनाए हैं, वह साहित्य-दर्पण के अनुकूल हैं। देखिये:—

सञ्चारी रस भाव थिर, इन कौ लीजे नांव ।
पुनि विभाव अनुभाव कौ, लहै कष्ट सो ठांव ॥
भाव विभावहि आदि दै, जहाँ होत प्रतिकूल ।
और सुरति वश होइ जहाँ, रहि रहि रस की फूल ॥
अन औसर विस्तारि बहु, औसर में विच्छेद ।
अङ्गन को विस्तार अति, अङ्गी लहै न भेद ॥
प्रकृति और की और पुनि, होय काम को नाम ।
रस वर्णन में जतन सों, छाड़ौ इतने ठाम ॥

अब एक २ प्रकार का क्रम से वर्णन किया जाता है। रस शब्द का अथवा विशेष किसी रस का नाम आने का उदाहरण:—

अञ्चल ऐंचि जु सिर धरत, चञ्चल नैनी चारु ।
कुच कोरनि हिय कोरि कै, भर्यो सुरस शृंगारु ॥

यहाँ पर शृंगार का नाम न आना चाहिये था। इस बात का दोष इस लिये माना गया है कि रस एक प्रकार का आस्वादन है, उसमें चर्वण, मनन करना पड़ता है। यदि बाहर से ही चबाया हुआ भोजन खिलाया जाय तो उसमें आनन्द न आवेगा; क्योंकि मन उसी में आनन्द लेता है जिसको कि उसने स्वयं आस्वादन किया हो, रस की उत्पत्ति व्यञ्जना द्वारा होती है। जहाँ पर रस का नाम आ गया वहाँ पर व्यञ्जना नहीं रहती।

शृंगार का नाम ले देने से शृंगार का आनन्द नहीं रहता है। शृंगार शब्द में शृंगार का अनुभव नहीं होता वरन् उसके विभाव, अनुभावों द्वारा पूर्ण वर्णन में। ऐसा ही स्थायी भाव और सञ्चारियों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। यदि लज्जादि सञ्चारी भावों का उनके नाम से वर्णन हो तो वह दोष

समझा जावेगा। ऐसी अवस्था में उनके स्थान में उनको अनुभावों द्वारा लक्षित करा देना चाहिये।

"जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य प्रियचुम्बने"

इस वाक्य में 'जाता लज्जावती' के स्थान में 'आसीन्मुकुलिताक्षी' लिखना चाहिये। मुकुलिताक्षी में लज्जावती का भाव आ जाता है।

व्यभिचारी भावों का नाम ले आना कहीं कहीं दोष नहीं माना गया है। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं:—

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः।
अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता॥

अर्थात् व्यभिचारी भावों का स्वशब्द से कथन करना ऐसे स्थानों में दोष नहीं होता, जहाँ कि अनुभावों और विभाव द्वारा रचना करना अनुचित हो। जहाँ तक सञ्चारी भाव का नाम न लेकर अनुभावों विभावों द्वारा काम चल सके वहाँ तक ठीक है किन्तु जहाँ पर अनुभावों विभावों द्वारा अर्थ की सिद्धि न हो वहाँ पर सञ्चारी भाव के नाम से उल्लेख करना दोष नहीं होता। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है:—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया।
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः॥
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे।
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः॥

पार्वती जी प्रथम समागम में उत्सुकता के कारण जल्दी करती हुई और सहज लज्जा के कारण पीछे हटती हुई, घर की स्त्रियों के समझाने बुझाने से जैसे तैसे फिर सामने लाई गई।

इसी प्रकार आगे खड़े वर (महादेव जी) को देख कर भय-भीत हुईं और हँसते हुए महादेवजी से आलिङ्गन किये जाने पर रोमाञ्चित पार्वती आप सब का कल्याण करें। यहाँ पर 'त्वरा' 'उत्सुकता' का अनुभाव है। किन्तु केवल 'त्वरा' लिखने से अर्थ-सिद्धि नहीं होती। भय में भी त्वरा होती है इसी प्रकार 'व्यावर्तमाना' लौटती हुई लज्जा का अनुभाव है किन्तु केवल व्यावर्तमाना (मुँह फेरती हुई) कह कर लज्जा का भाव प्रकट नहीं होता, क्योंकि वह अनुभाव क्रोध का भी है इस लिये बिना "लज्जा" शब्द के लाये पूरा भाव व्यञ्जित नहीं हो सकता। यदि "साध्वस" (भय) और 'हास' आदि को विभावों द्वारा पुष्ट किया जावे तो वह शृंगार के विरोधी पड़ते हैं। ऐसे स्थानों में व्यभिचारी भाव का नाम उल्लेख करना दोष नहीं माना जायगा।

स्थायी भाव को नाम आने का उदाहरण:—

जकनि अकनि रन परस्पर, असि प्रहार झनकार।
महा महा योधन हिये बढ़त उछाह अपार॥

यहाँ पर 'उत्साह' न लिख कर उत्साहसूचक कुछ काम बतलाया जाता तो अच्छा होता। और एक उदाहरण लीजिये:—

शरद निशा प्रीतम प्रिया, बिहरत अनुपम भांति।
ज्यों ज्यों रात सिरात अति, त्यों त्यों रति सरसाति॥

यहाँ पर रति का नाम आ गया है।

विरोधी रसों के अङ्गभूत विभावादिकों का वर्णन:—

इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

मानं मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।

हे तन्वङ्गि ! यौवन को अस्थिर जान कर मान मत कर। यौवन की अस्थिरता की बात चीत शान्त रस का उद्दीपनविभाव है; और शान्त तथा शृंगार का विरोध है, अतः यहाँ पर यौवन की अस्थिरता की बात करना दोष है।

इसी प्रकार का उदाहरण भिखारीदासजी ने दिया है:—

अरी खेलि हँसि बोलि चल, भुज पीतम गल डारि।
आयु जाति छिन छिन घटी, छीजै घट सों वारि॥

फूटे घड़े के जल की भाँति 'आयु' का छीजना शान्त रस का उद्दीपन है, शृंगार में अनुचित है।

विभाव की कष्ट-कल्पना:—

उदाहरण:—

उठति गिरति फिरि फिरि उठति, उठि उठि गिरि गिरि जाति।
कहा करौं कासौं कहौं, क्यों जावे यह राति॥

इस दोहे में व्याधि के लक्षण तो हैं किन्तु इसमें यह स्पष्ट नहीं है कि यह व्याधि किसको है और किस कारण से है ? यहाँ पर आलम्बन को कष्ट-कल्पना के साथ लगाना पड़ता है। यदि वह न लगाया जावे तो यह न ज्ञात होगा कि यह साधारण व्याधि है अथवा विरह की व्याधि है। यदि इसमें नायक का वर्णन आ जाता तो सब बात स्पष्ट हो जाती और कष्ट-कल्पना की जरूरत न रहती। नीचे के दोहे में आलम्बन के व्यक्त हो जाने से कष्ट-कल्पना नहीं रहती।

कै चलि आगि परोस की, दूर करौ घनश्याम।
कै हम को कहि दीजिये, बसैं और ही ग्राम॥

अनुभाव की कष्ट-कल्पना का उदाहरण:—

चैत की चाँदनी छीरन सों दिग मण्डल मानों पखारन लागी ।
तापर सीरी बयारि कपूर की धूरि सी लै लै बगारन लागी ॥
भौंरन की अवली करि गान पियूष सौ कान में डारन लागी ।
भावती भावते और चितै सहजै ही में भूमि निहारन लागी ॥

यहाँ पर उद्दीपन बहुत उत्तम दिये हैं। आलम्बनसरूप नायक-नायिका भी वर्तमान हैं, किन्तु यहाँ पर जैसे अनुभाव की अपेक्षा है वैसा नहीं मिलता, उसको ढूँढ़ना पड़ता है। सहज ही में भूमि निहारना संयोग-शृंगार का अनुभाव नहीं है। और फिर 'सहज' शब्द लगा देने से अनुभाव का अनुभावत्व जाता रहता है।

अस्थान में रस का रखना:—

यह ऐसा ही है जैसा कि जहाँ वेदान्त की बात हो रही हो वहाँ पर कोई खली का भाव पूछे। एक ओर करुणा-क्रन्दन हो रहा हो और दूसरी ओर प्रेमालाप। साहित्य-दर्पण में कहा गया है कि 'वेणी-संहार' नाटक में जिस समय कौरव-वीरों का संहार हो रहा था उसी समय दुर्योधन का रानी वसुमती से शृंगारपूर्ण आलाप करना इस दोष का उदाहरण है। भिखारीदास जी ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है:—

सजि सिंगार सर पै चढ़ी, सुन्दरि निपटि सुबेस ।
मनों जीति भुविलोक सब, चली जितन दिव देस ॥

यहाँ पर सती के लिये, शृंगार की-सी भाषा का प्रयोग करना रस का अनुचित स्थान में रखना है।

रस-विच्छेद का उदाहरण:—

इसके उदाहरण में साहित्य-दर्पणकार ने महावीर-चरित्र का वह स्थल बतलाया है जहाँ पर कि श्री रामचन्द्र जी की परशु-राम जी से तेजी के साथ बातचीत हो रही थी। उसी समय रामचन्द्र जी का कङ्कण छुटवाने के लिये चला जाना रस-विच्छेद है। इसी का अनुकरण कर भिखारीदास जी ने भी यही उदा-हरण दिया है:—

राम आगमन सुनि कह्यो, राम-बन्धु सों बात।
कंकन मोहि छुटाइबो, उतै जाहु तुम तात॥

रस की पुनः पुनः दीप्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

पुनि पुनि दीपत ही करैं, उपमादिक कछु नाहिं।
ताही ते सज्जन गनै, या हू दूषण माहिं॥

इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है:—

पङ्कज-पाँयनि पैजनियाँ कटि घाँघरो किंकिनियाँ जरबीली।
मोतिनहार हमेल बलीन पै सारी सोहावनी कंचुकी नीली॥
ठोढ़ी पै स्यामल बुंद अनूप तरयोनन की चुनियाँ चटकीली।
इंगुर की सुरकी दुरकी नथ भाल में बाल की बेंदी छबीली॥

अङ्गी को भूल जाना—

अङ्गहि को बरनन करै, अङ्गी देहि भुलाय।
एहू हैं रस-दोष में, सुनहु सकल कविराय॥

अङ्गी के विस्मरण का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है:—

प्रीतम पठै सहेट निज, खेलन अटकी जाय।
तकि तेहि आवत उतहिं ते, तिय मन मन पछिताय॥

इसमें नायिका ने अपने खेल को प्रियतम से अधिक प्रधानता दी है इसी लिये इसमें रस-दोष समझा गया है। इस प्रकार की अवहेलना रस की उत्पत्ति को रोक देती है।

अंगवर्णन का उदाहरण:—

दासी सों मण्डन समय, दरपन माँग्यो बाम।
बैठि गई सो सामुहे, करि आनन अभिराम॥

दासी, सखी आदि अङ्ग गिने जाते हैं। अङ्गी नायक तथा नायिका ही हैं। इसमें नायिका का अप्राधान्य कर दासी के मुख की दीप्ति को 'दरपन की सो दीप्ति' बना दी गई है। दरपन के स्थान में दासी अपना मुख करके बैठ गई। दासी की शोभा का वर्णन हो गया नायिका का नहीं, दासी ही नायिका बन गई। इसमें केवल अंग का वर्णन है, अङ्गी का नहीं।

अनंग का कीर्तन:—

अर्थात् जो अङ्गी नहीं है उसको प्रधानता देना। इसका उदाहरण साहित्य-दर्पण में 'कर्पूर-मञ्जरी' से दिया गया है। राजा और रानी ने स्वयं अपने किये हुए वसन्त वर्णन का अनादर करके बन्दी द्वारा किये गए वर्णन की प्रशंसा की है। राजा-रानी अंग हैं, वन्दी का किया हुआ वर्णन रसोद्दीप्ति नहीं कर सकता।

प्रकृति-विपर्य्यय—

प्रकृति तीन प्रकार की मानी गई है। भिखारीदास ने साहित्य-दर्पण का अनुकरण करते हुए इनको इस प्रकार बतलाया है:—

तीन भांति कै प्रकृति हैं, दिव्य अदिव्य प्रमान ।
तीजो दिव्यादिव्य यह, जानत सुकवि सुजान ॥
देव दिव्य करि मानिए, नर अदिव्य करि लेखि ।
नर अवतारी देवता, दिव्यादिव्य विसेखि ॥

प्रकृति तीन प्रकार की हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। दिव्य में देवता अदिव्य में मनुष्य और दिव्यादिव्य में राम-कृष्णादि अवतार जो दिव्य होकर अदिव्य शरीर में अवतरित होते हैं गिने जाते हैं। अवतार में ईश्वर का मनुष्य रूप होकर आना माना गया है।

इन प्रकृतियों के अनुकूल ही रस बँटे हुए हैं। उनका कुयोग करना ही प्रकृति विरोध है। शोक, हास, रति और अद्भुत यह अदिव्य मनुष्यों में विशेष रूप से माने गए हैं। अवतारों में भी हो सकते हैं, देवताओं में नहीं। देवताओं के स्वभाव इस प्रकार गिनाए गए हैं:—

स्वर्ग पताले जाइबो, सिन्धु उल्लंघन चाव।
भस्म ठानिबो क्रोध ते, सोतौ दिव्य सुभाव ॥

देवताओं की रति का वर्णन करना रस-दोष है। कालिदास जी ने जो शिव-पार्वती की रति का वर्णन किया है वह दोष माना गया है। कालिदास जी अपने कवित्व के जोश में देवताओं को साधारण कोटि में ले आए हैं; और उनकी वृत्ति का वैसा ही वर्णन किया है जैसा कि साधारण मनुष्यों का। यह वर्णन काव्य की दृष्टि से तो बहुत ही उत्तम है किन्तु धर्म और नीति की दृष्टि से इतना ही दूषित है जितना कि माता-पिता की रति

का वर्णन करना। वैसे तो राम-कृष्णादि की रति का वर्णन इतना ही दूषित समझना चाहिये जितना कि कालिदासवर्णित शिव–पार्वती की रति; किन्तु उनकी प्रकृति दिव्यादिव्य होने के कारण यह बात क्षम्य मानी गई है।

जो चार प्रकार के नायक माने गए हैं उनमें प्रत्येक की प्रकृति के अनुकूल एक एक रस की योजना की गई है। जहाँ पर इन नायकों की प्रकृति के विरुद्ध रस का समावेश किया जाता है वहाँ पर रस-दोष हो जाता है। नायकों और रसों का सम्बन्ध भिखारीदास जी ने इस प्रकार दिखलाया है:—

चार भांति नायक कह्यो, तिन्है चारि रस मूल।
किए और के और में, प्रकृति विपर्य्यय तूल॥
धीरोदात्त सुवीर में, धीरोद्धत रिसवंत।
धीर ललित श्रृंगार सों, शान्ति धीर परसंत॥

धीरोदात्त में वीर-रस की प्रधानता मानी गई है और धीरोद्धत से रौद्र का सम्बन्ध है, धीर ललित का श्रृंगार से और धीर प्रशांत का शान्त से। यदि धीरोदात्त के सम्बन्ध में कोई बात ऐसी कही जाय जो वीरोचित न हो तो वह रस–दोष माना जायगा। जैसे, साहित्य–दर्पण में श्री रामचन्द्र जी के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनका वाली का छिप कर के वध करना वीरोचित काम न था। उसके सब वर्णन रस–दोष में गिने जावेंगे। दिव्य दिव्यादिव्य और अदिव्य के अतिरिक्त उत्तम मध्यम और अधम करके तीन प्रकृतियाँ और मानी गई हैं। देश, काल, शास्त्र और लोकमत के विरुद्ध वर्णन भी रस–दोष माने जावेंगे।

देश समो वय जाति गुण, समझि वेष व्यवहार ।
अनुचित तजिये उचित ही, कहिये बुद्धि विचार ॥

काल—विरोध के उदाहरण:—

प्रफुलित नव नीरज रजनि, बासर कुमुद विशाल ।
कोकिल शरद, मयूर, मधु, बरषा मुदित मराल ॥

देश—विरोध:—

मलयानिल मन हरति हठि, सुखद नर्मदा-कूल ।
सुबन सघन घनसारमय, तरुवर तरल सुफूल ॥

लोक—विरोध:—

स्थायी वीर सिंगार के, करुणा घृणा प्रमान ।
तारा अरु मन्दोदरी, कहत सतीन समान ॥

सभी प्रकार का अनौचित्य खटकता है इस लिये वह रस में विष कर देता है । अज्ञानी लोग ही ऐसे वर्णनों में आनन्द ले सकते हैं । देश कालादि दोष वर्णन करके हमारे आचार्य्यों ने यह दिखलाया है कि हमारे आचार्य्य गण काव्य में प्राकृतिकता का बहुत ध्यान रखते थे । यदि कोई मरु-स्थल में कमल-दल सुशोभित सर का वर्णन करे अथवा हिमालय पर्वत पर ग्रीष्म की तपन का वर्णन करे तो वह हास्यास्पद ही होगा रात में कमल का खिलना और दिन में कुमुदनी का खिलना, शरद् में कोकिल का वसन्त-ऋतु में मोर का और वर्षा में हंस का वर्णन काल बिरुद्ध दोष के उदाहरण है । इसी प्रकार मलयानिल का नर्मदा जी के किनारे बतलाना देशविरुद्ध कहा जाता है । घनसार (कपूर) भी नर्मदा के किनारे के वृत्तों में नहीं होता । वीर-रस का करुणा, शृङ्गार का घृणा स्थायी भाव बतलाना

वा तारा (बृहस्पतिकी स्त्री) और मन्दोदरी को सतियों में स्थान देना मानी हुई बातों के खिलाफ है। नाटककारों को इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि जिस काल, जिस देश, जिस जाति के पात्रों का वर्णन किया जाता है उसीके अनुकूल उनकी वेश-भूषा, भाषा, रीति व्यवहारादि होना चाहिये। बालक के मुख में वृद्ध की सी बातें रख देना अनुचित ही होगा। अतः बालकों की बात का टूटे फूटे व्याकरण-शून्य, और तोतले शब्दों में वर्णन किया जाता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में रोहिताश्व के मुख से क्या ही सुन्दर तोतले शब्द कहलाए हैं 'अमको बी कोई मोल लेले तो बला उपकाल हो'...'आँ आँ माँ लोती काए को औ' यह बड़ा ही स्वाभाविक और मर्मभेदी है। इसी प्रकार George Illiot (जॉर्ज इलीअट) ने अपने एक उपन्यास Silas Marner साइलस मारनर में एक बच्चे से, जो कि कोयले की कोठरी में घुस गया था इस प्रकार कहलाया है Appie in the Tole hole उसने अपने को "मैं" नहीं कहा बल्कि अपने नाम से अपने को व्यक्त कर दिया। Coal hole की बजाय Tole hole कहना बहुत ही स्वाभाविक ही था।

जितना कि रसों में गुणों का ध्यान रखना वांछनीय है उतना ही दोषों से बचना भी आवश्यक है, इसलिये दोषों का वर्णन गुणों से पहले किया जाता है।

सत्रहवाँ अध्याय

रसों का अन्य काव्याङ्गों से सम्बन्ध

रस को काव्य की आत्मा कहा है, शब्द और अर्थ शरीर माने गये हैं, गुण शौर्य्यादि की प्रकार हैं, दोष काणापनादि की भाँति हैं, रीति अवयवों की संगठन की तरह है और अलङ्कार कुण्डलादि आभूषणों की भाँति हैं। दोषों का पहिले ही वर्णन कर दिया गया है; क्योंकि दोषों के होते हुए रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। गुणों द्वारा रसों का उत्कर्ष प्रकट होता है। वह उसके आन्तरिक सौंदर्य के द्योतक होते हैं। रस में जो आनन्द होता है वह गुणों के ही कारण होता है। वह एक प्रकार से रस के उत्पादक होते हैं। यद्यपि गुणों का सम्बन्ध विशेष कर पद-रचना से होता है; तथापि जिस प्रकार सुन्दर संगठित वीरोचित शरीर को देख कर आत्मा की वीरता का अनुमान होता है, उसी प्रकार माधुर्य्य ओज आदि गुणों द्वारा (जो पद्य-रचना से ही विशेष कर सम्बन्ध रखते हैं) काव्य को रस रूप आत्मा का परिचय मिलता है। वास्तव में शब्द तथा अर्थ का सहज सम्बन्ध होने के कारण गुणों का सम्बन्ध अर्थ और पद-योजना दोनों से ही है। मनुष्य का शरीर उसके आन्तरिक भावों का द्योतक होता है। सुन्दर भावों के लिये सुन्दर भाषा ही की आवश्यकता होती है। रसों के आन्तरिक आस्वादन में जिस प्रकार चित्त की वृत्ति होती है, उसी प्रकार

पदों की योजना होनी चाहिये। वह ऐसी हो कि बिना अर्थ बतलाये ही अपने भाव और ध्वनि से अर्थ को व्यक्त कर दे। लक्षण देते हुए शास्त्रकारों ने मानसिक वृत्ति, शब्दों के प्रवाह एवं चुनाव दोनों बातों के ऊपर पूरा पूरा ध्यान रक्खा है।

गुण तीन प्रकार के माने गये हैं; माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों की कुलपति मिश्र ने इस प्रकार व्याख्या की है:—

माधुर्य गुण:—

द्रव्य चित्त जाके सुनत, अति आनन्द प्रधान।
सुहै मधुरता रसनु क्रम, प्रथम सरस हो आन॥

ओज गुण के लक्षण:—

चितहि बढ़ावे तेज करि, ओज वीर रस वास।
बहुत रुद्र बीभत्स में, जाको बनै निवास॥

प्रसादगुण लक्षण:—

नवरस में उज्जल सलिल, स्वच्छ अग्नि के रूप।
सो प्रसाद रचना वरन, इनके कहो अनूप॥

गुणों के आस्वादन में चित के ऊपर जो प्रभाव होता है उसका पृथक् वर्णन दिया जाता है तथा जो प्रभाव रचना-शैली में पड़ता है, वह अलग बतलाया जाता है। साहित्य-दर्पण में माधुर्य का इस प्रकार लक्षण दिया गया है।

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकम् क्रमात॥

अर्थात् चित को पिघलाने वाला जो आनन्द है उसको माधुर्य कहते हैं। यह सम्भोग, करुण, विप्रलम्भ और शान्त में क्रमशः बढ़ता जाता है। जो चित का द्रवीभाव सम्भोग

शृङ्गार में होता है वह आदर्श नहीं है, उसमें आनन्द अवश्य होता है किन्तु उसके साथ थोड़ा चाञ्चल्य रहता है। वही चाञ्चल्य माधुर्य्य में न्यूनता उत्पन्न कर देता है। करुण में चाञ्चल्य का अभाव हो जाता है। मन एक ओर केन्द्रस्थ हो जाता है। उसमें एक प्रकार की कोमलता रहती है जो बहुत मधुर होती है। विप्रलम्भ शृंगार में करुणा के साथ शृंगार का एक विशेष माधुर्य रहता है इसलिये विप्रलम्भ शृंगार का माधुर्य सम्भोग और करुण के माधुर्य से बढ़ा चढ़ा होता है। शान्त में चित्त बिलकुल निश्चल हो जाता है। आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रकाशित होने लगता है। शृंगार का जो आनन्द एक ही व्यक्ति में रहता है, शान्त में वह आनन्द विश्वव्यापी हो जाता है और प्रत्येक व्यक्ति प्रियतम वा प्रियतमा बन जाता है। मधुर रचना की आवश्यकताएँ इस प्रकार बतलाई हैं:—

ट ठ ड ढ से भिन्न वर्ण, आदि में अपने वर्गों के अन्तिम वर्णों (ञ, म, ङ, न) से युक्त होने पर अर्थात् अपने वर्ग के पञ्चम अक्षर से संयुक्त होने पर जैसे (मञ्च, कञ्च, फञ्ज, लुञ्ज, चम्पक इत्यादि) माधुर्य्य के व्यञ्जक होते हैं। इसी प्रकार लघु र, ण, भी माधुर्य के व्यञ्जक वर्ण हैं। इसी प्रकार समास रहित अथवा छोटे छोटे समासोंवाली मधुर-रचना भी माधुर्य की द्योतक होती है। इन्हीं बातों को कुलपति मिश्र ने इस प्रकार छन्दो-बद्ध रूप में कहा है:—

सो रचना माधुर्य जहाँ, योग मधुरता जानि।
बिन्दु सहित ट ठ ड ढ रहित रण लघु वरणत प्रमान॥

माधुर्य गुण से युक्त पद्य का एक उदाहरण दिया जाता है:-

अलि-पुञ्जन की मद-गुञ्जन सों, बन-कुञ्जन मञ्जु बनाय रह्यो।
लगि अङ्ग अनङ्ग-तरङ्गन सों, रति-रङ्ग उमङ्ग बढ़ाय रह्यो॥
बिकसे सर कंजन कम्पित के, रज रंजन लै छिरकाय रह्यो।
मलयानिल मन्द दशों दिशिये, मकरन्द अमन्द फलाय रह्यो॥

एक और उदाहरण लीजिये:—

ये गिरि सोइ जहाँ मधुरी, मदमत्त मयूरनि की धुनि छाई।
या बन में कमनीय मृगानि की, लोल कलोलनि डोलनि भाई॥
सोहै सरित्तट धारि घनी, जल बृच्छन की नवनील निकाई।
बंजुल मंजु लतानि की चारु, चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥

ओज

ओज की व्याख्या और उसका अन्य रसों से सम्बन्ध का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु॥

चित्त का विस्तार रूप दीप्तत्व ओज कहलाता है। यह वीर, बीभत्स और रौद्र में क्रम से बढ़ता जाता है। माधुर्य में जिस प्रकार चित्त द्रवीभूत होता है उसी प्रकार ओज में चित्त विस्तार को प्राप्त होता है अर्थात् चित्त आगे को फैलता है। जब चित्त द्रवीभूत होता है तब वह एक ही ओर रहता है; विस्तार में वह चारों ओर जाता है। वीर का स्थायी उत्साह है और उत्साह ही में चित्त विस्तार को प्राप्त होता है। ओज की रचना में बाहरी व्यञ्जक इस प्रकार बतलाये हैं—

वर्गों के पहिले अक्षर के साथ जहाँ पर उसी वर्ग का दूसरा अक्षर मिला हो जैसे क्रुद्ध, स्वच्छ, तुच्छ, पत्थ्य इत्यादि और जहाँ पर वर्ग के तीसरे अक्षर के साथ चौथा मिला हो जैसे जुब्भ, बग्घो इत्यादि और जहाँ आगे या पीछे रेफ हो और ट, ठ, ड, ढ, श, ष, हो ऐसी अक्षरों की योजना ओज की व्यञ्जक होती है। इसी प्रकार लम्बे लम्बे समास वाले उद्धत वाक्य ओज के द्योतक होते हैं।

कुलपति मिश्र ने ओज का इस प्रकार उदाहरण दिया है:—

चंद्रभान वंस को प्रचंड तेज मंडन हौं
आयौ खल खंडन को पैज ही बढ़ाय कै।
धौंसा की धकार धाक धौंकल धरा में
सुनि आय वेध्यौ वारिधर गहे पाँय धाय कै॥
राम रण रंग में बच्यो न कोऊ रावन रे
अजहूँ सम्हारि निज वीर ही जगाय कै।
कोट कोट कूक पारि कूटि कै कपाटन कों
लूट लैहौं लंक दैहौं गर्दनि ठहाय कै॥

ओज-गुण-पूर्ण कविताओं के भूषण से अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

"गत बल खान दलेल हुअ, खानबहादुर मुद्ध;
सिव सरजा सलहेरि ढ़िग, क्रुद्धद्धरि किय जुद्ध।
क्रुद्धद्धरि किय जुद्धद्धरि अरि अद्धद्धरि करि;
मुँडड्डरि तहँ डुडड्डुकरत रुंडड्डग भरि।
खेदिद्दरबर छेदिद्दय करि मेदद्दधिदल;
जंगग्गति सुनि रंगग्गलि अवरंगग्गत बल॥"

प्रसाद-गुण का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दस्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः"

अर्थात् जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि तुरन्त ही व्याप्त हो जाती है, इसी प्रकार जो रचना चित्त में शीघ्र ही व्याप्त हो जाती है वह प्रसाद गुण से युक्त कहलाती है। यह रस सम्पूर्ण रसों और रचनाओं में हो सकता है।

जिन पदों द्वारा सुनते ही अर्थ प्रतीत हो जाय वह सरल सुबोध पद प्रसाद गुण के व्यञ्जक होते हैं। प्रसाद-गुण का इस प्रकार उदाहरण दिया जाता है:—

मानस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

× × × ×

तन मन जिस पै मैं वारती थी सदैव,
वह गहन वनों में जायगा हाय दैव।

× × × ×

खल पतित अभागे प्राण जाते नहीं क्यों?
रह कर तन में वे हैं लजाते नहीं क्यों?

× × × ×

पल पल भर में ही थी उसे देख लेती,
उस पर अपना मैं वार सर्वस्व देती।

× × × ×

इन गुणों के अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों ने दस और गुण माने हैं। वह इस प्रकार हैं:—

अर्थ श्लेष, प्रसाद, सम, मधुरभाव, सुकुमार।
अर्थव्यक्ति, सुसमाधि अरु, कान्ति सुओज, उदार॥

१. श्लेषः—एक से शब्द जहाँ कई अर्थों में आते हैं तो उसे श्लेष कहते हैं।

२. प्रसादः—जहाँ पर भाव शीघ्र ही मन को व्याप्त कर लेता है वहाँ प्रसाद गुण समझा जावे।

३. समताः—जिस रूप में रचना का आरम्भ हो उसी रूप में रचना की समाप्ति करना समतागुण कहलाता है।

४. मधुरः—जहाँ पर छोटे छोटे पृथक् पद होते हैं वहाँ पर माधुर्य्य-गुण माना जाता है।

५. सुकुमारता का भावः—"दुश्रवत्व" दोष के परित्याग को सुकुमारता कहते हैं।

६. अर्थव्यक्तिः—पदों का शीघ्र ही अर्थ को व्यक्त कर देना अर्थव्यक्ति है।

७. समाधिः—उतार चढ़ाव के उचित क्रम को समाधि कहते हैं।

८. कान्तिः—ग्राम्य दोष का अभाव कान्ति कहलाता है।

९. ओजः—पदों का साभिप्राय होना ओज कहलाता है।

१०. उदारः—जो देखने में कठिन लगे किन्तु अन्वयादि से सहल हो जाय उसे उदारता कहते हैं।

भिखारीदास जी ने इन दसों गुणों को तीन गुणों के अन्तर्गत करते हुए इन का रसों से इस प्रकार सम्बन्ध बतलाया है:—

माधुर्य-गुण

"श्लेषोमध्य समास को, समता कान्ति बिचारि।
लीन्हें गुन माधुर्य जुत, करुना हास सिंगार॥"

ओज-गुण

"श्लेष समाधि उदारता, सिथिल ओज गुन रीति।
रुद्र भयानक वीर अरु, रस बिभत्स सों प्रीति॥"

प्रसाद-गुण

"अल्प समास समास-बिन, अर्थव्यक्त गुन मूल।
सो प्रसाद गुन वर्न सब, सब गुन सब रस तूल॥"

उपरोक्त क्रम से इन गुणों का ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों में समावेश किया जा सकता है। गुणों के साथ ही रीति का भी प्रश्न लगा हुआ है। रीति को काव्य शरीर की संगठन-विधि कहा जा सकता है। साहित्य-दर्पण में लिखा है —

"पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा॥"

पदों के मेल वा संगठन को रीति कहते हैं। काव्य में रीति का स्थान अंगसंस्थान की भाँति है। यह काव्य की आत्मा रस की उपकारक होती है। जिस प्रकार स्वस्थ एवं सुसंगठित शरीर आत्मा के हर्ष का कारण होता है उसी प्रकार रीति भी रस के उत्कर्ष का कारण होती है; जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के शरीरसंघटन से मनुष्य के गुण और चरित्र का पता मिलता है उसी प्रकार रीति से काव्य की आत्मा रस के गुणों का द्योतन होता है। यह रीति चार प्रकार की मानी गई है।

१ वैदर्भी, २ गौड़ी, ३ पाञ्चाली, ४ लाटी।

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

अर्थात् माधुर्य्यव्यञ्जक पूर्वोक्त वर्णों के द्वारा की हुई, समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त, मनोहर रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं ।

रुद्रट् ने इसका इस प्रकार लक्षण दिया है:—

"असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥

अर्थात् समास-रहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त, श्लेषादि गुणों से मण्डित एवं चवर्ग के बाहुल्य से युक्त अल्प-प्राण अक्षरों वाली सुन्दर वृत्ति "वैदर्भी" कहलाती है ।

गौडी की इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

"ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः । समासबहुला गौडी..."

अर्थात् ओज को द्योतन करने वाले कठिन वर्णों से बनाए हुए, अधिक समासों से युक्त उग्र निबन्ध को "गौडी" रीति कहते हैं । इसमें यमक, अनुप्रासादि अधिक आते हैं ।

पाञ्चाली का इस प्रकार लक्षण दिया गया है:—

"वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः । समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता"

अर्थात् ऊपर वर्णित दो रीतियों के जो बाकी वर्ण हैं, अर्थात् जो वर्ण न माधुर्य के द्योतक हैं न ओज के, उनसे जो रचना की जाय और जिसमें पाँच-छः पदों तक का समास हो वह रीति 'पाञ्चाली' कहलाती है ।

लाटी का लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

"लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।"

अर्थात् "वैदर्भी" तथा "पाञ्चाली" इन दोनों के बीच की अर्थात् दोनों के लक्षणों से कुछ-कुछ युक्त रीति को "लाटी" कहते हैं।

वृत्ति

वृत्तियाँ भी चार मानी गई हैं, वह इस प्रकार हैं—(१) कैशिकी, (२) सात्वती, (३) आरभटी और (४) भारती। इन चारों रसों के साथ इस प्रकार सम्बन्ध बतलाया गया है:—

> करुना हास सिंगार जुत, कैसकीहि उर आनि।
> हास बीर सिंगार जुत, भारतीहि पहिचानि॥
> रौद्र विभत्स भयानकहि, आरतीहि विचारि।
> अद्भुत सांत सिंगार जुत, बीर सात्विकी चारि॥

साहित्य-दर्पणकार ने इन वृत्तियों का इस प्रकार वर्णन किया है:—

> श्रृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
> रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥
> चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वं नाटस्य मातृकाः।
> स्युर्नायकादि व्यापारविशेषा नाटकादिषु॥

श्रृंगार रस में, विशेषतः कैशिकी वृत्ति और वीर, रौद्र तथा बीभत्स रस में सात्वती और आरभटी वृत्ति काम में आती है; किन्तु भारती वृत्ति सब स्थानों में उपयुक्त है। ये चार वृत्तियाँ सम्पूर्ण नाट्य की अङ्गमय हैं। नायक नायिका आदि के व्यापार-विशेष को नाटकादि में वृत्ति कहते हैं। रीति और वृत्ति में यह भेद है कि रीति विशेष देश की रचना-शैली से सम्बन्ध रखती

है और वृत्तियाँ नाटकों के विषय और पात्रों से। साहित्य-दर्पण-कार ने इनके इस प्रकार लक्षण बतलाए हैं:—

कैशिकी:—

या श्लक्ष्णेनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता॥

अर्थात् जो उत्तम नेपथ्य (नायकादि की वेशरचना) से विशेष चमत्कारिणी हो, स्त्रीगणों से व्याप्त हो एवं नृत्य-गीतादि से परिपूर्ण हो और जिसका उपचार कामसुखोपभोग का उत्पादक हो अर्थात् जिससे श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति होती हो, वह रमणीक विलासयुक्त वृत्ति कैशिकी कहलाती है।

सात्विकी का लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

सात्वती बहुला सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
सहर्षा क्षुद्रश्रृंगारा विशोका साद्भुता तथा॥

अर्थात् बल, शूरता, दान, दया, ऋजुता और हर्ष से युक्त; थोड़े श्रृंगार से मिला हुआ, शोकरहित, अद्भुत रस से व्याप्त वृत्ति को सात्वती कहते हैं।

आरभटी का लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता॥

अर्थात् माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि तथा वध एवं बन्धनादि चेष्टाओं से युक्त उद्धत वृत्ति को आरभटी कहते हैं।

भारती वृत्ति का इस प्रकार लक्षण दिया है:—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।

अर्थात् जिसमें संस्कृत का आधिक्य हो, वाग्व्यापारयुक्त जो नर के आश्रय हो—नारी के नहीं, उसे भारती कहते हैं। यह भरत मुनि की चलाई हुई होने से उनके नाम पर भारती कहलाती है।

रसों का, काव्य की आत्मा होने के कारण, सभी काव्याङ्गों से सम्बन्ध है। जो-जो बातें काव्य के उत्कर्ष का हेतु मानी गई हैं वह सब रस के बढ़ाने वाली हैं। छन्द और अलङ्कार सब ही रस के बढ़ाने वाले हैं। अलङ्कार तभी रस के घटाने वाले होते हैं जब ये बाहुल्य के कारण अस्वाभाविक हो जाते हैं। केवल अलङ्कारों के हेतु अलङ्कारों का प्रयोग करना रस का घातक होता है।

परिशिष्ट

रस-निष्पत्ति

रस के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जा चुका है; किंतु उसके सम्बन्ध में एक महत्त्व का प्रश्न रह जाता है। वह यह कि रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति कैसे और कहाँ होती है। यह तो बतला दिया गया कि 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। इसकी भरतमुनि ने और भी व्याख्या की है, और उसमें बतलाया है कि जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यञ्जनों तथा औषधियों से छः रस (मधुर-तिक्त-कषाय आदि) निकलते हैं उसी प्रकार नाना भावों (विभाव-अनुभावादिकों) से घिरे हुए अर्थात् मिले हुए स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। "यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्चषड्रसाः निर्वर्त्यन्ते, एवं नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति"। यह बतला देना वैसा ही है जैसे यह कह देना कि द्राक्षासव दाखों (मुनक्कों अथवा अंगूरों) से बनता है। जब तक उसके बनने की क्रिया न बतलाई जावे तब तक यह ज्ञान पूरा नहीं। यदि हम यह कह दें कि हलुआ घी-शक्कर-सूजी और पानी से बनता है तो हमको हलुए का पर्याप्त ज्ञान न होगा, जब तक यह न बतलाया जावे कि सूजी पहले कढ़ाई में भूनी जाती है, फिर उसमें शक्कर घोलकर डाली जाती है और फिर वह घोटने के कारण गाढ़ा हो जाता है। रस की निष्पत्ति की क्या क्रिया है, और उसकी कहाँ उत्पत्ति होती

है, इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों के कई मत हैं। संक्षेप से वे ही यहाँ बतलाए जाते हैं।

<u>भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद</u>—भट्टलोल्लट का मत है कि उचित उद्दीपन-सामग्री (जैसे पुष्प, चन्दन, चन्द्रज्योत्स्नादि) के साथ नायक-नायिकादि विभावों के मिलने से उत्पन्न हुआ स्थायी भाव (जैसे रति), व्यभिचारी भावों (जैसे हर्ष, मद आदि) से पुष्ट होकर और अनुभावों (जैसे स्वेद, कम्प आदि) से जाना जाकर जब परिपक्व होता है तब वह राम-सीता, दुष्यन्त-शकुन्तलादि नायक-नायिकाओं के मन में रस की उत्पत्ति करता है। रस मूल और वास्तविक रूप में अभिनय के विषय रामादि मूल नायकों में उत्पन्न होता है। इन मूल नायकों के वेशभूषा, आकृति आदि के अभिनय करने वाले नट में रस का आरोप किया जाता है। वह आरोपित रस जब दर्शकों को प्रतीत होता है तब वह उनके आनन्द का कारण होता है। इनके मत से रस के मूल आश्रय नायक-नायिका हैं। उसका आरोप नट में होता है। उस आरोपित रस की प्रतीति दर्शक के मन में आनन्द देती है। प्रेक्षक के हृदय में रस नहीं रहता वरन् उसका प्रतीतिजन्य आनन्द रहता है। यह मत मीमांसा-शास्त्र के अनुकूल है। इस मत में सबसे बड़ा दोष यह है कि हम दूसरे के मन में स्थित रस की प्रतीति कर (देख) नहीं सकते। रस देखा नहीं जाता, रस की स्वयं अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त हम रस को मूल आश्रय में मूल रूप से नहीं देखते हैं, वरन् नट में उसकी छाया वा आरोप देखते हैं। नट में रस नहीं रह सकता, वह तो पैसे के लिए खेलता है, और जिस अंश में उसको रस आता है वह दर्शक बन जाता है।

श्रीशंकुक का अनुमिति-वाद—यह मत न्याय-मत पर निर्भर है। इसके अनुकूल रस का अभिनेता नटों में अनुमान किया जाता है। दर्शक वेशभूषा, आकृति आदि द्वारा किये हुए कुशल अभिनय से अभिनेता नटों में नायकों के हृदय में रहने वाले रस का अनुमान करता है। वह नट को ही (चित्रतुरङ्ग-न्याय से, खिलौने या तस्वीर का घोड़ा वास्तविक घोड़ा न होता हुआ भी घोड़ा कहलाता है) नायक समझ लेता है। यह समझ लेना न सत्य ही है न झूठ ही है, वरन् एक प्रकार का सीपी में चाँदी के ज्ञान की भाँति विलक्षण ज्ञान है। यह बड़ा सुन्दर और सुखद है। यह अनुमित स्थायी भाव अपने अपूर्व सौन्दर्य के कारण (वस्तुसौन्दर्यवशात्) दर्शक के मन में रस हो जाता है। दर्शक भी उस समय अपना नायक से तादात्म्य कर लेता है। इस मत में नट और दर्शक दोनों का ही थोड़ा-थोड़ा प्राधान्य हो जाता है, यद्यपि वास्तविक रूप से रस दोनों में नहीं है तथापि दर्शक को नट में भावों के अनुमान से ही आनन्द आने लगता है। इसका कारण भावों का सौन्दर्य है। पहिले मत में दर्शक का बहुत गौण स्थान है। नट में अनुमित हुआ भाव सामाजिकों या दर्शकों के मन में चर्व्यमाण आस्वादित होकर रस हो जाता है।

इस मत में भी यह दोष है कि रस अनुमान का विषय नहीं। किसी वस्तु का अनुमान कर लेना और बात है और उसका अनुभव करना और बात है। आकारेङ्गित से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति प्रेम से प्रभावित है; किन्तु यह अनुमान प्रेम की अनुभूति नहीं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद—यह नायक रस की न उत्पत्ति

मानते हैं न प्रतिपत्ति और न अभिव्यक्ति, अर्थात् रस दर्शकों के मन में नहीं उत्पन्न होता है, उत्पति तो भावादिकों की होती है, रस की नहीं। अगर दशरथ का वियोग देख हम में दशरथ के भावों की उत्पत्ति हो तो हम उसकी पुनरावृत्ति नहीं चाहेंगे। कोई शोक का निजी अनुभव बार बार नहीं चाहता। कोई यह नहीं चाहता कि उसका अपने पुत्र वा पुत्री से वियोग हो, रस तो आनन्द-स्वरूप है; रस देखा नहीं जाता है। दूसरे की अनुभूति को हम अपनी अनुभूति नहीं बना सकते। राम-सीता के परस्पर दर्शन से जो उनमें रति उत्पन्न होती है वह राम सीता की ही रति है। उसके अनुकरण देखने से हमारे मन में वह भाव नहीं उत्पन्न हो सकता। बहुत से ऐसे भाव हैं, जैसे समुद्रलंघन आदि, जिनका हम स्वयं अनुभव भी नहीं कर सकते हैं, न रस की अभिव्यक्ति ही होती है अर्थात् वह ऐसा चीज नहीं जो पहले से शक्तिरूप में वर्तमान हो और पीछे उसका उदय हो जावे। जिन भावों का उदय होगा वे हमारे व्यक्तिगत भाव ही होंगे और वे अभिनय के भावों से भिन्न होंगे।

भट्टनायक का अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत अनुभवों में रस नहीं। व्यक्ति के अनुभवों में थोड़ा संकोच होता है। वह व्यापक और सार्वजनिक आनन्द नहीं दे सकता है। काव्य में ही कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं जो व्यापक आनन्द को उत्पन्न करती हैं। वह शक्तियाँ तीन हैं—(१) अभिधा, (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व। अभिधा से केवल शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है; किन्तु अभिधा मात्र काव्य नहीं। काव्य में अभिधा से अधिक कुछ और रहता है, वह है भावकत्व और भोजकत्व। भाव-

कत्व साधारणीकरण (Generalization) को कहते हैं (द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण)। काव्य में व्यक्ति का वर्णन अवश्य होता है; किन्तु वह वर्णन इस भावकत्व साधारणीकरण व्यापार से व्यक्ति-सम्बन्धी नहीं रहता। दुष्यन्त और शकुन्तला, दुष्यन्त और शकुन्तला नहीं रहते; वरन् साधारण नायक और नायिका हो जाते हैं। उनकी रति वा प्रेम साधारण रति वा प्रेम हो जाता है जिसका सब आनन्द ले सकते हैं। यहीं पर भोजकत्व (भोग करना, आनन्द लेना) व्यापार आ जाता है। यह आनन्द सतोगुण के उद्रेक से होता है। सतोगुण के ही प्राधान्य के कारण यह अलौकिक हो जाता है और इसमें ब्रह्मानन्द का सा आनन्द आने लगता है।

इस मत के विरुद्ध जो आपत्ति उठाई गई है, वह यह है कि काव्य की भावकत्व और भोजकत्व वृत्तियों का कहीं प्रमाण नहीं मिलता है। और, जो काम भावकत्व और भोजकत्व से चलता है वह ध्वनि और व्यञ्जना से हो सकता है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद। भट्टनायक के मत पर उपर्युक्त आक्षेप करते हुए अभिनवगुप्त ने अपना अभिव्यक्तिवाद चलाया है। जो वस्तु पहिले से गुप्त रूप से वर्तमान हो उसका प्रकट हो जाना अभिव्यक्ति कहलाती है। सहृदय दर्शकों वा पाठकों में कुछ भाव वासना वा संस्कार रूप से रहते हैं। ये वासनाएँ सांसारिक अनुभव, पूर्व-जन्म तथा अभ्यास, पठन पाठन आदि द्वारा बन जाती हैं। नाटक में कुशल ये के अभिनय से अथवा काव्यादि के पाठ से यह गुप्त वासनामय भाव प्रकट हो जाते हैं और दूसरे भावों से मिलकर इसमें परिणत हो

जाते हैं। इस समय चित्त की एकाग्रता के कारण सतोगुण का प्राधान्य रहता है। आत्मा का स्वप्रकाश व स्वाभाविक आनन्द झलकने लगता है। रस के अनुभव में व्यक्तिता नहीं रहती है, वह एक साधारण अनुभव—जो सब सहृदय सज्जनों को हो सकता है—बन जाता है। भाव व्यक्तिगत होते हैं; रस में व्यक्तिता नहीं होती, वह अलौकिक और विलक्षण है। यद्यपि वह लौकिक भावों ही से परिपक्व होकर बनता है तथापि वह भयानक रस की भाँति मिरच-शक्कर-खटाई आदि सामग्री के गुणों से विलक्षण एक अलौकिक पदार्थ बन जाता है।

अभिनवगुप्त और भट्टनायक के मत में भेद होते हुए भी दो बातों की समानता है। दोनों ही आचार्य काव्यानुभव में व्यक्तिता का अभाव मानते हैं और दोनों ही इस अनुभव में सतोगुण का प्राधान्य मानकर इसको ब्रह्मानन्द से तुलना देते हैं। भेद इस बात का है कि अभिनवगुप्त भावकत्व और भोजकत्व के स्थान में व्यञ्जना और ध्वनि मानते हैं। दूसरा भेद यह है। भट्टनायक के मत से काव्य व्यापकता धारण कर भुक्ति आनन्द का कारण बन जाता है। अभिनवगुप्त दर्शक में पहिले से स्थायी भावों के संस्कार मानते हैं। काव्य का पाठ या नाटक देखना उन गुप्त भावों को उद्दीप्त कर प्रकाश में ला देता है।

प्रायः आचार्यगण अभिनवगुप्त का ही मत मानते हैं; साहित्यदर्पण के कर्त्ता आचार्य विश्वनाथ, जिनके मत के अनुकूल पुस्तक के आदि में इसका वर्णन किया गया है, इसी मत को मानते हैं।